पुरुषार्थसिद्ध्युपायः

हिन्दीभाषा अर्थसहित

जिसको

जैन सिद्धान्त प्रचारक मण्डली देवबन्द की तरफ़ से
बाबू सूरजभानु वकील देवबन्द ज़िला
सहारनपुर ने प्रकाशित किया।

मूल्य चार आना

काशी

चन्द्रप्रभा यन्त्रालय में गौरीशङ्कर लाल मेनेजर के प्रबन्ध से छपा
बाबू सूरजभानु वकील ने छपवाया।

सन् १९०९ ईस्वी।

॥ श्रीसर्वज्ञाय नमः ॥

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

श्रीमदमृतचन्द्रसूरिकृत

प्रथम अध्याय

मङ्गलाचरण

तज्जयतिपरंज्योतिः समंसमस्तैरनन्तपर्यायैः ।

दर्पणतलइवसकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥ १ ॥

अर्थ-वह परम ज्योती जयवन्त रहै जिस में सर्व पदार्थ समस्त अनन्त पर्यायों सहित दर्पण के समान झलकते हैं—

परमागमस्यजीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।

सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥ २ ॥

अर्थ-मैं अनेकान्त को अर्थात् एक पक्ष रहित स्याद्वाद को नमस्कार करता हूं जो परमागम अर्थात् सत्यसिद्धान्त की जान है, जो जन्म के अन्धों के हस्ति विधान को दूर करने वाला है, जो सर्व प्रकार की नय से प्रकाशित है और विरोध दूर करनेवाला है ॥ भावार्थ-कहावत प्रसिद्ध है कि कई पुरुषों ने जो जन्म से ही अन्धे थे एक हाथी को हाथ से छूकर देखा, जिसने कान को छूआ उसने हाथी को छाजसा बताया, जिसने टांग को हाथ लगाया उसने खंभ सा कहा, इत्यादिक सबने हाथी का रूप भिन्न २ समझा ॥ इसही प्रकार कोई मनुष्य वस्तु की एक अवस्था को देख कर उस वस्तु को उसही रूप समझने लगता है। और दूसरा मनुष्य दूसरी अवस्था को देखता है। और वस्तु को उसही रूप समझ जाता है इससे ही आपुस में विरोध हो रहा है ॥ इस विरोध को दूर करनेवाला अनेकान्त है जो वस्तु की सर्व अवस्थाओं को जांचता है ॥ इसही को स्याद्वाद कहते हैं और यह महिमा श्रीजिनवाणी ही में हैं जिसको आचार्य नमस्कार करते हैं—

उत्थानिका

लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन ।

अस्माभिरूपोद्ध्रियते विदुषां पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥ ३ ॥

अर्थ- ऐसे परमागम को अर्थात् शास्त्र को जो तीन लोक का अद्वितीय नेत्र है प्रयत्न से निरूपण करके विद्वानों के अर्थ हमारे द्वारा यह पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ग्रन्थ उद्धार किया जाता है—

मुख्योपचारविवरण निरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः ।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्त्तयन्ते जगति तीर्थम् ।। ४ ।।

अर्थ—जगत में धर्म तीर्थ को वह चलाते हैं जो निश्चय व्यवहार को जानने वाले हैं और जिन्हों ने मुख्य और उपचार कथन को वर्णन करके शिष्यों के कठिनता से दूर होने वाले अज्ञानभाव को दूर कर दिया है—

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्य भूतार्थम् ।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ।। ५ ।।

अर्थ-निश्चय को भूतार्थ और व्यवहार को अभूतार्थ कहते हैं, बहुधा कर सर्वही संसार भूतार्थ के बोध से विमुख है ।

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्य भूतार्थम् ।
व्यवहार मेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ।। ६ ।।

अर्थ—अज्ञानी जीवों के समझाने के वास्ते मुनीश्वर अभूतार्थ अर्थात व्यवहार का उपदेश करते हैं, जो केवल व्यवहार को ही जानता है उसका उपदेश नहीं है । भावार्थ—वह उपदेश देने योग्य नहीं है—

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य ।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ।। ७ ।।

अर्थ —जैसे सिंह को न जानने वाला बिल्ली ही को सिंह मानै इसही प्रकार निश्चय को न जानने वाले को व्यवहार ही निश्चय रूप होता है, अर्थात वह व्यवहार को ही असली बात समझता है—

व्यवहार निश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ।। ८ ।।

अर्थ—वह ही शिष्य उपदेश के सम्पूर्ण फल को प्राप्त होता है जो व्यवहार और निश्चय को वस्तु स्वरूप के द्वारा यथार्थ जान कर मध्यस्थ अर्थात पक्षपात रहित हो जाता है--

ग्रन्थ प्रारम्भ

जीवात्मा और कर्म

अस्तिपुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्श गन्धरस वर्णैः ।
गुण पर्यय समवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ।। ९ ।।

अर्थ—जीवात्मा चेतना स्वरूप है, स्पर्श रस गन्ध और वर्ण से रहित है, गुण पर्याय सहित है, उत्पाद व्यय और ध्रौव्य वाला है॥ भावार्थ—किसी पर्याय के पैदा होने को उत्पाद, नाश होने को व्यय और स्थिति को ध्रुव कहते हैं—

परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्तैरनादिसन्तत्या।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च ॥१०॥

अर्थ—अनादि काल से जीव के ज्ञान पर परदा पड़ा हुवा है, इसही अज्ञान अवस्था में वह परिणमता रहता है अर्थात् अवस्था बदलता रहता है—इसही से अपने परिणामों का कर्त्ता भी है और भोक्ता भी है—

सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।
भवति तदा कृत कृत्यः सम्यक् पुरुषार्थ सिद्धिमापन्नः ॥११॥

अर्थ—जब वह जीवात्मा ठीक २ पुरुषार्थ की सिद्धि को प्राप्त होकर और सर्व बिभावों से पार होकर अचल चैतन्य स्वरूप को पाता है। तब कृत कृत्य हो जाता है—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्यपुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥

अर्थ—जीव के किये हुये परिणामों के निमित्त से स्वयमेवही पुद्गल परमाणु कर्म रूप हो जाते हैं—

परिणममानस्यचितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवतिहि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्मतस्यापि ॥१३॥

अर्थ—जीव अपने चेतना स्वरूप भावों से स्वयं परिणमता है, पुद्गल कर्म उस परिणाम के निमित्त मात्र हैं॥ भावार्थ—पुद्गल कर्मों से रागादिक भाव होते हैं और रागादिक भावों से पुद्गल कर्म होते हैं—

एवमयं कर्मकृतै भार्वैरसमाहितोऽपि युक्तइव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम् ॥१४॥

अर्थ—इस प्रकार यह आत्मा कर्मों के किये हुए भावों से भिन्न होने पर भी कमती ज्ञान वालों को रागादि भावों से युक्तही मालूम होता है और ऐसा समझनाही संसार का बीज है—

मुनि और श्रावक् धर्म के उपदेश का सिलसला।

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥१५॥

अर्थ—उल्टे श्रद्धान को दूर करके अपनी आत्मा के स्वरूप को ठीक२ जान कर उसमें स्थिर होनाही पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय है—

अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचार नित्यनिरभिमुखा ।
एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकीवृत्तिः ॥१६॥

अर्थ—इस पदवी को प्राप्त हुए मुनियों की वृत्ति पाप क्रियाओं से दूर और पर पदार्थों से उदासनिरूप लोक प्रचार से विलक्षण ही होती है—

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति ।
तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन ॥१७॥

अर्थ—जो जीव बार बार समझाने पर भी महाव्रत को न ग्रहण करै उसको अनुव्रत का उपदेश होना चाहिये—

योयतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्म मल्पमतिः ।
तस्यभगवत्प्रचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥१८॥

अर्थ—जो तुच्छबुद्धि पहले मुनिधर्म को उपदेश न देकर श्रावक धर्म को उपदेश करता है उसको श्रीभगवान् ने दण्डयोग्य बताया है—

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्साहमानोऽति दूरमपिशिष्यः ।
अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवतितेन दुर्मतिना ॥१९॥

अर्थ—क्योंकि उस दुर्बुद्धि के बेसिलसिले उपदेश से जो शिष्य अति उत्साहित हुवा ऊपर के दर्जे को ग्रहण करना चाहता है वह भी ठगा जाकर नीचेही दर्जे में रह जाता है—

सम्यक् दर्शन

एवं सम्यग्दर्शन बोध चरित्र त्रयात्मको नित्यम् ।
तस्यापि मोक्ष मार्गो भवति निषेव्यो यथा शक्ति ॥२०॥

अर्थ—गृहस्थी श्रावक को भी यथा शक्ति सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान सम्यक् चारित्ररूप मोक्षमार्ग को आगे कहे अनुसार सदा सेवन करना चाहिये—

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयम खिलयत्नेन ।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥२१॥

अर्थ—दर्शन ज्ञान चारित्र इनतीनों में से पहले सम्यक् दर्शन को अनेक उपायों से भले प्रकार अंगीकार करना चाहिये। क्योंकि सम्यक् दर्शन के होते हुए ही सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र हो सक्ता है—

जीवा जीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम् ।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्म रूपं तत् ॥२२॥

अर्थ—उल्टे रूप जानने से रहित हो कर जीव अजीव आदि तत्वार्थ का ही सदा श्रद्धान रखना उचित है यह ही श्रद्धान आत्मा का स्वरूप है—

सम्यक्त्व के आठ अंगों का वर्णन—१ निःशङ्कित

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तु जातमखिलज्ञैः।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शङ्केति कर्त्तव्या ॥२३॥

अर्थ—सर्वज्ञों ने समस्त पदार्थों को अनेकान्त स्वरूप कहा है अर्थात् यह कहा है कि प्रत्येक वस्तु में अनेक प्रकार के स्वभाव होते हैं, सर्वज्ञ वाक्य में यह शंका नहीं करनी चाहिये कि यह बात सत्य है वा झूठ है—

२ निःकाङ्क्षित

इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।
एकान्त वाद दूषित परसमयानपि च नाकाङ्क्षेत् ॥२४॥

अर्थ—इस जन्म के वास्ते ऐश्वर्य्य सम्पदा आदिक की चाह और जन्मान्तर के वास्ते चक्रवर्ती नारायण आदि पदवी की चाह और ऐसे धर्म की चाह जो एकान्त वाद से दूषित है नहीं करनी चाहिये—

३ निर्विचिकित्सा

क्षुत्तृष्णा शीतोष्ण प्रभृतिषु नाना विधेषु भावेषु।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥२५॥

अर्थ—भूख प्यास सर्दी गर्मी आदिक नाना प्रकार के भावों में और विष्टा आदिक पदार्थों में ग्लानि नहीं करनी चाहिये—

४ अमूढ़ दृष्टित्व

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवता भासे।
नित्यमपि तत्त्व रुचिना कर्तव्यममूढ दृष्टित्वम् ॥२६॥

अर्थ—लोक प्रचार में, उन शास्त्रों में जो शास्त्र नहीं हैं और शास्त्र के समान मालूम होते हैं, उस धर्म में जो धर्म नहीं है और धर्म सा मालूम होता है, उस देवता में जो देवता नहीं है और देवता सा मालूम होता है सम्यक्दृष्टी पुरुषों की मूढ़दृष्टि नहीं होनी चाहिये अर्थात् आंख मीचकर नहीं मानना चाहिये सदा जांच करते रहना चाहिये—

५ उपगूहन

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ॥२७॥

अर्थ– उपबृंहण नामा गुण के वास्ते क्षमा आदि भावों के द्वारा सदा अपनी आत्मा के धर्म को बढ़ाना चाहिये और अन्य पुरुषों के दोषों को भी गुप्त रखना चाहिये—

६ स्थिति करण

काम क्रोध मदादिषु चलयितु मुदितेषुवर्त्मनो न्यायात् ।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्यास्थितिकरण मपिकार्यम् ॥२८॥

अर्थ—काम क्रोध मद आदि भावों के होने पर धर्ममार्ग से गिरते हुए अपने आप को और अन्यपुरुषों को अनेक युक्तियों से स्थिर करना चाहिये—

७ वात्सल्य

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे ।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालंव्यम् ॥२९॥

अर्थ—जैनधर्म में जो मोक्षसुख की सम्पदा का कारण है और अहिंसा में और सब धर्मात्मा पुरुषों में सदा परम प्रीति रखनी चाहिये—

८ प्रभावना

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सतत मेव ।
दान तपो जिनपूजा विद्याति शयैश्च जिन धर्मः ॥३०॥

अर्थ--सदाही रत्नत्रय अर्थात् सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की रोशनी से अपनी आत्मा को प्रकाशित करना चाहिये और दान, तप, भगवान् की पूजा और विद्याभ्यास आदि चमत्कारों से जैनधर्म की प्रभावना करनी चाहिये—

—— :0: ——

दूसरा अध्याय

सम्यक् ज्ञान

इत्याश्रित सम्यक्त्वैः सम्यग्ज्ञानं निरूप्य यत्नेन ।
आम्नाययुक्तियोगैः समुपास्यं नित्यमात्म हितैः ॥३१॥

अर्थ—इस प्रकार जो सम्यक् दृष्टी हैं उन आत्मा के हितकारी पुरुषों को सदा यत्न के साथ जिनआगम और प्रमाणनय के अनुयोगों द्वारा विचार करके सम्यक् ज्ञान को सेवन करना चाहिये—

पृथ गाराधन मिष्टं दर्शन सह भाविनोपि बोधस्य ।
लक्षण भेदेन यतो नानात्वं सम्भवत्यनयोः ॥३२॥

अर्थ—सम्यक् दर्शन और सम्यक ज्ञान दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं तो भी सम्यक ज्ञान को अलगही अराधन करना ठीक है क्योंकि इन दोनों में लक्षण के भेद से भिन्नता है—

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्तिजिनाः ।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥३३॥

अर्थ—श्रीजिनेन्द्रदेव सम्यक ज्ञान को कार्य और सम्यक दर्शन को कारण बताते हैं इस हेतु सम्यक दर्शन के पीछेही सम्यक ज्ञान का आराधन करना ठीक है—

कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपिहि ।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम् ॥३४॥

अर्थ—सम्यक दर्शन और सम्यक ज्ञान के एकही काल में उत्पन्न होने पर भी दीवे की बत्ती की लौ और प्रकाश के समान कारण और कार्य-पना है—

कर्त्तव्योध्यवसायः सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु ।
संशयविपर्य्ययानध्यवसाय विविक्तमात्मरूपंतत् ॥३५॥

अर्थ—द्रव्यों को जो अनेकान्त रूप हैं अनेक स्वभाव वाले हैं जानना चाहिये यह जानपना अर्थात् सम्यक् ज्ञान संशय विपर्यय और विमोह से रहित होने से आत्मा का निज स्वरूप है—

ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेनसोपधानं च ।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यम् ॥३६॥

अर्थ—ग्रन्थरूप (शब्दरूप) अर्थरूप और दोनों रूप अर्थात् शब्द अर्थ रूप शुद्धता से परिपूर्ण अध्ययन काल में विनय सहित और सन्मान सहित धारणा युक्त गुरू के नाम को न छिपा कर ज्ञान का आराधन करना चाहिये-

—:o:—

तीसरा अध्याय

सम्यक् चारित्र

विगलितदर्शनमोहैः समञ्जसज्ञानविदित तत्त्वार्थैः ।
नित्यमपि निःष्पप्रकम्पैः सम्यक् चारित्रमालम्ब्यम् ॥३७॥

अर्थ—जिन्होंने दर्शन मोह को नष्ट कर दिया है और सम्यक्ज्ञान से जिनको तत्वार्थ विदित हो गया है जो सदा स्थिरचित्त हैं उनको सम्यक्-चारित्र ग्रहण करना चाहिये—

नहिसम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकंलभ्यते ।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ॥३८॥

अर्थ--जो चारित्र अज्ञान पूर्वक है वह सम्यक् चारित्र नहीं कहलाता है इस हेतु सम्यक्ज्ञान के पश्चात् ही सम्यक्चारित्र को आराधन करना कहा है—

चारित्रं भवतियतः समस्तसावद्ययोग परिहरणात् ।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीन मात्मरूपंतत् ॥३९॥

अर्थ—क्योंकि समस्त पापरूप मन वचन काय के योगों के त्याग से और सम्पूर्ण कषायों के छोड़ने से जो निर्मल और उदासीनरूप चारित्र होता है वह ही चारित्र आत्मा का स्वरूप है—

हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः ।
कात्स्न्यैंकदेशविरतेश्चारित्रं जायतेद्विविधम् ॥४०॥

अर्थ—हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, और परिग्रह को सर्व देश और एकदेश त्यागने से चारित्र दो प्रकार का होता है—

निरतः कात्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम् ।
यात्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥४१॥

अर्थ—सर्वदेश त्याग में लगा हुवा शुद्धोपयोगरूप अपने स्वरूप में आचरण करने वाला मुनि होता है और जो देशविरति है वह उपासक अर्थात् श्रावक है—

हिंसा

आत्मपरिणामहिंसन हेतुत्वात्सर्वमेवहिंसैतत् ।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतंशिष्यबोधाय ॥४२॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए पांचो पापों से आत्मा के परिणामों का घात होता है इस हेतु वह सब पाप हिंसा ही है, असत्य, चोरी आदि भेद शिष्यों के समझाने के वास्ते केवल उदाहरण मात्र ही कहे गये हैं—

यत्खलुकषाययोगात् प्राणानां द्रव्य भाव रूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥४३॥

अर्थ--कषाय रूप परिणमन हुए मन वचन काय के योगों से जो द्रव्य-प्राणों और भावप्राणों का घात करना है निश्चय से वह हिंसा होती है—

अप्रादुर्भावःखलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्ति र्हिंसेति जिनागमस्यसंक्षेपः ॥४४॥

अर्थ—रागादिक भावों का प्रगट न होना अहिंसा है और रागादिक का उत्पन्न होना हिंसा है यह ही जैनशास्त्र का सार है—

युक्ताचरणस्यसतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि ।
नहिभवतिजातुहिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥४५॥

अर्थ—योग्य आचरण करने वाले सन्तपुरुषों को रागादि भाव के उत्पन्न होने बिदून केवल प्राणपीड़ा से कदाचित भी हिंसा नहीं होती है--

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम् ।
म्रियतां जीवोमावा धावत्यग्रेध्रुवंहिंसा ॥४६॥

अर्थ—रागादिक भावों के वशीभूत अयत्नाचाररूप प्रमाद अवस्था में हिंसा आगे २ दौड़ती है अर्थात् अवश्य होती है चाहे कोई जीव मरो वा मत मरो—

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणान्तु ॥४७॥

अर्थ—क्योंकि कषाय होतेही जीव पहले आपही अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप का घात करता है फिर पीछे अन्य किसी जीव का घात हो वा न हो-

हिंसायामविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवतिहिंसा ।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥४८॥

अर्थ—हिंसा को त्याग न करना भी हिंसा है और हिंसारूपप्रवृत्ति करना भी हिंसा है इस हेतु प्रमादयोग में सदा प्राणघात का सद्भाव है--

सूक्ष्मापिनखलुहिंसा परवस्तुनिबन्धना भवतिपुंसः ।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धयेतदपिकार्या ॥४९॥

अर्थ—पर वस्तु के सम्बन्ध से निश्चय कर सूक्ष्म हिंसा भी जीव को नहीं होती है क्योंकि हिंसा तो अपनीही आत्मा में रागादिक भावों के उत्पन्न होने का नाम है तो भी परिणामों की विशुद्धता के लिये हिंसा के स्थानों को त्याग करना चाहिये। भावार्थ-रागादि भाव परिग्रह से ही होते हैं इस कारण सर्व पर वस्तुओं का त्याग करना चाहिये—

निश्चयमबुद्ध्यमानो योनिश्चयतस्तमेव संश्रयते ।
नाशयतिकरणचरणं सबहिःकरणालसो बालः ॥५०॥

अर्थ—जो निश्चय के स्वरूप को न जानकर निश्चय को ही अङ्गीकार करता है वह मूर्ख बाह्यक्रिया में आलसी है और क्रिया आचरण को नष्ट करता है—

अविधायापिहिहिंसा हिंसाफलभाजनं भवत्येकः ।
कृत्वाप्यपरोहिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥५१॥

अर्थ—कोई जीव हिंसा को न करके भी हिंसा के फल का भोगनेवाला होता है और कोई जीव हिंसा करके भी हिंसा के फल को भोगनेवाला नहीं होता है—

एकस्याल्पाहिंसा ददातिकालेफलमनल्पम् ।
अन्यस्यमहाहिंसा स्वल्पफलाभवतिपरिपाके ॥५२॥

अर्थ—एक जीव को थोडीही हिंसा उदयकाल में अधिक फल के देनेवाली होती है और दूसरे जीव को बडी भारी हिंसा भी उदयकाल में थोड़ेही फल को देनेवाली होती है—

एकस्यसैवतीव्रं दिशतिफलंसैवमन्दमन्यस्य ।
व्रजतिसहकारिणोरपि हिंसावैचित्र्यमत्रफलकाले ॥५३॥

अर्थ—एक साथ मिलकर भी की हुई हिंसा उदयकाल में विचित्रता को प्राप्त होती है। एक को वहही हिंसा अधिकफल देती है और दूसरे को वहही हिंसा कमती फल देती है—

प्रागेवफलतिहिंसा ऽक्रियमाणाफलति फलति च कृतापि ।
आरभ्यकर्तुमकृतापि फलतिहिंसानुभावेन ॥५४॥

अर्थ—कोई हिंसा पहलेही फलती है, कोई करते समयही फलती है, कोई कर चुकने परही फल देती है और कोई हिंसा आरम्भ करके न करने पर भी फल देती है॥ सारांश यह कि हिंसा कषाय भावों के अनुसारही फलती है—

एकःकरोतिहिंसां भवन्तिफलभागिनोबहवः ।
बहवोविदधतिहिंसां हिंसाफलभुग्भवत्येकः ॥५५॥

अर्थ—हिंसा कोई एक पुरुष करता है परन्तु उस हिंसा का फल भोगने के भागी बहुत पुरुष होते हैं॥ किसी हिंसा को बहुत पुरुष करते हैं, और हिंसा के फल को एकही पुरुष भोगता है—

कस्यापिदिशतिहिंसा हिंसाफलमेकमेवफलकाले ।
अन्यस्यसैवहिंसा दिशत्यहिंसाफलंविपुलम् ॥५६॥

अर्थ—फल देने के काल में किसी पुरुष को तो हिंसा एक हिंसा के फल कोही देती है और किसी पुरुष को वहही हिंसा बहुत से अहिंसा के फल को देती है—

हिंसाफलमपरस्यतु ददात्यहिंसा तु परिणामे ।
इतरस्यपुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत् ॥५७॥

अर्थ—इसही प्रकार किसी को अहिंसा भी उदयकाल में हिंसा के फल को देती है और किसी को हिंसा भी अहिंसा केही फल को देती है—

इतिविविधिभङ्गगहने सुदुस्तरेमार्गमूढदृष्टीनाम् ।
गुरवोभवन्तिशरणं प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः ॥५८॥

अर्थ—इस प्रकार अत्यन्त कठिन नानाप्रकार भङ्गरूप गहन बन में रास्ता भूले हुए पुरुषों को अनेक प्रकार की नय के जाननेवाले श्रीगुरुही शरण होते हैं—

अत्यन्तनिशितधारं दुरासदंजिनवरस्य नयचक्रम् ।
खण्डयतिधार्यमाणं मूर्धानंझटिति दुर्विदग्धानाम् ॥५९॥

अर्थ—श्रीजिनेन्द्रभगवान का अतितीक्ष्ण धारवाला और कठिनता से सिद्ध होनेवाला नयचक्र यदि उसको अज्ञानी पुरुष धारण करैं तो वह उनके मस्तक को शीघ्रही खण्डन कर देता है। अर्थात् जैनमत के नयभेद को समझना बहुत कठिन है, जो कोई मूढपुरुष बिन समझे नय चक्र में प्रवेश करते हैं वे लाभ के बदले हानि उठाते हैं—

अवबुध्यहिंस्यहिंसक हिंसाहिंसाफलानितत्त्वेन ।
नित्यमवगूहमानैः निजशक्त्यात्यज्यतांहिंसा ॥६०॥

अर्थ—कर्मों के आस्रव को रोकनेवाले पुरुषों को हिंस्य (वह जीव जिनकी हिंसा की जावै) हिंसक (हिंसा करनेवाला) हिंसा (घात करने की क्रिया) और हिंसा का फल इन चार बातों को यथार्थरूप जानकर अपनी शक्ति के अनुसार हिंसा का त्याग करना चाहिये—

आठमूल गुण

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानियत्नेन ।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥६१॥

अर्थ—जो हिंसा को छोड़ना चाहते हैं उनको प्रथमही यत्न के साथ शराब, मांस, शहद, और पांच उदम्बर फल त्याग देने चाहियें (यह आठ मूल गुण कहलाते हैं)

मदिरा

मद्यंमोहयतिमनो मोहितचित्तस्तु विस्मरतिधर्मम् ।
विस्मृतधर्माजीवो हिंसामविशङ्कमाचरति ॥६२॥

अर्थ—शराब मन को मोहित करती है और मोहितचित्त धर्म को भूल जाता है और धर्म को भूला हुवा पुरुष बेधड़क हिंसा करने लगता है—

रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यतेमद्यम् ।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम् ॥६३॥

अर्थ—शराब रस से उत्पन्न हुए बहुत से जीवों की खान भी कही जाती है इस कारण शराब पीनेवालों को उन जीवों की हिंसा अवश्य ही होती है—

अभिमानभयजुगुप्सा हास्यारति शोककामकोपाद्याः ।
हिंसायाः पापर्य्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः ॥६४॥

अर्थ—अभिमान, भय, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोध आदि जो हिंसा के रूप हैं वे सब ही शराब के निकट वर्त्ती हैं अर्थात् शराब पीने से यह सब उत्पन्न हो जाते हैं—

मांस

न विनाप्राणविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यतेयस्मात् ।
मांसंभजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिताहिंसा ॥६५॥

अर्थ—प्राण घात के बिना मांस की उत्पत्ति नहीं कही जाती है इस हेतु मांस खाने वाला हिंसा से नहीं बच सक्ता है उसको अवश्य हिंसा होती है—

यदपिकिलभवतिमांसं स्वयमेवमृतस्य महिषवृषभादेः ।
तत्रापिभवतिहिंसा तदाश्रितनिगोत निर्मथनात् ॥६६॥

अर्थ—यद्यपि स्वयमेव मरे हुवे भैंस बैल आदि का भी मांस होता है परन्तु उस मांस के आश्रित रहने वाले निगोदिया जीवों के घात से उस मांस में भी अर्थात् उस मांस के भक्षण से भी हिंसा होती है—

आमास्वपि पक्कास्वपि विपच्यमानासुमांसपेशीषु ।
सातत्येनोत्पाद स्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥६७॥

अर्थ—बिना पकी हुई, पकी हुई और पकती हुई मांस की डलियों में भी उसही जाति के निगोदिया जीवों की उत्पत्ति सदा होती रहती है—

आमांवापक्कांवा खादतियःस्पृशतिवापिशितपेशी ।
निहन्तिसततनिचितं पिण्डंबहुजीवकोटीनाम् ॥६८॥

अर्थ—जो कोई कच्ची वा पकी हुई मांस की डली को खाता है वा छूता है वह बहुत जाति के जीव समूह के पिंड को हनता है—

मधु

मधुशकलमपिप्रायो मधुकरहिंसात्मकं भवतिलोके ।
भजतिमधुमूढधीकोयःसभवतिहिंसकोऽत्यन्तम् ॥६९॥

अर्थ—लोक में शहद का कण भी मक्खियों की हिंसा से ही उत्पन्न होता है इस कारण जो मूर्ख शहद को खाता है वह बड़ा ही हिंसक है-

स्वयमेवविगलितंयो गृह्णीयाद्वाछलेन मधुगोलात् ।
तत्रापिभवतिहिंसा तदाश्रयप्राणिनाङ्घातात् ॥७०॥

अर्थ—और जो शहद की बूँद शहद के छत्ते में से धोके से ली जावै या स्वयमेव नीचे गिरी हुई ली जावै तो भी उस बूँद के आश्रित जीवों के घात होने से हिंसा होती है—

मक्खन

मधुमद्यंनवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः ।
वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णाजन्तवस्तत्र ॥७१॥

अर्थ—शहद, शराब, नवनी घी अर्थात् मक्खन और मांस ये महा विकारों को धारण किये हुए चारों पदार्थ व्रतीपुरुषों को नहीं खाने चाहिये इनमें उसही रंग के जीव होते हैं--

पांच उदम्बर फल

योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि ।
त्रसजीवानांतस्मात् तेषान्तद्भक्षणे हिंसा ॥७२॥

अर्थ—ऊमर, कठूमर यह दो उदम्बर और पिलखण, वड़ और पीपल का फल त्रस जीवों की खान है इस हेतु इनके खाने में उन त्रस जीवों की हिंसा होती है—

यानितुपुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणिशुष्काणि ।
भजतस्तान्यपिहिंसा विशिष्टरागादिरूपास्यात् ॥७३॥

अर्थ—और जो यह पांचों उदम्बरफल सूख कर काल पाकर त्रस जीवों से रहित भी हो जावें तो भी उनके खाने से अधिक रागादिरूप हिंसा होती है भावार्थ—सूखे उदम्बर फलों को तभी कोई खायगा जब उन फलों में अधिक रागभाव होगा और रागभाव उत्पन्न होना हिंसा है क्योंकि रागभाव से आत्मिक शुद्धभाव का घात होता है—

आठ पदार्थों का त्यागीही श्रावक है

अष्टावनिष्टदुस्तर दुरितायतनान्यमूनिपरिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणिशुद्धधियः ॥७४॥

अर्थ—शराब, मांस, शहद और पांच उदम्बर फल यह आठों पदार्थ जो अनिष्ट हैं दुस्तर हैं पापों का स्थान हैं इन आठों को त्याग करही निर्मल बुद्धि वाले मनुष्य जिनधर्म के उपदेश को ग्रहण करने के योग्य होते हैं—
भावार्थ—इन आठों पदार्थों का त्याग आठ मूल गुण कहाता है और इनके त्याग के विदून श्रावक भी नहीं हो सक्ता है—

त्रसहिंसा का त्याग

धर्ममहिंसारूपं संशृण्वन्तोऽपि ये परित्यक्तुम् ।
स्थावरहिंसामसहा त्रसहिंसा तेऽपिमुञ्चन्तु ॥७५॥

अर्थ—जो अहिंसा मय धर्म को सुनकर भी स्थावर जीवों की हिंसा को नहीं छोड सक्ते हैं वे भी त्रस जीवों की हिंसा का तो त्याग करैं—

कृतकारितानुमननै र्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा ।
औत्सर्गिकी निवृत्ति र्विचित्ररूपापवादकीत्वेषा ॥७६॥

अर्थ—उत्सर्गरूप अर्थात् सर्वथा त्याग नव प्रकार का है। मन से, बचन से, काय से, आप न करना, दूसरे से न कराना और करते को देखकर खुश न होना॥ अपवादरूप त्याग अर्थात् इन ऊपर कहे हुए ९ भेदों में से किसी भेद का थोडा बहुत किसी प्रकार से त्याग करना अनेक प्रकार है—

स्थावर हिंसा का त्याग

स्तोकैकेन्द्रियघातादृगृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम् ।
शेषस्थावरमारण विरमणमपि भवतिकरणीयम् ॥७७॥

अर्थ—विषयों का न्यायपूर्वक सेवन करनेवाले गृहस्थी लोग अर्थात् श्रावकों को थोडे से एकेन्द्रिय जीवों के घात के सिवाय अन्य एकेन्द्रिय जीवों के मारने का त्याग भी करना चाहिये—

हिंसा का निषेध

अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसारसायणं लब्ध्वा ।
अवलोक्यबालिशाना मसमञ्जसमाकुलै र्न भवितव्यम् ॥७८॥

अर्थ—ऐसी अहिंसारूपी रसायण को पाकर जो कि सब से उत्कृष्ट और मोक्ष की प्राप्ति का कारण है अज्ञानी जीवों की बेतुकी दशा देख कर

व्याकुल नहीं होना चाहिये, अर्थात् हिंसकमनुष्य को सुखी और व्रतीपुरुषों को दुखी देखकर चलायमान नहीं होना चाहिये—

सूक्ष्मोभगवद्धर्मो धर्मार्थे हिंसने न दोषोस्ति ।
इति धर्ममुग्धहृदयै नजातुभूत्वाशरीरिणोहिंस्याः ॥७९॥

अर्थ—"भगवत का धर्म बहुत बारीक है धर्म के अर्थ हिंसा करने में दोष नहीं है" इस प्रकार धर्म में मूढहृदय होकर अर्थात् मूर्ख बनकर कदाचित भी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिये—

धर्मोहिदेवताभ्यःप्रभवतिताभ्यः प्रदेयमिहसर्वम् ।
इति दुर्विवेककलितां धिषणांनप्राप्यदेहिनोहिंस्याः ॥८०॥

अर्थ—"निश्चय कर धर्म देवताओं से उत्पन्न होता है उनको यहां सब कुछही देदेना चाहिये" ऐसी उल्टी बुद्धि करके जीवहिंसा नहीं करनी चाहिये—

पूज्यनिमित्तंघाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति ।
इति सम्प्रधायकार्यं नातिथये सत्वसंज्ञपनम् ॥८१॥

अर्थ—"पूज्यपुरुषों के वास्ते बकराआदि के मारने में कोई भी दोष नहीं है" ऐसा बिचार करके अतिथि के वास्ते जीवघात नहीं करना चाहिये-

बहुसत्वघातजनिता दशनाद्वरमेकसत्वधातोत्थम् ।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्वस्य हिंसनं जातु ॥८२॥

अर्थ—"बहुत प्राणियों के घात से उत्पन्न हुए भोजन की अपेक्षा एक जीव के घात से उत्पन्न हुआ भोजन अच्छा है" ऐसा समझ कर कदाचित भी बड़े जीव का घात नहीं करना चाहिये—

रक्षा भवति बहूना मेकस्यैवास्य जीव हरणेन ।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्वानाम् ॥८३॥

अर्थ—"इस एक जीव के मारने से बहुत से जीवों की रक्षा होती है" ऐसा मानकर हिंसक जीवों को भी नहीं मारना चाहिये—

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम् ।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः ॥८४॥

अर्थ—बहुत जीवों के घातक यह जीव जीते रहैंगे तो बहुत पाप उपार्जन करैंगे' इस प्रकार की दया करके भी हिंसक जीवों को नहीं मारना चाहिये-

बहुदुःखासंज्ञपिताः प्रयान्तित्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम् ।
इति वासना कृपाणी मादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः ॥८५॥

अर्थ—"बहुत दुःखों से पीडित जीव जल्दी ही दुःख से छूट जावेंगे" इस प्रकार के विचाररूपी तलवार को ग्रहण करके दुखी जीव को भी नहीं मारना चाहिये—

कृच्छ्रेणसुखावाप्ति र्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिनएव ।
इति तर्क मण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः ॥८६॥

अर्थ—"सुख की प्राप्ति कष्ट से ही होती है इस हेतु मारे हुवे सुखी जीव सुखी ही होवेंगे" इस प्रकार के कुतर्क की तलवार सुखी जीवों के घात के वास्ते नहीं उठानी चाहिये—

उपलब्धिसुगतिसाधन समाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात् ।
स्वगुरोः शिष्येणशिरो न कर्त्तनीयं सुधर्ममभिलाषिता ॥८७॥

अर्थ—अधिक अभ्यास से अच्छी गति के साधन समाधि के सार को प्राप्त हुवे गुरु का मस्तक सत्यधर्म के अभिलाषी शिष्य को नहीं काटना चाहिये, भावार्थ-यह समझ कर कि गुरु जिस समय समाधि में लगा हुवा हो उस समय उसके प्राण त्याग होने से वह सीधा वैकुण्ठ को जावैगा गुरु को नहीं मारडालना चाहिये--

धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनायदर्शयताम् ।
झटितिघटचटकमोक्षं श्राद्धेयंनैवखारपाटिकानाम् ॥८८॥

अर्थ—धन के प्यासे और शिष्यों को विश्वास दिलाने के वास्ते बात बनानेवाले खारपटिकों की "घडे के फूटतेही तुरन्त चिडिया की मुक्ति के समान मुक्ति" को नहीं मानना चाहिये (खारपटिक कोई मत था जो शरीर के छूटने कोही मोक्ष मानता था जैसे घडे में चिडिया बन्द होतो घडे के फूटतेही चिडियास्वतन्त्र हो जावैगी, इस सिद्धान्त से वह जीव को मारकर उसको मोक्ष प्राप्त कराना बताते थे)

दृष्ट्वापरम्पुरस्ता दशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम् ।
निजमांसदानरभसा दालभनीयोन चात्मापि ॥८९॥

अर्थ—किसी बहुत भूखे पुरुष को भोजन के वास्ते सन्मुख आता हुआ देखकर जल्दी में अपने शरीर का मांस देने से अपनी आत्मा का भी घात नहीं करना चाहिये—

कोनामविशतिमोहं नयभङ्गविशारदानुपास्यगुरून् ।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसां विशुद्धमतिः ॥९०॥

अर्थ—नयभंग के जाननेवाले गुरुओं की उपासना करके जिनमत के रहस्य को जाननेवाला अहिंसाधर्म को अंगीकार करता हुवा ऐसा कौन निर्मल-बुद्धि है जो मोह को प्राप्त हो—

असत्यवचन

यदिदंप्रमादयोगाद सदभिधानं विधीयतेकिमपि ।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्तिचत्वारः ॥ ९१ ॥

अर्थ—किसी भी प्रमाद कषाय के योग से जो वचन स्व पर को हानि-कारक अथवा अन्यथारूप बोला जाता है उसको अनृत अर्थात् असत्यवचन जानना चाहिये इसके चार भेद हैं—

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिद्ध्यते वस्तु ।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥९२॥

अर्थ—जिस वचन में अपने द्रव्यक्षेत्र काल भाव करिके विद्यमान भी वस्तु निषेद की जाती है (मौजूद वस्तु को नहीं है ऐसा कहा जाता है) वह प्रथम असत्य है जैसे यहां देवदत्त नहीं है (और वास्तव में वहां देवदत्त है)

असदपि हि वस्तुरूपं यत्रपरक्षेत्रकालभावैस्तैः ।
उद्भाव्यतेद्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्तिघटः ॥९३॥

अर्थ—जिस वचन में परद्रव्य क्षेत्र काल भाव करके अविद्यमानवस्तु भी विद्यमान प्रगट की जाती है (न मौजूद वस्तु को मौजूद कहा जाता है) वह दूसरा असत्य है जैसे यहां घड़ा है (और वास्तव में वहां घड़ा नहीं है)

वस्तुसदपिस्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन् ।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाश्व ॥९४॥

अर्थ—जिस वचन में अपने स्वरूप में स्थित वस्तु को भी अन्यरूप से कहा जावे वह तीसरा असत्य है जैसे गाय को घोड़ा कहना—

गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवतिवचनरूपंयत् ।
सामान्येनत्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयन्तु ॥९५॥

अर्थ—चौथे प्रकार का असत्य साधारण रीति से गर्हित, सावद्य और अप्रिय तीन प्रकार का माना गया है-

पैशुन्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च ।
अन्यदपियदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम् ॥९६॥

अर्थ—चुगलीरूप, हास्ययुक्त, कठोर, बेतुके, गप्पशप्परूप और भी जो शास्त्रविरुद्ध वचन हैं वेसब गर्हित वचन कहे जाते हैं-

छेदनभेदनमारण कर्षण वाणिज्यचौर्य्यवचनादि ।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते ॥९७॥

अर्थ—छेदने, भेदने, मारने, कर्षणकरने, व्यापार और चोरी आदि के जो वचन हैं वह सब सावद्य वचन हैं क्योंकि यह वचन जीव हिंसा आदि की प्रवृत्ति कराते हैं

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोक कलहकरम् ।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियंज्ञेयम् ॥९८॥

अर्थ—जो वचन दूसरे जीव को अप्रीति का करनेवाला, भय का करने वाला, खेद का करने वाला, वैर, शोक और कलह का करने वाला और आताप का करने वाला हो वह सब अप्रियवचन जानना चाहिये—

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन् प्रमत्तयोगैकहेतु कथनम्यत् ।
अनृतवचनेऽपि यस्मान्नियतं हिंसासमवतरति ॥९९॥

अर्थ—क्योंकि इन सब वचनों का हेतु एक प्रमत्त योग अर्थात् रागभाव ही कहा गया है इस वास्ते असत्य वचन में भी सदा हिंसा ही होती है—

हेतौप्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम् ।
हेयानुष्ठानादे रनुवदनं भवतिनासत्यम् ॥१००॥

अर्थ—समस्त असत्य वचनों का हेतु प्रमत्तयोग ही कायम होने से छोड़ने योग्य और ग्रहण करने योग्य बातों का कथन करना असत्यवचन नहीं हो जाता है भावार्थ—असत्य वचन के त्यागी महामुनि आदिक हेयोपादेय का उपदेश बारम्बार करते हैं उनके पाप की निंदा करने वाले वचन पापीजीवों को तीर के समान अप्रिय लगते हैं, सैकड़ों जीव दुःखी होते हैं परन्तु उन्हें असत्य भाषण का दोष नहीं लगता है क्योंकि उनके वचन कषाय प्रमाद को लिये हुवे नहीं हैं—

भोगोपभोगसाधन मात्रं सावद्यमक्षमामोक्तुम् ।
येतेऽपि शेषमनृतं समस्तमपिनित्यमेवमुञ्चन्तु ॥१०१॥

अर्थ—जो कोई उतना सावद्यवचन नहीं छोड़ सक्ते हैं जितने से उनके भोग और उपभोग का साधन होता है वे भी अपने भोग उपभोग के साधन करने वाले सावद्यवचन के सिवाय अन्यसमस्तप्रकार के असत्यवचनों को सदा ही त्याग करें—

चोरी

अवितीर्णस्यग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत् ।
तत्प्रत्येयंस्तेयं सैवचहिंसा वधस्यहेतुत्वात् ॥१०२॥

अर्थ—प्रमत्तयोग अर्थात् रागादिभाव से पदार्थ के ग्रहण करने को चोरी जानना चाहिये और वह ही चोरी वध के हेतु से हिंसा भी है—

अर्थानामयएते प्राणाएते वहिश्चराः पुंसाम् ।
हरतिसतस्यप्राणान् योयस्यजनोहरत्यर्थान् ॥१०३॥

अर्थ—जो मनुष्य जिस किसी के धन को हरता है वह उसके प्राणों को हरता है क्योंकि जितने धनादिक पदार्थ हैं वे सब ही पुरुषों के बाह्य प्राण हैं—

हिंसायाः स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघटमेव सा यस्मात् ।
ग्रहणेप्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः ॥१०४॥

अर्थ—हिंसा के और चोरी के अव्याप्ति दोष नहीं है (जो लक्षण पदार्थ के एकदेश में व्याप्ति होवे उसे अव्याप्ति कहते हैं) चोरी में वह हिंसा भलीभांति घटित होती है क्योंकि दूसरों के ग्रहण किये द्रव्य को लेना प्रमत्त योग अर्थात् रागद्वेषादिकभाव से ही होता है—

नातिव्याप्तिश्चतयोः प्रमत्तयोगैककारणविरोधात् ।
अपिकर्म्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात् ॥१०५॥

अर्थ—वीतराग पुरुषों में प्रमत्तयोग के न होने से कर्म परमाणुओं के ग्रहण करने में उनको चोरी का दोष नहीं लगता है, इस हेतु हिंसा और चोरी में अतिव्याप्ति भी नहीं है (किसी लक्षण का अन्यकिसी वस्तु में भी होना अतिव्याप्ति है)

असमर्थायेकर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम् ।
तैरपिसमस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम् ॥१०६॥

अर्थ—जो कोई पराये जलाशयों (कूआ तालाब आदि) का जल वा मिट्टी आदि का लेना नहीं छोड़ सक्ते हैं उन्हैं भी अन्यसमस्त ही बिना दी हुई वस्तु का त्याग करना चाहिये—

कुशील

यद्वेदरागयोगान् मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म ।
अवतरतितत्रहिंसा वधस्यसर्वत्रसद्भावात् ॥१०७॥

अर्थ—स्त्री, पुरुष और नपुंसक इन वेदों की रागभावरूप उत्तेजना से जो मैथुन किया जाता है वह अब्रह्म है, उसमें सर्वत्र जीव घात होने से हिंसा होती है—

हिंस्यन्तेतिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत् ।
बहवोजीवायोनौ हिंस्यन्ते मैथुनेतद्वत् ॥१०८॥

अर्थ—जिस प्रकार तिलों की नली में तप्त लोहे के डालने से तिल भस्म हो जाते हैं उसही प्रकार मैथुन करने से योनि में बहुत जीव मरते हैं—

यदपिक्रियतेकिञ्चिन् मदनोद्रेकादनङ्गरमणादि ।
तत्रापिभवतिहिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् ॥१०९॥

अर्थ—काम (शहवत) के अधिक भड़कने के कारण जो कुछ भी अनङ्ग क्रीड़ा (सहवास करने के योग्य अंगों से भिन्न दूसरे अंगों के द्वारा कामक्रीड़ा का करना) की जाती है उसमें भी रागादिभाव की उत्पत्ति होने से हिंसा ही होती है—

येनिजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवन्तिनहिमोहात् ।
निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम् ॥११०॥

अर्थ—जो जीव मोह के कारण अपनी विवाहित स्त्री को नहीं छोड़ सक्ते हैं उन्हें भी अन्यसमस्तस्त्रियों का सेवन नहीं करना चाहिये—

परिग्रह

यामूर्छानामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहोह्येषः ।
मोहोदयादुदीर्णोमूर्छातु ममत्वपरिणामः ॥१११॥

अर्थ—जो मूर्छा है उसको ही परिग्रह जानना चाहिये और मोह के उदय से ममत्वपरिणामों का उत्पन्न होना मूर्छा है—

मूर्छालक्षणकरणात् सुघटाव्याप्तिः परिग्रहत्वस्य ।
सग्रन्थोमूर्छावान्विनापि किल शेषसङ्गेभ्यः ॥११२॥

अर्थ—परिग्रह का लक्षण मूर्छा होने से व्याप्ति ठीक बैठती है क्योंकि अन्य सब परिग्रह के न होने पर भी (सब वस्तुओं को त्याग कर नग्न दिगम्बर होने पर भी) मूर्छावान् पुरुष अर्थात जिसके हृदय में वस्तुओं का ममत्व बसा हुवा है वह निश्चय कर परिग्रही ही है—

यद्येवंभवतितदापरिग्रहो न खलुकोपिवहिरङ्गः ।
भवतिनितरां यतोऽसौधत्ते मूर्छानिमित्तत्वम् ॥११३॥

अर्थ—यदि ऐसाही होता अर्थात् मूर्छा ही परिग्रह होती तो बाह्य कोई भी वस्तु परिग्रह न होती (ऐसा नहीं है) क्योंकि यह बाह्यपरिग्रह सदाही मूर्छा का निमित्त कारण है—

एवमतिव्याप्तिः स्यात् परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम् ।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्च्छास्ति ॥११४॥

अर्थ—यदि यह कहो कि इस प्रकार बाह्यपरिग्रह की अति व्याप्ति होती है अर्थात् वीतरागी पुरुष भी कर्मपरमाणुओं को ग्रहण करते हैं इस कारण वह परमाणु बाह्यपरिग्रह मानना चाहिये तो ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि कषायरहितपुरुषों के कर्म परमाणु ग्रहण करने में मूर्छा नहीं है—

अतिसंक्षेपाद्द्विविधः स भवेदाभ्यन्तरश्च बाह्यश्च ।
प्रथमश्चतुर्दशविधो भवतिद्विविधो द्वितीयस्तु ॥११५॥

अर्थ—वह परिग्रह बहुत संक्षेप से कहने में अन्तरङ्ग और बाह्य दो प्रकार है पहला अन्तरङ्ग परिग्रह चौदह प्रकार है और दूसरा बाह्यपरिग्रह दो प्रकार है—

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्चषड्दोषाः ।
चत्वारश्चकषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तराग्रन्थाः ॥११६॥

अर्थ-मिथ्यात्व और बेद के राग (स्त्री, पुरुष और नपुंसक बेद) इसही प्रकार हास्य आदिक छै दोष (हास्य, रति, अराति, शोक, भय, जुगुप्सा) और चार कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) इस प्रकार अन्तरङ्ग परिगृह चौदह हैं—

अथनिश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्यपरिग्रहस्यभेदौ द्वौ ।
नैषः कदापिसङ्गः सर्वोऽप्यतिवर्त्ततेहिंसां ॥११७॥

अर्थ—बाह्यपरिग्रह के अचित्त (जीव रहित वस्तु रुपया पैसा महल मकान कपडा आदिक अजीव वस्तु) और सचित (जीव सहित वस्तु गाय, घोड़ा, नौकर चाकर आदिक) यह दो भेद हैं, यह सर्व ही परिग्रहहिंसा को कभी भी नहीं छोडते हैं अर्थात् इनके कारण हिंसा अवश्य होती है, इनही के कारण रागभाव होता है और रागभावों का होना ही हिंसा है ।

उभयपरिग्रहवर्ज्जनमाचार्याः सूचयन्त्यहिंसेति ।
द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञाः ॥११८॥

अर्थ-जैनसिद्धान्त के जानने वाले आचार्य दोनों प्रकार के परिग्रह के ग्रहण को हिंसा बताते हैं—

अर्थ—यदि ऐसा है अर्थात् सदाकाल भोजन करने में हिंसा है तो दिन में भोजन करना छोड़ देना चाहिये और रात्रि को खाना चाहिये क्योंकि इस प्रकार नित्य की हिंसा नहीं होगी (इस प्रश्न का आचार्य अगले श्लोक में उत्तर देते हैं)

नैवंवासरभुक्तेः भवतिहिरागाधिकोरजनिभुक्तौ ।
अन्नकवलस्यभुक्तेः भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥१३२॥

अर्थ—ऐसा नहीं है क्योंकि अन्न के ग्रास के खाने की अपेक्षा मांस के ग्रास के खाने में जिस प्रकार राग अधिक होता है वैसेही दिन में भोजन करने की अपेक्षा रात को भोजन करने में अधिक राग होता है—

अर्कालोकेनविना भुञ्जानः परिहेत् कथं हिंसाम् ।
अपिबोधितः प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम् ॥१३३॥

अर्थ—सूर्य के प्रकाश के बिना अर्थात् रात्रि में भोजन करने वाले के दीपक जलाने पर भी भोजन में मिले हुए सूक्ष्मजीवों की हिंसा किस प्रकार दूर की जावेगी—

किंवाबहुप्रलपितै रिति सिद्धंयो मनोवचनकायैः ।
परिहरतिरात्रिभुक्तिं सततमहिंसांस पालयति ॥१३४॥

अर्थ—बहुत कहने से क्या है जो कोई मन बचन काय से रात को भोजन करने का त्याग करता है वह निरंतर अहिंसाको पालन करता है—

इत्यत्रत्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामाः ।
अनुपरतं प्रयतन्ते प्रयान्तिते मुक्तिमचिरेण ॥१३५॥

अर्थ—इस प्रकार इस लोक में जो अपने हित के चाहने वाले रत्न त्रयरूप मोक्षमार्ग में सदा प्रयत्न करते हैं वह शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं—

व्रतों के शील व्रत

परिधयइवनगराणि व्रतानिकिलपालयन्तिशीलानि ।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥१३६॥

अर्थ—जैसे नगर के चारों तरफ की दीवार नगर की रक्षा करती है इसही प्रकार व्रतों की पालना तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ऐसे सात शीलों से होती है इस हेतु व्रतों के पालन करने के वास्ते शीलव्रतों का भी पालन करना चाहिये—

दिग्व्रत

प्रविधाय सुप्रसिद्धै र्मर्यादां सर्वतोप्यभिज्ञानैः ।
प्राच्यादिभ्योदिग्भ्यः कर्तव्या विरतिरविचलिता ॥१३७॥

अर्थ—पूर्व आदि सब दिशाओं में अत्यंत प्रसिद्ध ठिकानों से सब तरफ मर्यादा (हद) करके गमन करने की प्रतिज्ञा करनी चाहिये अर्थात् अमुक हद से बाहर नहीं जाऊंगा यह दिग्व्रत नाम का शीलव्रत है ।

इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते य स्ततोबहिस्तस्याः ।
सकलासंयमविरहा द्भवत्यहिंसाव्रतं पूर्णम् ॥१३८॥

अर्थ—जो पुरुष इस प्रकार दिशा के मर्यादा किये हुवे भाग में ही अपना काम करता है उसके उस हद से बाहर समस्त ही असंयम का त्याग होने से पूर्ण अहिंसा व्रत होता है ।

देशव्रत

तत्रापिच परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनाम् ।
प्रविधायनियतकालं करणीयं विरमणं देशात् ॥१३९॥

अर्थ— और उस दिग्व्रत में भी ग्राम, बाजार, मकान, मुहल्ला आदिक का परिमाण करके किसी नियत समय के वास्ते उससे बाहर स्थान का त्याग करना चाहिये (यह देश व्रतनामा शील है)

इति विरतोबहुदेशात् तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात् ।
तत्कालं विमलमतिः श्रयत्यहिंसां विशेषेण ॥१४०॥

अर्थ—इस प्रकार बहुत क्षेत्र का त्यागी निर्मलबुद्धि उस काल के वास्ते उस स्थान में उत्पन्न होने वाली हिंसा के त्याग से अधिकतर अहिंसा को पालता है ।

अनर्थदंडव्रत

पापर्द्धिजयपराजय सङ्गरपरदारगमन चौर्याद्याः ।
नकदाचनापिचिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात् ॥१४१॥

अर्थ—शिकार, जय, पराजय, युद्ध, परस्त्रीगमन, चोरी आदिक का कदाचित् भी चिन्तवन नहीं करना चाहिये क्योंकि इन खोटे ध्यानों का फल पाप ही है यह अनर्थदंड नाम का शील व्रत है—अनर्थदंड के पांच भेद हैं १ अपध्यान २ पापोपदेश ३ प्रमादचर्या ४ हिंसादान ५ दुःश्रुति-इस श्लोक में अपध्यान का वर्णन है ।

विद्यावाणिज्यमषी कृषि सेवाजीविनां पुंसाम् ।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम् ॥१४२॥

अर्थ—विद्या, व्यापार, लेखनकला, खेती, नौकरी, और कारीगरी जीविका करने वाले पुरुषों को पाप का उपदेश देने वाला बचन कदाचित् भी नहीं कहना चाहिये (यह पापोपदेश नाम का दूसरा अनर्थदंड है)

भूखननवृक्षमोट्टन शाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि ।
निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च ॥१४३॥

अर्थ—धरती खोदना, वृक्ष उखाडना, घास की जगह को रौंदना, पानी सींचना आदि और पत्र, फल, फूल तोड़ना भी विना प्रयोजन के नहीं करना चाहिये। यह प्रमादचर्या नामा तीसरा अनर्थदंड है।

असिधेनुविषहुताशन लाङ्गल करवाल कार्मुकादीनाम् ।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात् ॥१४४॥

अर्थ—छुरी, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुष, आदि हिंसा के औजारों को दूसरों को देना यत्न के साथ त्याग देवै (यह हिंसादान नामा चौथा अनर्थदंड है)

रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामबोध बहुलानाम् ।
न कदाचनकुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि ॥१४५॥

अर्थ—राग आदि को बढ़ाने वाली और बहुत करके अज्ञानता से भरी हुई खोटी कथाओं अर्थात् कहानियों का सुनना, इकट्ठा करना और सीखना आदि कदाचित् भी न करै (यह दुःश्रुति नाम का पांचवा अनर्थदंड है)

जुआ

सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्ममायायाः ।
दूरात्परिहरणीयं चौर्य्यासत्यास्पदं द्यूतम् ॥१४६॥

अर्थ—जूए को जो सर्वअनर्थों का सरदार, संतोष का नाश करनेवाला, मायाचार का घर और चोरी तथा झूठ का ठिकाना है दूरसेही त्याग कर देना चाहिए।

एवं विधिमपरमपि ज्ञात्वामुञ्चत्यनर्थदण्डं यः ।
तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते ॥१४७॥

अर्थ जो पुरुष इस प्रकार अन्य भी अनर्थ दण्डों को जान करके त्याग करता है उसको निर्दोषअहिंसाव्रत सदा विजय प्राप्त कराता है।

सामायिक

रागद्वेषत्यागा न्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य ।
तत्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम् ॥१४८॥

अर्थ—रागद्वेष के त्याग से समस्त इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में समताभाव को अङ्गीकार करके बारम्बार आत्मतत्व के मूलकारण सामायिक को करना चाहिये [यह सामायिक नामा शीलव्रत है]

रजनीदिनयोरन्त्ये तदवश्यं भावनीयमविचालितम् ।
इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषायतद्गुणाय कृतम् ॥१४९॥

अर्थ—वह सामायिक रात और दिन के अन्त में [सुबह और शाम] बिला नागा एक चित्त होकर अवश्य करनी चाहिये, फिर यदि अन्य समय में भी की जावै तो वह सामायिक दोष के वास्ते नहीं है किन्तु गुण के ही वास्ते होती है ।

सामायिकश्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात् ।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चरित्रमोहस्य ॥१५०॥

अर्थ—इस सामायिक में लगे हुए श्रावकों के चारित्र मोह के उदय होते भी समस्तपाप के योगों के दूर होने से महाव्रत होता है।

प्रोषधोपवास

सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम् ।
पक्षार्द्धयोर्द्वयोरपि कर्त्तव्योऽवश्यमुपवासः ॥१५१॥

अर्थ—प्रतिदिन अङ्गीकार किये हुए सामायिक संस्कार को स्थिर करने के वास्ते दोनों पक्षों के अर्धभाग में (प्रत्येक अष्टमी चौदश को) उपवास अवश्य करना चाहिये (यह प्रोषधोपवास नामा शीलव्रत है)

मुक्तसमस्तारम्भ : प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे ।
उपवासं गृह्णीया न्ममत्वमपहाय देहादौ ॥१५२॥

अर्थ—समस्त आरंभ को छोड कर और शरीर आदि से ममत्व को त्याग कर उपवास के दिन के पहले दिन के मध्य में अर्थात् दो पहर से ग्रहण करे ।

श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय ।
सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥१५३॥

अर्थ—पश्चात् निर्जनवस्तिका (कुटी) में पहुँच कर, समस्तपाप

योग को त्याग कर, सब इन्द्रियों के विषय से विरक्त हो कर मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति सहित तिष्ठै।

धर्मध्यानाशक्तो वासरमतिवाह्यविहितसान्ध्यविधिम्।
शुचिसंस्तरेत्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्रः ॥१५४॥

अर्थ—करली गई है संध्या की विधि (सामायकादि) जिस में ऐसे दिन को धर्मध्यान में लीन हुए व्यतीत करके स्वाध्याय के द्वारा निद्रा को जीतता हुआ पवित्र सांथरे पर रात्रि को गमावै।

प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम्।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ॥१५५॥

अर्थ—फिर प्रातःकाल उठ कर उस समय की क्रियाओं को करके प्राशुक द्रव्य से विधिपूर्वक भगवान् की पूजा करै।

उक्तेनततोविधिना नीत्वादिवसंद्वितीयरात्रिं च।
अतिवाहयेत्प्रयत्ना दर्द्धंच तृतीयादिवसस्य ॥१५६॥

अर्थ—इसके पश्चात् पूर्वोक्तविधि से उपवास के दिन को और दूसरी रात को बिताकर तीसरे आधे दिन को भी यत्न के साथ व्यतीत करै।

इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः।
तस्यतदानींनियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति ॥१५७॥

अर्थ—जो जीव इस प्रकार सकल पाप क्रियाओं से छूट कर सोलह पहर व्यतीत करता है उसको उतने समय तक अवश्य पूर्ण अहिंसाव्रत होता है।

भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत्किलामीषाम्।
भोगोपभोगविरहाद्भवति न लेशोऽपि हिंसायाः ॥१५८॥
वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहतः स्तेयम्।
नाब्रह्ममैथुनमुचः सङ्गोनाङ्गेप्यमूर्छस्य ॥१५९॥ (युग्मम्)

अर्थ—निश्चय कर के इन देशव्रती श्रावकों के भोग उपभोग के कारण स्थावर की हिंसा होती है परन्तु उपवास के समय भोग उपभोग के न होने से लेश मात्र भी हिंसा नहीं होती है, उपवास धारी मनुष्य के वचन गुप्ति के होने से झूठवचन नहीं है, अदत्तादान के न होने से चोरी नहीं है, मैथुन को छोड देने से अब्रह्म नहीं है, शरीर में ममत्व न होने से परिग्रह भी नहीं है।

इत्थमशेषितहिंसः प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात्।
उदयति चरित्र मोहे लभते तु न संयमस्थानम् ॥१६०॥

अर्थ—इस प्रकार वह प्रोषधोपवास करने वाला पुरुष संपूर्ण हिंसा से अलग हो कर उपचार से महाव्रतीपने को प्राप्त होता है, किन्तु चारित्र-मोह के उदय होने के कारण संयम के स्थान अर्थात् छठे प्रमत्तगुणस्थान को नहीं पाता है।

भोगोपभोगपरिमाणव्रत

भोगोपभोगमूला विरता विरतस्य नान्यतोहिंसा।
अधिगम्यवस्तुतत्वं स्वशक्तिमपि तावपित्याज्यौ ॥१६१॥

अर्थ—देशव्रती श्रावक के भोग और उप भोग के निमित सेही हिंसा होती है, हिंसा का कोई और दूसरा कारण नहीं है। इस लिये वस्तुस्वरूप को और अपनी शक्ति को पहचान कर यह दोनों भोग और उपभोगभी त्यागने चाहिये (यह भोगोपभोगपरिमाण नामा शील व्रत है)

एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम्।
करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम् ॥१६२॥

अर्थ—एक (अनन्तकाय) को भी घात करने की इच्छा करने वाला पुरुष अनन्तजीवों को मारता है इस हेतु अवश्य सबही अनन्तकायों का त्याग करना चाहिये। भावार्थ-एक साधारण वनस्पती में अनन्त निगोदिया जीव रहते हैं वह वनस्पती अनन्तकाय कहलाती है, उस एक वनस्पती के भक्षण से अनन्तजीवों की हिंसा होती है इस कारण ऐसी वनस्पती का त्याग करना चाहिये जिसमें निगोदिया जीव हों।

नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम्।
यद्वापि पिण्डशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किञ्चित् ॥१६३॥

अर्थ—और नोनी घी (मक्खन) भी जो बहुत से जीवों की खान है त्यागने योग्य है और आहार की शुद्धि में जो जो वस्तु विरुद्ध हैं वह भी सबही त्यागने योग हैं।

अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमपेक्ष्य धीमतात्याज्याः।
अत्याज्येस्वपिसीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया ॥१६४॥

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुषों को अपनी शक्ति को देख कर अविरुद्धभोग भी त्यागने योग्य हैं और जिन का त्याग न हो सके उनको भी एक दिन रात की मर्यादा करके त्यागै।

पुनरपि पूर्वकृतायां समीक्ष्य तात्कालिकीं निजांशक्तिम्।
सीमन्यन्तरसीमा प्रतिदिवसं भवतिकर्तव्या ॥१६५॥

अर्थ—अपनी उसी समयसम्बंधी शक्ति को देख कर पहले की हुई मर्यादा में भी प्रतिदिन मर्यादा करना योग्य है। भावार्थ-जिस वस्तु को हमेशा के वास्ते या बहुत काल के वास्ते न छोड़ सके उसको एक दिन के वास्ते त्याग करना योग्य है।

इति यः परिमितभोगैः सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान्।
बहुतरहिंसाविरहात्तस्याऽहिंसा विशिष्टा स्यात् ॥१६६॥

अर्थ—जो पुरुष इस प्रकार परिमाण किये हुवे भोगों से सन्तुष्ट होकर अन्यभोगों को त्यागता है उसका बहुत हिंसा के त्याग होने से उत्तम अहिंसा-व्रत होता है।

अतिथिसंविभागव्रत

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय।
स्वपरानुग्रहहेतोः कर्तव्योऽवश्यमतिथये भागः ॥१६७॥

अर्थ—दाता के गुण वाले गृहस्थी को अपने और पर के अनुग्रह के कारण दिगम्बरअतिथि के वास्ते देने योग्य वस्तु का भाग विधिपूर्वक अवश्य करना चाहिये। भावार्थ-साधु को दान देना चाहिये (यह अतिथि संविभाग शील व्रत है)

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामञ्च।
वाक्कायमनःशुद्धि रेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः॥१६८॥

अर्थ—आदरपूर्वक अपने घर में साधु का प्रवेश कराना, ऊँचा स्थान देना, पैर धोना, पूजन करना, नमस्कार करना, मन वचन काय की शुद्धि और भोजन की शुद्धि इसको विधि कहते हैं। भावार्थ--यह नौ ९ विधि दान की हैं जिनको नवधा भक्ति कहते हैं।

ऐहिकफलानपेक्षाक्षान्तिर्निष्कपटता न सूयत्वम्।
अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमितिहि दातृगुणाः॥१६९॥

अर्थ—लौकिक फल प्राप्ति की गरज़ का होना, क्षमा, कपट का न होना, ईर्षा रहित होना, क्लेशित चित्त न होना, हर्ष का न होना और अभिमान का न होना, यह दाता के सात गुण हैं।

रागद्वेषासंयममदद्ुःख भयादिकं न यत्कुरुते।
द्रव्यंतदेवदेयं सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरम् ॥१७०॥

अर्थ—जो वस्तु राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख, भय आदिक उत्पन्न नहीं करती है और उत्तम तप और स्वाध्याय की वृद्धि करने वाली है वह ही देने योग्य है।

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम्।
अविरत सम्यग्दृष्टिः विरताविरतश्च सकलविरतश्च ॥१७१॥

अर्थ—मोक्ष के कारणरूप अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूपगुणों से संयुक्त पात्र अर्थात् दान के योग्य पुरुष तीन प्रकार के कहे गये हैं। अविरातिसम्यग्दृष्टी, देशव्रती, और महाव्रती।

हिंसायाःपर्य्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतोदाने।
तस्माद्‌तिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम् ॥१७२॥

अर्थ—चूंकि इस दान में हिंसा की एक पर्याय जो लोभ है उसका नाश किया जाता है इस हेतु अतिथि को दान देना हिंसा का त्यागही माना है।

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्यापरानपीडयते।
वितरति यो नातिथये स कथंनहिलोभवान् भवति ॥१७३॥

अर्थ—वह पुरुष लोभी कैसे नहीं है जो घर पर आये हुए ऐसे अतिथि को दान नहीं देता है जो गुणी है और जो भ्रमर की समान वृत्ति से किसी को पीडा नहीं देता है।

कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः।
अरतिविषाद्‌विमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव ॥१७४॥

अर्थ—जो अपने वास्ते बनाया हुवा भोजन भाव सहित अप्रेम और विषाद रहित होकर मुनि को दिया जाता है वह लोभ को शिथिल करने वाला दान अहिंसा ही होता है।

सल्लेखना

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समंनेतुं।
सततामति भावनीया पश्चिमसल्लेखनाभक्त्या ॥१७५॥

अर्थ—यह एकही सल्लेखना मेरे धर्मरूपी धन को मेरे साथ लेचलने को समर्थ है इस प्रकार भक्ति करके मरणांतसल्लेखना अर्थात् मरणसमाधि निरन्तर भावनी चाहिये।

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि।
इतिभावनापरिणतो नागतमपि पालयेदिदंशीलम् ॥१७६॥

अर्थ—मैं मरण समय में अवश्य ही विधि के साथ सल्लेखना करूँगा इस प्रकार की भावनारूप परिणति करके मरण से पहले ही इस शील (सल्लेखना व्रत) को पालना चाहिये।

मरणेऽवश्यंभाविनि कषायसल्लेखनातनुकरणमात्रे।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ॥१७७॥

अर्थ—अवश्य होनहार मरण के होते हुए कषाय को कमज़ोर करने वाली सल्लेखना में लगे हुवे पुरुष के रागादि भावों के न होने के कारण आत्मघात नहीं है-अर्थात् सल्लेखना करने में आत्मघात का दोष नहीं है।

योहिकषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविशशस्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणान्तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः ॥१७८॥

अर्थ—जो पुरुष कषाय के वश होकर स्वास के रोकने से जल, अग्नि, जहर या शास्त्रआदिक से प्राणों को छुड़ाता है उसको आत्मघात सचमुच होता है।

नीयन्तेऽत्रकषाया हिंसाया हेतवोयतस्तनुताम्।
सल्लेखनामपितः प्राहुरहिंसां प्रसिद्ध्यर्थम् ॥१७९॥

अर्थ—चूंकि इस सल्लेखना में हिंसा के कारणों अर्थात् कषायों की क्षीणता होती है इस हेतु (आचार्य) सल्लेखना को भी अहिंसा की ही सिद्धि के अर्थ कहते हैं।

इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि।
वरयति पतिंवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्रीः ॥१८०॥

अर्थ—जो इस प्रकार पंच अणुव्रतों की रक्षा के अर्थ समस्तशीलों को निरन्तर पालता है उसको मोक्षपद की लक्ष्मी अतिशय उत्कंठित स्वयंवर की कन्या के समान आपही वर लेती है।

अति चार

अतिचाराः सम्यक्त्वे व्रतेषुशीलेषुपञ्च पञ्चेति।
सप्ततिरमी यथोदित शुद्धिप्रति बन्धिनोहेयाः ॥१८१॥

अर्थ—सम्यक्त में, व्रतों में और शीलों में पांच पांच अतीचार इस प्रकार कुल सत्तर अतीचार जो यथार्थशुद्धता के रोकने वाले हैं त्यागने योग्य हैं।

सम्यक्त्व के ५ अतिचार

शङ्कातथैव काङ्क्षा विचिकित्सा संस्तवाऽन्यदृष्टीनाम् ।
मनसा च तत्प्रशंसा सम्यग्दृष्टेरती चाराः ॥१८२॥

अर्थ—शङ्का, वांछा, ग्लानि, मिथ्या दृष्टियों की स्तुति और मन से उनकी प्रशंसा यह सम्यक दृष्टि के ५ अतीचार हैं—

अहिंसा व्रत के ५ अतीचार

छेदनताडनबन्धा भारस्यारोपणं समधिकस्य ।
पानान्नयोश्चरोधः पञ्चाहिंसाव्रतस्येति ॥१८३॥

अर्थ—छेदना, ताडना, बांधना, अधिक बोझ लादना, और अन्न पानी का न देना यह पांच अहिंसा व्रत के अतीचार हैं—

सत्यव्रत के अतीचार

मिथ्योपदेशदानं रहसोभ्याख्यान कूटलेख कृती ।
न्यासापहार वचनं साकार मन्त्रभेदश्च ॥१८४॥

अचौर्यव्रत के ५ अतीचार

अर्थ—झूठा उपदेश देना, एकान्त की गुप्त बात को प्रगट करना, झूठ लिखना, धरोहर के हरने का बचन कहना, शरीर की चेष्टा से जान कर दूसरे के अभिप्राय को प्रगट कर देना यह सत्य व्रत के अतीचार हैं—

प्रतिरूपव्यवहारः स्तेनानियोगस्तदाहृता दानम् ।
राजविरोधातिक्रम हीनाधिकमान करणे च ॥१८५॥

अर्थ—चोखी वस्तु में उसही रूप की खोटी वस्तु मिलाकर बेचना, चोरी में सहायता देना, चोरी की वस्तु को लेना, राज के नियम के विरुद्ध कार्य करना, और नापने तोलने के औज़ार कमती बढ़ती रखना, यह अचार्य व्रत के अतीचार हैं—

अब्रह्मके अतीचार

स्मरतीव्राभिनिवेशाऽनङ्गक्रीडान्यपरिणयनकरणम् ।
अपरिगृहीतेतरयोर्गमन चेत्वरिकयोः पञ्च ॥१८६॥

अर्थ—काम सेवन की बहुत लालसा रखना, योग्य अंगों के सिवाय अन्य अंग से काम क्रीड़ा करना, अन्य का विवाह करना, विना विवाही वा विवाही हुई व्यभिचारणी स्त्रीयों के यहां गमन, यह पांच अब्रह्म अनुव्रत के अतीचार हैं।

अपरिग्रह के अतीचार

वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम् ।
कुप्यस्यभेदयोरपि परिमाणातिक्रियाः पञ्च ॥१८७॥

अर्थ—मकान धरती, सोना चान्दी, धनधान्य, दास दासी, दो प्रकार के वस्त्र, इनके परिमाण का उल्लङ्घन करना यह पांच अपरिग्रह व्रत के अतीचार हैं।

दिग्व्रत के अतीचार

ऊर्द्ध्वमधस्तात्तिर्य्यक्व्यतिक्रमाः क्षेत्रवृद्धिराधानम् ।
स्मृत्यन्तरस्य गदिताः पञ्चेति प्रथमशीलस्य ॥१८८॥

अर्थ—ऊपर, नीचे, और समान भूमि के किए हुए परिमाण को उलंघना, क्षेत्र की वृद्धि करना, और याद न रखना, यह पांच अतीचार प्रथम शील अर्थात् दिग्व्रत के कहे गये हैं।

देशव्रत के अतीचार

प्रेषस्य संप्रयोजनमानयनं शब्दरूपाविनिपातौ ।
क्षेपोऽपि पुद्गलानां द्वितीयशीलस्य पञ्चेति ॥१८९॥

अर्थ—परिमाणित क्षेत्र से किसी को बाहर भेजना किसी वस्तु का मंगाना, शब्द सुनाना, रूप दिखाकर इशारा करना, पुद्गल पदार्थ का फेंकना, यह पांच दूसरे शील अर्थात् देश व्रत के अतीचार हैं।

अनर्थ दंड के अतीचार

कन्दर्प्पः कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यमपि च मौखर्य्यम् ।
असमीक्षिताधिकरणं तृतीयशीलस्य पञ्चेति ॥१९०॥

अर्थ—हंसी ठठोल, भंड रूप कायचेष्टा, भोग के पदार्थों का अनर्थ संग्रह करना, बकवाद करना, बिना बिचारे कार्य करना, यह तीसरे शील अनर्थ दंड के पांच अतीचार हैं।

सामायिक के अतीचार

वचनमनः कायानां दुःप्रणिधानमनादरश्चैव ।
स्मृत्यनुपस्थानयुताः पञ्चेति चतुर्थशीलस्य ॥१९१॥

अर्थ—बचन, मन, और काय की खोटी प्रवृत्ति, अनादर, और पाठ भूल जाना यह चौथे शील सामायिक के पांच अतीचार हैं।

प्रोषधोपवास के अतीचार

अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सर्गः ।

स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पञ्चोपवासस्य ॥१९२॥

अर्थ—बिना शोधे और बिना झाड़े वस्तु को लेना वा साथरा करना वा मल मूत्र त्यागना, प्रोषध विधि का भूल जाना और अनादर यह उपवास के पांच अतीचार हैं।

भोगोपभोगपरिमाण व्रत के अतीचार

आहारोहिसचित्तः सचित्तमिश्रस्सचित्तसम्बन्धः ।

दुष्पक्वोऽभिषवोऽपि च पञ्चामी षष्ठशीलस्य ॥१९३॥

अर्थ—सचित आहार, सचित से मिला हुवा आहार, सचित से सम्बंधित आहार, कमती पका हुआ आहार और पुष्टि कारक आहार यह पांच अतीचार छटे शील भोगोपभोग परिमाण व्रत के है।

अतिथिदान व्रत के पांच अतीचार

परदातृव्यपदेशः सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च ।

कालस्यातिक्रमणं मात्सर्य्यं चेत्यतिथिदाने ॥१९४॥

अर्थ—दूसरे को कह जाना कि तू दान दे देना, सचित वस्तु में आहार का रखना, सचित से आहार का ढकना, आहार देने का समय टाल देना, देने वालों से इर्षा तथा उनकी प्रशंसा को न सह सकना, यह अतिथि दान के पांच अतीचार हैं।

सल्लेखना के ५ अतीचार

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः सुखानुबन्धश्च ।

सनिदानः पञ्चैते भवन्ति सल्लेखना काले ॥१९५॥

अर्थ—जीने की इच्छा, मरणे की इच्छा, मित्रों में अनुराग, सुख का चिन्तवन, और आगामी के वास्ते भोगों की वांछा, यह पांच सल्लेखना समय में अतीचार होते हैं।

इत्येतानतिचारानपरानपि सम्प्रतर्क्यपरिवर्ज्य ।

सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलैः पुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात् ॥१९६॥

अर्थ—इस प्रकार गृहस्थ इन अतीचारों को और अन्य दोषों को भी विचार के साथ त्याग कर निर्मल सम्यक्त्व, व्रत और शील व्रतों के द्वारा शीघ्र ही पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि को प्राप्त होता है।

इतिदेश चरित्र कथन

सकल चारित्र

तप

चारित्रान्तर्भावात् तपोपि मोक्षाङ्गमागमे गदितं ।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तैः ॥१९७॥

अर्थ—जैन सिद्धान्त में चारित्र के ही अंतर्वती होने से तप को भी मोक्ष का अङ्ग कहा है इसलिये अपने बल को नहीं छिपाने वाले और सावधान चित्त वाले पुरुषों को वह भी सेवन करना योग्य है।

अनशनमवमोदर्य्यं विविक्तशय्यासनं रसत्यागः।
कायक्लेशोवृत्तेः सङ्ख्याचनिषेव्यमितितपो बाह्यम् ॥१९८॥

अर्थ—अनशन अर्थात् न खाना, अवमोदर्य अर्थात् कमती खाना विविक्त शय्यासन अर्थात ऐसे स्थान में सोना बैठना जहां विषयी पुरुषों का आना जाना न हो, रस परित्याग अर्थात् दूध घृतादि रसों का त्याग, काय क्लेश अर्थात काया को क्लेश देना, वृत्ति परिसंख्या अर्थात अमुक आहार मिलैगा तो भोजन करूंगा अन्यथा नहीं इस प्रकार अपनी प्रवृत्ति की मर्यादा करना, इस प्रकार बाह्य तप सेवन करना चाहिये—भावार्थ बाह्य तप के यह छै भेद हैं।

विनयो वैय्यावृत्त्यं प्रायश्चित्तं तथैवचोत्सर्गः।
स्वाध्यायोऽथध्यानं भवति निषेव्यंतपोऽन्तरङ्गमिति ॥१९९॥

अर्थ-बिनय करना, वैय्यावृत्ति अर्थात पूज्य पुरुषों की टहल करना, प्रायश्चित अर्थात दोष होने पर दंड लेना, उत्सर्ग अर्थात परिग्रह में ममत्व का छोड़ना, स्वाध्याय, और ध्यान यह अन्तरङ्ग तप सेवन करने योग्य हैं—भावार्थ—यह छै प्रकार के अंतरंग तप हैं।

जिनपुङ्गवप्रवचने मुनीश्वराणांयदुक्तमाचरणम्।
सुनिरूप्यनिजां पदवींशक्ति च निषेव्यमेतदपि ॥२००॥

अर्थ—जिनेश्वर के सिद्धान्त में मुनियों का जो आचरण कहा है वह अपनी पदवी और शक्ति को विचार कर गृहस्थियों को भी सेवन करना चाहिये

षटआवश्यक क्रिया

इदमावश्यकषट्कं समतास्तववन्दना प्रतिक्रमणम्।
प्रत्याख्यानं वपुषोव्युत्सर्गश्चेति कर्त्तव्यम् ॥२०१॥

अर्थ—समता अर्थात सम्यक् भाव रखना, स्तवन अर्थात पंच परमेष्टी

का गुणानुवाद करना, बन्दना अर्थात नमस्कार करना, प्रतिक्रमण अर्थात प्रमाद से किये हुए दोषों का दूर करना, प्रत्याख्यान अर्थात आगामी कर्मों के आस्रव को रोकना, और कायोत्सर्ग अर्थात काया को निश्चल होकर सामायिक करना, यह छै आवश्यक क्रिया करनी योग्य हैं।

गुप्ति

सम्यग्दण्डो वपुषः सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य ।
मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तीनांत्रितयमवगम्यम् ॥२०२॥

अर्थ—शरीर, बचन और मन को भले प्रकार वश करना, इन तीन गुप्तियों को जानना चाहिये ।

सामिति

सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथेषणा सम्यक् ।
सम्यग्ग्रहनिक्षेपोव्युत्सर्गः सम्यगितिसमितिः ॥२०३॥

अर्थ—विधि के साथ जाना आना, विधि के साथ बोलना, योग्य आहार, यत्न पूर्वक उठाना धरना, और विधि के साथ मल मूत्र आदि डालना यह पांच सामिति हैं (इर्य्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण, उत्सर्ग यह पांच समिति हैं)

दशलक्षण धर्म

धर्मःसेव्यः क्षान्तिर्मृदुत्वमृजुता च शौचमथ सत्यम् ।
आकिञ्चन्यं ब्रह्मत्यागश्च तपश्च संयमश्चेति ॥२०४॥

अर्थ—क्षमा अर्थात् क्रोध का न होना, मार्दव अर्थात् मान का न होना, आर्जव अर्थात् माया का न होना, शौच अर्थात् लोभ का त्याग करके अन्तःकरण की शुद्धि और वाह्य शरीर आदिक को पवित्र रखना, सत्य अर्थात् सच बोलना, आर्किचन्य अर्थात् परिग्रह का त्याग, तप, त्याग अर्थात् दान देना, संयम अर्थात् इन्द्रियों का वश करना, और त्रस स्थावर जीवों की रक्षा करना ब्रह्मचर्य अर्थात मैथुन त्याग, इस प्रकार धर्म सेवन करने योग्य हैं यह दश धर्म कहाते हैं।

बारह भावना

अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यताऽशौच मास्रवोजन्म ।
लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः सततमनुप्रेक्ष्याः ॥२०५॥

अर्थ—अध्रुव अर्थात कोई वस्तु सदा रहने वाला नहीं है, अशरण

अर्थात संसार में जीव को कोई शरण नहीं है, एकत्व अर्थात जीव अकेला है, अन्यत्व अर्थात जीव शरीर आदिक से भिन्न है, आस्रव अर्थात कर्मों की उत्पत्ति किस बिधि होती है, संसार अर्थात जीव अनेक पर्याय में भ्रमता रहता है, लोक अर्थात लोक के आकार बिस्तार आदिक का चिंतवन, धर्म अर्थात धर्म ही से संसारीक सुख और मोक्ष की प्राप्ति होती है, बोध दुर्लभ अर्थात ज्ञान का मिलना बहुत कठिन है, संवर अर्थात कर्मों की उत्पत्ति किसी बिधि रुक सक्ती है, निर्जरा अर्थात कर्म किस बिधि दूर होते हैं, यह बारह भावना निरंतर चिंतवन करनी चाहियें।

२२ परीषह

क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं नग्नत्वंयाचना रतिरलाभः।
दंशोमसकादीनामाक्रोशो व्याधिदुःखमङ्गमलम् ॥२०६॥

स्पर्शश्चतृणादीनामज्ञानमदर्शनं तथाप्रज्ञा।
सत्कारपुरस्कारः शय्या चर्य्या वधोनिषद्यास्त्री ॥२०७॥

द्वाविंशतिरप्येते परिषोढव्याः परीषहाः सततम्।
संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्तभीतेन ॥२०८॥ विशेषकम्-

अर्थ—जिसके चित्त में क्लेश नहीं है और जो क्लेश के निमित्त रूप संसार से भय भीत है ऐसे साधु को क्षुधा अर्थात भूख, तृषा अर्थात प्यास, शीत अर्थात जाड़ा, उष्ण अर्थात गर्मी, नग्न अर्थात नंगा रहना, याचना अर्थात मांगना, अरति अर्थात रागद्वेष का न होना, अलाभ अर्थात किसी वस्तु का प्राप्त न होना, मसक दंश अर्थात मच्छरों का काटना, आक्रोश अर्थात खोटे बचन, रोग अर्थात बीमारी, अंगमल अर्थात शरीर का मैल, तृण स्पर्श अर्थात कांटों का पैर में चुभना, अज्ञान अर्थात तपश्चरण करने पर भी पूर्ण ज्ञान का न होना, अदर्शन अर्थात बहुत तपश्चरण करने पर भी ऋद्धि सिद्धि के प्राप्त न होने से संयम के फल में शंका करना, प्रज्ञा अर्थात ज्ञान का मान करना, सत्कार पुरस्कार अर्थात आदर सत्कार चाहना और तिरस्कार में रंज करना, शय्या अर्थात भूमि पर शयन करना, चर्या अर्थात बिना सवारी के चलना, बध अर्थात बध बन्धनादि दुःख उठाना, निषद्या अर्थात भयंकर जंगल में रह कर भय मानना, स्त्री अर्थात स्त्री की सुंदरताई को देखकर आकर्षित होना, यह बाइस परीषह भी जीतने योग्य हैं।

गृहस्थों को उपदेश

इतिरत्नत्रयमेतत्प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन ।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषिता ॥२०९॥

अर्थ—अविनाशी मुक्ति के अभिलाषी गृहस्थी को इस प्रकार पूर्वोक्त सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र रूप रत्न त्रय एक देश भी निरंतर पालने योग्य है।

बद्धोद्यमेननित्यंलब्ध्वा समयं च बोधिलाभस्य ।
पदमवलम्ब्यमुनीनां कर्त्तव्यं सपदि परिपूर्णम् ॥२१०॥

अर्थ—रत्नत्रय के लाभ के समय को प्राप्त करके और मुनियों के चरण के सहारे निरंतर उद्यमवान गृहस्थी को यह विकल रत्नत्रय शीघ्र परिपूर्ण करने चाहियें।

असमग्रंभावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धोयः ।
सविपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११॥

अर्थ—विकल रत्न त्रय पालने वाले का जो कर्म बंध है वह राग भाव से होने पर भी मोक्ष का ही उपाय है, बंधन में पड़ने का उपाय नहीं है— भावार्थ-जिससे कमती रत्नत्रय पलता है वह भी मोक्ष का ही उपाय करता है संसार में रुलने का उपाय नहीं करता है, क्योंकि शुभ भाव के कारण वह पुन्य प्रकृत्ति ही का बंध करता है जो परम्परा मोक्ष का कारण है।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्यबन्धनंनास्ति ।
येनांशेन तुरागस्तेनांशेनास्यबन्धनं भवति ॥२१२॥

येनांशेन ज्ञानंतेनांशेनास्यबन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तुरागस्तेनांशेनास्यबन्धनं भवति ॥२१३

येनांशेन चरित्रंतेनांशेनास्यबन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तुरागस्तेनांशेनास्यबन्धनं भवति ॥२१४॥

अर्थ—इस आत्मा के जिस अंश से सम्यक् दर्शन है उस अंश से बन्धन नहीं है तथा जितने अंश से इसके राग है उस अंश से बन्धन होता है, जिस अंश से इसके ज्ञान है उस अंश से बन्धन नहीं है, और जिस अंश से राग है उस अंश से इसके बन्धन होता है, जितने अंश से इसके चारित्र है उस अंश से बन्धन नहीं है तथा जिस अंश से राग है उस अंश से बन्धन होता है।

योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धोभवतितु कषायात् ।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपंच ॥२१५॥

अर्थ—योग अर्थात मन बचन काय की क्रिया से प्रदेश बन्ध होता है, स्थिति बंध कषाय से होता है, सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र न योग रूप है और न कषाय रूप है भावार्थ—रत्नत्रय से न स्थिति बंध हो सक्ता है और न प्रदेश बंध ।

दर्शनमात्मविनिश्चितरात्मम परिज्ञानमिष्यते बोधः ।
स्थितिरात्मनिचारित्रंकुतएतेभ्यो भवतिबन्धः ॥२१६॥

अर्थ—अपनी आत्मा का निश्चय होना सम्यक दर्शन है, आत्मा का विशेष ज्ञान सम्यक ज्ञान है और आत्मा में स्थिरता सम्यक चारित्र है इन तीनों से कैसे बंध हो सक्ता है अर्थात् नहीं हो सक्ता है ।

सम्यक्त्वचरित्राभ्यां तीर्थङ्कराहारकर्म्मणोबन्धः ।
योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय ॥२१७॥

अर्थ—सम्यक्त्व और चरित्र से तीर्थंकर प्रकृति और आहार प्रकृति का जो बन्ध शास्त्र में कहा गया है वह भी नय के जानने वालों के दोष के वास्ते नहीं है ।

सतिसम्यक्त्वचरित्रे तीर्थङ्कराहारबन्धकौभवतः ।
योगकषायौनासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम् ॥२१८॥

अर्थ—सम्यक्त्व और चारित्र के होते हुवे तीर्थंकर और आहार प्रकृति के बंध के करने वाले योग और कषाय होते हैं और न होते हुवे नहीं होते हैं परन्तु वह सम्यक्त्व और चरित्र इस बंध में उदासीन अर्थात् अलग ही रहते हैं वे योग और कषाय के उत्पन्न कराने वाले नहीं हैं-दृष्टान्त-श्रीसिद्ध भगवान का गुणानुवाद करने से पुन्य बंध होता है परन्तु श्री भगवान पुन्य बंध के करने वा कराने वाले नहीं हैं वह उदासीन ही हैं ।

ननुकथमेवंसिद्ध्यतिदवायुः प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः ।
सकलजनसुप्रसिद्धोरत्नत्रयधरिणां मुनिवराणाम् ॥२१९॥

अर्थ—यहाँ कोई प्रश्न करता है कि सब मनुष्यों में जो यह बात भली भान्ति प्रसिद्ध है कि रत्नत्रय के धारी मुनियों को देवायु आदिक उत्तम प्रकृतियों का बन्ध होता है यह बात कैसे सिद्ध होगी-आगे इसका उत्तर देते हैं ।

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवतिनान्यस्य ।
आस्रवतियत्तुपुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥२२०॥

अर्थ—इस लोक में धर्म मोक्ष का ही कारण होता है अन्य गति का नहीं और जो पुन्य कर्म पैदा होते हैं वह शुभ उपयोग का ही अपराध है।

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्ध कार्य्ययोरपिहि ॥
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमितः ॥२२१॥

अर्थ—एक वस्तु में अत्यन्त विरोधी अर्थात् एक दूसरे से विरुद्ध दो कार्यों का मेल होने से एक भी दूसरे के समान कहलाया जाने लगता है, जैसे घी जलाता है, अर्थात घी का स्वभाव जलाने का नहीं है घी का स्वभाव तो गर्मी के कमती करने का ही है परन्तु यदि घी और अग्नि मिल जावें अर्थात् घी गर्म हो जावे और उस गर्म घी से किसी का शरीर जल जावे तो यह ही कहते हैं कि घी ने जलाया यद्यपि जलाया अग्नि ही ने जो घी के साथ शामिल थी।

सम्यक्त्व चरित्र बोधलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः ।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परमपदं पुरुषम् ॥२२२॥

अर्थ—इस प्रकार यह निश्चय और व्यवहार रूप सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान, सम्यक चारित्र लक्षण युक्त मोक्ष का मार्ग पुरुष को परम पद को प्राप्त कराता है ॥

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूप समवस्थितो निरुपघातः ।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः ॥२२३॥

अर्थ—परम पुरुष अर्थात् जिसने परम पद प्राप्त कर लिया है वह सदा निर्लेप अर्थात् कर्म रज के लेप से रहित अपने स्वरूप में अवस्थित निरुपघात अर्थात् जो किसी से घात नहीं हो सक्ता आकाश की तरह अत्यन्त निर्मल परम पद अर्थात् मोक्ष स्थान में प्रकाशमान होता है।

कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकल विषय विषयात्मा ।
परमानन्द निमग्नोज्ञानमयो नन्दतिसदैव ॥२२४॥

अर्थ—वह कृतकृत्य अर्थात् जिसको कुछ करना नहीं रहता है, सब पदार्थों का जानने वाला परम आनन्द में निमग्न और ज्ञानमय परमात्मा परमपद में अर्थात् मोक्ष में सदा ही आनन्द रूप रहता है।

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्वमितरेण ।
अन्तेनजयति जैनीनीतिर्मन्थान नेत्र मिवगोपी ॥२२५॥

अर्थ—जिस प्रकार दूध के विलोने वाली ग्वालिनी दूध बिलोने की रस्सी को एक हाथ से खींचती है और दूसरे से ढीला करती है, दोनों की क्रिया से मक्खन बनाने की सिद्धि करती है-इस ही प्रकार श्री जिनेंद्र की नीति वस्तु के तत्व को एक से अर्थात् सम्यक दर्शन से खींचती है और दूसरे से अर्थात सम्यक ज्ञान से ग्रहण करती है और अन्त कैसे अर्थात सम्यक चरित्र से जय को प्राप्त होती है।

अथवा इसका यह भी अर्थ है कि जिस प्रकार ग्वालनि दही बिलोते समय एक हाथ से मथानी की रस्सी को खींचती है और दूसरे हाथ से ढीली करती है इसही प्रकार जो वस्तु के स्वरूप को एक हाथ अर्थात द्रव्यार्थिक नय से खींचती है और दूसरे हाथ अर्थात पर्यायार्थिक नय से शिथिल करती है वह जैनियों की न्याय पद्धति जयवन्तीर है भावार्थ जिस प्रकार ग्वालिनी मक्खन बनाने रूप कार्य की सिद्धि के लिये दही मे मथानी (रई) चलाती है और वह उसकी रस्सी को जिस समय एक हाथ से अपनी तरफ़ खींचती है उस समय दूसरे हाथ को ढीला कर देती है और फिर जब दूसरे हाथ से अपनी तरफ़ खींचती है तब पहले को ढीला कर देती है परन्तु एक को खींचते समय दूसरे को सर्वथा छोड़ नहीं देती है इसही प्रकार जैन नीति जब द्रव्यार्थिक नय से वस्तु का ग्रहण करती है तब पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा वस्तु में उदासीन भाव धारण करती है और जब पर्यायार्थिक नय से ग्रहण करती है तब द्रव्यार्थिक की अपेक्षा उदासीनता धारण करता है परन्तु दोनों को पकड़े रखती है।

वर्णैःकृतानि चित्रैः पदानितुपदैः कृतानिवाक्यानि ।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः ॥२२६॥

अर्थ—नाना प्रकार के अक्षरों से पद बने और पदों से वाक्य बने और वाक्यों से यह पवित्र शास्त्र बना है हमने कुछ भी नहीं किया है— भावार्थ—इन वाक्यों से ग्रन्थकर्त्ता श्रीमान अमृत चंद्राचार्य ने ग्रन्थ रचने का अभिमान छोड़ कर अपनी लघुता प्रगट की है।

इति
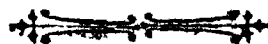
सर्वप्रकार के छपे हुए श्रीजैन ग्रन्थों के
मिलने का पता—

बाबू सूरजभानु वकील
देवबन्द जिला सहारनपुर।

द्रव्य संग्रह

सरल हिन्दी भाषा टीका सहित

जिसको

जैनसिद्धान्त प्रचारक मण्डली देवबन्द की तरफ से

बाबू सूरजभानु वकील ने छपवाया
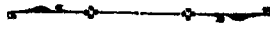
मूल्य ॥)
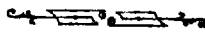
श्रीकाशी

चन्द्रप्रभा यन्त्रालय में गौरीशङ्कर लाल मेनेजर के
प्रबन्ध से छपा,

सन् १९०९

प्रस्तावना ।

द्रव्यसंग्रह यद्यपि ५८ गाथा का एक छोटासा ग्रन्थ है परन्तु श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ति आचार्य ने इस छोटे सेही ग्रन्थ में जैन सिद्धान्त का बहुत बड़ासार भरदिया है, यह ग्रन्थ भाषा कविता में भी रचा गया है और तत्त्वार्थ कथन को कण्ठ करने के वास्ते भाषा द्रव्यसंग्रह हमारे जैनी भाइयों में बहुत प्रसिद्ध है, हमारे नव युवकों को ऐसी पुस्तक की बहुत तलाश थी जो बहुत विस्तार रूप न हो और जिस की स्वाध्याय से जैन तत्त्वार्थ बहुत आसानी से समझ में आजावैं, अपने भाइयों की इस जरूरत को पूरा करने के वास्ते हमने यह टीका लिखी है और आशा करते हैं कि यह ग्रन्थ बहुत ही आसानी से सब भाइयों की समझ में आवैगा और इस ग्रन्थ को पढ़कर फिर अन्य किसी भी जैन ग्रन्थ की स्वाध्याय करने में मुश्किल नहीं पड़ैगी ।

इस टीका के लिखने में हमने इस बात का बहुत ज्यादा ख़याल रक्खा है कि जैन धर्म के मोटे मोटे सब ही विषय इस में आजावैं और उनका स्वरूप भी सबकी समझ में आसकै इस कारण जैन धर्म को जानने के वास्ते यदि इस पुस्तक को प्रथम पुस्तक कहाजावै तो बेजा नहीं है । आशा है कि इस पुस्तक का बहुत प्रचार होगा और इस के द्वारा हमारे बहुत भाई जैन धर्म के जानकार बनैंगे ।

इस ग्रन्थ की टीका लिखने में हम को बाबू जुगलकिशोर मुख्तार देवबन्द सम्पादक जैन गजट से बहुत मदद मिली है और उन्ही के द्वारा इसका संशोधन हुवा है इस कारण हम उन को धन्यबाद देते हैं ।

अन्त में हम बिद्वानों से प्रार्थना करते हैं कि इस टीका में जहां कहीं कुछ भी अशुद्धि हो उससे तुरन्त सूचित करैं जिस से आगामी आवृत्ति में वह सब अशुद्धियां दूर कर दीजावैं ।

देवबन्द
ता० २८—७—०९

सूरजभानु वकील ।

द्रव्य सङ्ग्रह

मंगलाचरण

जीवम जीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं ।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा ॥१॥

अर्थ—मैं सदा अपने मस्तक से उसको नमस्कार करता हूं जो जिनवरों में प्रधान है और जिसने जीव और अजीव द्रव्य का व्याख्यान किया है और जो देवों के समूह से वंदना किया जाता है

भावार्थ—जिन शब्द का अर्थ है जीतने वाला-मिथ्यात्व और रागादिक के जीतने वाले को जिन कहते हैं। इस हेतु अव्रतसम्यग्दृष्टि, व्रतीश्रावक और मुनि भी एक देशी जिन कहे जा सक्ते हैं इन में गणधर आदिक श्रेष्ट जिन अर्थात जिनवर हैं इनके भी प्रधान श्री तीर्थंकर देव हैं जिनको इन्द्र भी बंदना करते हैं उन्हीं श्रीतीर्थंकर भगवान को इस गाथा में नमस्कार किया है। वह ही धर्म तीर्थ के चलाने वाले हैं। वस्तु स्वभाव का नाम धर्म है। वस्तु दो ही प्रकार की हैं एक जीव और दूसरी अजीव इन ही दोनों प्रकार की वस्तु का भिन्न भिन्न स्वभाव श्रीतीर्थंकर भगवान ने बर्णन किया है जिससे जीवों का मिथ्यात्व अंधकार दूर होकर वस्तु का सत्य स्वरूप ज्ञात हुवा है और सत्य धर्म की प्रवृत्ति हुई है। इसलिये श्रीतीर्थंकर भगवान के उपकार के स्मरणार्थ श्रीनेमिचंद्रा चार्य ने यह मंगला चरण किया है।

इस ग्रन्थ का प्रयोजन भी जीव और अजीव के ही सत्य स्वरूप को श्रीतीर्थंकर भगवान की बाणी के अनुसार बर्णन करना है।

प्रथम अधिकार।

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥२॥

अर्थ—जो जीव है, उपयोगमयहै, अमूर्त्तीकहै, कर्त्ताहै, अपनी देह परिमाणहै, भोक्ताहै, संसारमें स्थित होनेवाला है सिद्धहै और ऊर्ध्व गमन स्वभाव वाला है, वह जीव है।

भावार्थ—इस गाथा में समुच्चयरूप जीव के ९ प्रकार के गुणों का बर्णन किया है। आगामी गाथाओं में प्रत्येक गुण की भिन्न २ व्याख्या की है इस हेतु यहां इनका भावार्थ लिखने की आवश्यक्ता नहीं है।

(१) जीव है इसका बर्णन गाथा ३ में है (२) उपयोग मय है इसका वर्णन गाथा ४, ५, ६ में है (३) अमूर्त्तीक है इसका वर्णन गाथा ७ में है (४) कर्त्ता है इसका बर्णन गाथा ८ में है (५) भोक्ता है इसका बर्णन गाथा ९ में है (६) देह परिमाण है इसका वर्णन गाथा १० में है (७) संसार स्थित है इसका वर्णन गाथा ११, १२, १३ में है (८, ९) सिद्ध है और ऊर्ध्वगमन स्वभावी है इन दोनों बिषय का बर्णन गाथा १४ में है।

तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउआणपाणोय।
ववहारासो जीवो णिच्छयणायदो दु चेदणाजस्स ॥३॥

अर्थ—जो तीन काल में अर्थात सदा इन्द्रिय, बल, आयु और श्वांसोच्छास इन चारों प्राणों को धारण करता है वह व्यवहार नय से जीव है और निश्चय नय से जिसके चेतना है वह ही जीव है॥

भावार्थ—बिना किसी दूसरी वस्तु की मिलावट वा अपेक्षा के वस्तु के असली स्वभाव को बर्णन करना निश्चय नय कहाती है और किसी दूसरी वस्तु से मिलकर जो वस्तु का रूप हो जाता है उस रूप को वर्णन करना वा किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा से कथन करना व्यवहार नय है। जीवात्मा अपने निज स्वभाव से शुद्ध चैतन्य स्वरूप है तीन लोक की सर्व वस्तु को जानने वाला है जानने के वास्ते उसको आंख, नाक आदिक इन्द्रियों की ज़रूरत नहीं है वह अपनी ही निज शक्ति से सर्व वस्तु को देखता जानता है परन्तु रागद्वेष आदिक भावों के कारण संसारी जीव कर्मों के बश होकर देह के क़ैदखाने में क़ैद हो रहे हैं और उनकी ज्ञान शक्ति कम होकर उनको वस्तुओं को जानने के वास्ते आंख, नाक आदिक इन्द्रियों की ज़रूरत होती है जैसे कि बूढ़े कमज़ोर को चलने के वास्ते लाठी की वा देखने के वास्ते एनक लगाने की ज़रूरत हो जाती है।

संसारी जीव के देह अवश्य होती है इसही से उसके चार बातें अवश्य होती हैं (१) किसी इन्द्री का होना (२) किसी प्रकार का शारीरिक बल का होना (३) आयु अर्थात् एक शरीर में रहने का नियमित समय (४) सांस का लेना-इनही चारों बातों से संसारी जीव जाने जाते हैं यह जीव के प्राण हैं।

इन्द्रिय पांच प्रकार की हैं-(१) त्वचा अर्थात् जो वस्तु को छू कर ठंडा, गरम, चिकना, रूखा, मुलायम, और कठोर (कड़ा) भारी और हलका जाने (२) जिह्वा-अर्थात् जो चख कर चरपरा, कडुआ, कषायला, खटा और मीठा पहचाने (३) नासिका-अर्थात जो नाक से सूंघ कर सुगन्ध और दुर्गन्ध मालूम करे (४) चक्षु-अर्थात् जो देख कर सुफेद, नीला, पीला, लाल और काला रंग मालूम करे (५) कर्ण-अर्थात जो अनेक प्रकार के शब्दों को सुनै इस प्रकार पांच इन्द्रिय हैं-छटा मन है वह भी एक प्रकार से इन्द्री कहलाता है।

बल तीन प्रकार का है मनबल, वचनबल और कायबल।

एकेन्द्रिय जीव में चार प्राण है-स्पर्शनइन्द्रिय, आयु, कायबल और श्वासोच्छ्वास।

दो इन्द्रिय में रसना इन्द्रिय और वचन बल मिल कर छः प्राण हैं।

ते इन्द्रियें में नासिका इन्द्रिय बढ़ कर सात प्राण हैं।

चौ इन्द्रिय में चक्षु इन्द्रिय बढ़ कर आठ प्राण हो जाते हैं।

पंचेंद्रिय दो प्रकार है मन वाले (संज्ञी) और विना मन वाले (असंज्ञी) विना मन वाले पंचेंद्रिय में कान इन्द्रिय बढ़ कर ९ प्राण होते हैं और मन वाले पंचेंद्रिय में मन सहित दस प्राण हो जाते हैं।

संसार में जीवों का जन्म तीन प्रकार से होता है गर्भ, सम्मूर्च्छन और उपपाद स्त्री के उदर में माता के रुधिर और पिता के वीर्य के संयोग से पैदा होना गर्भ जन्म है-बिना गर्भ के अनेक वस्तुओं के मिलने से शरीर बन जाना सम्मूर्च्छन जन्म है जैसे खाट में खटमल और सिर में जू मैल से पैदा हो जाता है। देव और नारिकियों का जन्म उपपाद है उनका वैक्रियक शरीर होता है वह माता पिता के रज वीर्य के बिना देव नारकियों के खास स्थानों में जन्म समय तुरंत ही बन जाता है।

सारांश यह है कि जीव किसी ही प्रकार पैदा हों परन्तु प्राणों के धारी सब होते हैं।

उवओगो दुवियप्पो दंसणणाणं च दंसणं चदुधा।
चक्खु अचक्खु ओही दंसणमध केवलं णेयं ॥४॥

अर्थ--उपयोग दो प्रकार का है १ दर्शन और २ ज्ञान। दर्शन चार प्रकार है चक्षु, अचक्षु, अवधि, और केवल।

भावार्थ--जानने का नाम उपयोग है। इन्द्रियों के द्वारा जब हम किसी वस्तु को जानते हैं तब प्रथम हम को यह मालूम होता है कि कोई वस्तु है परन्तु यह मालूम नहीं होता कि क्या वस्तु है? जैसे सुफ़ेद झंडी को देख कर यह मालूम होता है कि कोई सुफ़ेद वस्तु है परन्तु यह मालूम नहीं होता है कि क्या वस्तु है? इसको **अवग्रह** मति ज्ञान कहते हैं अवग्रह से भी पहले जो ज्ञान होता है उसको दर्शन कहते हैं। जैसे सुफ़ैद झंडी को देख कर प्रथम यह मालूम हुवा कि कोई सुफ़ैद वस्तु है परन्तु यह मालूम नहीं हुवा कि क्या वस्तु है अवग्रह है परन्तु कोई सुफ़ेद वस्तु है इतना जानने से भी पहले क्षण में इतना मालूम हुवा कि वस्तु है। इस बात का कुछ भी बोध नहीं हुवा था कि सुफ़ैद है वा काली है वा किस आकार की है और क्या है? इसही को दर्शन कहते हैं। वस्तु की सत्ता मात्र के ज्ञान का नाम दर्शन है। जब तक इतना ही ज्ञान होता है कि कुछ है उसके रूप, रस, गंध और वर्ण का कुछ बोध नहीं होता है अर्थात जब तक किसी वस्तु की कल्पना नहीं होती है कि क्या है तभी तक दर्शन कहलाता है और जब वस्तु का बोध होने लगता है कि क्या है तब ही वह ज्ञान कहलाने लगता है इसही हेतु निर्विकल्प सत्ता मात्र के ज्ञान को दर्शन और सविकल्प को ज्ञान कहते हैं।

इन्द्रियों से जो ज्ञान होता है उसका प्रथम दर्शन अवश्य होता है परन्तु श्री केवली भगवान को तीन लोक और तीन लोक से बाहर अलोक की सर्व वस्तु और सर्व वस्तुओं की भूत, भविष्यत और वर्त्तमान अवस्था का ज्ञान पूर्ण रूप से होता है उनके ज्ञान से कोई वस्तु बची नहीं रहती है इस हेतु उनके ज्ञान में दर्शन और ज्ञान का भेद हो ही नहीं सक्ता है अर्थात उनका ज्ञान ऐसा नहीं होता है जैसा हम किसी वस्तु को जानने के वास्ते प्रथम क्षण में यह जानते हैं कि कुछ है और दूसरे क्षण में कुछ विशेष है और दूसरे क्षण में कुछ विशेष जानते जानते क्रम क्रम से वस्तु का बोध करते हैं श्रीकेवली भगवान तो सर्व वस्तुओं की बीती हुई और आगामी होने वाली दशाओं को भी और वर्त्तमान और दशा को भी एक ही काल में जानते हैं इस हेतु उनका ज्ञान तो क्रम रूप हो ही नहीं सक्ता है और उन में दर्शन का होना बनता ही नहीं है परन्तु दर्शन को ढकने वाला दर्शणावरणी और ज्ञान को ढकने वाला ज्ञानावरणी यह दो कर्म अलग २ हैं और इन दोनों कर्मों के नाश होने से सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है इस हेतु श्री सर्वज्ञ देव के ज्ञान के भी दो भेद अर्थात केवल दर्शन और केवल ज्ञान किये गये हैं।

दर्शन चार प्रकार है (१) **चक्षु दर्शन** अर्थात आंख से देखना (२) **अचक्षु दर्शन** अर्थात आंख के सिवाय अन्य इन्द्रियों से किसी वस्तु की सत्ता मात्र का अवलोकन करना (३) **अवधि दर्शन** अर्थात अवधि द्वारा रूपी पदार्थों की सत्ता मात्र का एक देश प्रत्यक्ष अवलोकन करना (४) **केवल दर्शन** अर्थात केवल द्वारा रूपी अरूपी समस्त पदार्थों की सत्ता सामान्य का प्रत्यक्ष अवलोकन करना।

णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदि ओही अणाणणाणाणि।
मणपज्जय केवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च ॥५॥

अर्थ--ज्ञान आठ प्रकार है कुमति, कुश्रुति, कुअवधि, मति, श्रुति, अवधि, मनः पर्यय और केवल-इन में कुअवधि, अवधि, मनः पर्यय और केवल यह चार ज्ञान प्रत्यक्ष हैं और कुमति, मति, कुश्रुति, और श्रुति यह चार ज्ञान परोक्ष है।

भावार्थ—ज्ञान के पांच भेद हैं-मति, श्रुति, अवधि, मनः पर्यय और केवल परन्तु मति, श्रुति और अवधि यह तीन ज्ञान मिथ्या दृष्टि और सम्यक् दृष्टि दोनों के हो सक्ते हैं और मनः पर्यय और केवल यह दो ज्ञान सम्यक् दृष्टि के ही होते हैं। मिथ्या दृष्टि का ज्ञान कुज्ञान अर्थात खोटा ज्ञान कहलाता है इस से मति, श्रुति और अवधि यह तीन ज्ञान जब मिथ्या दृष्टि के होते हैं तो कुमति, कुश्रुति और कुअवधि कहलाते हैं-इस रीति से पांच ज्ञान में यह तीन कुज्ञान मिल कर ज्ञान के आठ भेद हो गये।

इन्द्रियों तथा मन से जो कुछ जाना जाता है उसको **मति ज्ञान** कहते हैं और मति ज्ञान से वस्तु को जान कर उसही जानी हुई बात के सम्बंध से अन्य बात को जानना **श्रुति ज्ञान** है जैसे शीतल पवन का स्पर्श हमारे शरीर से हुवा तब त्वचा इन्द्रिय द्वारा हमने पवन के शीतलपने को जाना यह तो मति ज्ञान है परन्तु यह जानना कि यह शीतल पवन लाभ दायक है वा हानि कारक है यह श्रुतिज्ञान है इसही प्रकार किसी ने हमको हमारा नाम लेकर आवाज़ दी कि सूरजभान यह शब्द हमारे कान से स्पर्श करके हमको सूरजभान शब्द का ज्ञान हुवा कि कोई सूरजभान कहता है परन्तु यह जानना कि सूरजभान हमारा नाम है। इस कारण वह हमको आवाज़ देता है यह श्रुति ज्ञान है।

मति और श्रुतिज्ञान प्रत्येक जीव को होता है कोई जीव इन दोनों प्रकार के ज्ञान से बचा हुआ नहीं है। हां इतना अवश्य है कि किसी जीव में यह ज्ञान अधिक

होते हैं और किसी में कमती यहां तक कि लब्धि अपर्याप्तक निगोदिया जीव को एक अक्षर का अनन्तवां भाग अर्थात नाम मात्र ही श्रुतिज्ञान होता है।

इन्द्रियों के सहारे के बिदून आत्मीक शक्ति से रूपी पदार्थ अर्थात पुद्गल पदार्थ के जानने को अवधि ज्ञान कहते हैं। देव, नार की और श्री तीर्थंकर भगवान को यह ज्ञान जन्म दिन से ही होता है इस कारण इन तीनों के अवधि ज्ञान को भव प्रत्यय अवधि ज्ञान कहते हैं। मन इन्द्रिय वाले पंचेंद्रिय जीव को जिसकी इन्द्रियां पूर्ण किसी गुण के कारण अर्थात् किसी प्रकार के तप से यदि अवधि ज्ञान प्राप्त हो तो उसको गुण प्रत्यय अवधि ज्ञान कहते हैं।

किसी मनुष्य ने जो कुछ अपने मन में चिन्तवन किया था वा चिन्तवन कर रहा है वा आगामी को चिन्तवन करैगा उसको जानना मनःपर्य्यय ज्ञान है। छठे गुण स्थान से बारहवें गुण स्थान तक वाले मुनि को यह मनः पर्य्यय ज्ञान हो सक्ता है। गुण स्थान का वर्णन आगे किया जावेगा।

लोक अलोक की भूत, भविष्यत और वर्तमान सर्व वस्तुओं को और सर्व वस्तुओं के सर्व गुण पर्य्याय को जानना केवल ज्ञान है। केवल ज्ञान में कोई वस्तु जानना बाकी नहीं रहती है।

अवधि, मनःपर्य्यय और केवल यह तीन ज्ञान इन्द्रियों के सहारे के बिदून आत्मीक शक्ति से साक्षात रूप होते हैं इस हेतु इनको प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं परन्तु मति और श्रुति यह दो ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होते हैं इस कारण परोक्ष कहलाते हैं। मति ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहते हैं॥

अट्ठ चदु णाण दंसण सामण्णं जीवलक्खणंभणियं।
ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं ॥६॥

अर्थ-आठ प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन का जो धारक है वह जीव है यह व्यवहार नयं से सामान्य जीव का लक्षण वर्णन किया गया है और शुद्धनय से शुद्ध ज्ञान, दर्शन ही जीव का लक्षण है।

भावार्थ—जीव का असली स्वभाव सर्व वस्तु का जानना अर्थात केवल ज्ञान है। जिस में ज्ञान और दर्शन दोनों गर्भित हैं। परन्तु संसारी जीवों के ज्ञान पर कर्मों का पटल पड़ा हुवा है। जितना २ वह पटल दूर होता है उतना उतनाही ज्ञान प्रकट होता है इस ही कारण ज्ञान में कमती बढ़ती होने से ज्ञान और दर्शन के अनेक भेद हो गये हैं।

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठणिच्छयाजीवे ।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधा दो ॥७॥

अर्थ-निश्चय से जीव में पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध, आठ स्पर्श यह २० गुण नहीं हैं इसलिये जीव अमूर्तीक ही है परन्तु बंध के कारण व्यवहार नय से जीव मूर्तीक है ।

भावार्थ-वह ही पदार्थ मूर्तीक कहाता है जिसमें वर्ण, रस, गंध और स्पर्श हो। वर्ण पांच प्रकार का है। सुफैद, नीला, पीला, लाल और काला। रस भी पांच प्रकार का है। चरपरा, कडुवा, कषायला, खट्टा और मीठा। गंध दो प्रकार का है सुगंध और दुर्गंध। स्पर्श आठ प्रकार का है। ठंडा, गरम, चिकना, रूखा, मुलायम, कठोर, भारी और हलका।

जिस वस्तु में उपरोक्त बात न हो वह अमूर्तीक है रूप, रस, गंध और स्पर्श पुद्गल पदार्थ में ही होते हैं इस हेतु पुद्गल द्रव्य ही मूर्तीक है पुद्गल के सिवाय और कोई वस्तु मूर्तीक नहीं है। और जीव भी मूर्तीक नहीं है अर्थात अमूर्तीक है।

परन्तु संसारी जीव कर्म बंधन में बंधा हुआ है। कर्म पुद्गल है अर्थात मूर्तीक है। कर्म जीव के साथ सम्मिलित हो रहे हैं इस हेतु संसारी जीव को मूर्तीक भी कह सक्ते हैं। जैसा कि जल शीतल है परन्तु अग्नि पर तपाने से अग्नि के परमाणु जल में सम्मिलित हो जाते हैं और गरम होकर जल भी अग्नि की भांति गरम कहलाने लगता है।

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदोदु णिच्छयदो ।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणम् ॥ ८ ॥

अर्थ—व्यवहार नय से आत्मा पुद्गलकर्म आदि का कर्त्ता है निश्चय नय से चेतनकर्म का करने वाला है और शुद्ध नय से शुद्ध भावों का करने वाला है।

भावार्थ—राग द्वेष आदिक भाव आत्मा का निज भाव नहीं है इस कारण यदि आत्मा का शुद्ध स्वभाव वर्णन किया जावै तो वह राग, द्वेष, अर्थात मान, माया, लोभ और क्रोध आदिक किसी भी भाव का करने वाला नहीं है बरण केवल ज्ञान और केवल दर्शन से सर्व वस्तुओं को बिना राग द्वेष के देखने जानने वाला है यह ही आत्मा का शुद्ध भाव है-यह शुद्ध निश्चय नय का कथन कहलाता है।

परन्तु कर्म वश होकर जीव में मान, माया, लोभ और क्रोध आदिक कषाय उत्पन्न होती हैं-यह कषाय चैतन्य में ही उत्पन्न हो सक्ती हैं जड पदार्थ में क्रोध आदिक कोई भी कषाय उत्पन्न नहीं हो सक्ता है-इस कारण यह जीव मान, माया, लोभ और क्रोध आदिक चैतन्य कर्मों का करने वाला है परन्तु यह कषाय उस का निज भाव नहीं है-कर्मों के उदय से जीव में विकार उत्पन्न हो कर ही यह कषाय उत्पन्न होता है इस हेतु अशुद्ध निश्चय नय से ही जीव इन कषाय भावों का करने वाला कहा जाता है।

क्रोध, मान, माया, और लोभ आदिक कषायों के करने से पुद्गल कर्म उत्पन्न होते हैं और आत्मा के साथ उनका बन्ध होता है कर्मों के उदय से ही शरीर उत्पन्न होता है और जीव देहधारी होता है देह से अनेक प्रकार की क्रिया उठना, बैठना, चलना, हिलना, तोडना, फोडना, जोडना, मिलाना आदिक करता है और महल, मकान, कपडा, लत्ता, बर्त्तन आदिक बनता है इस कारण इन सब का करने-वाला भी जीवात्मा ही है-परन्तु यह सब क्रिया शरीर और पुद्गल कर्म के द्वारा होती है इस हेतु जीवात्मा को इन क्रियाओं को करने वाला व्यवहार नय से ही कह सक्ते हैं निश्चयनय से नहीं कह सक्ते।

ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि।
आदाणिच्चयणयदो चेदणभावं खु आदस्स ॥९॥

अर्थ-आत्मा व्यवहार नय से सुख दुःख रूप पुद्गल कर्मों के फल को भोगने वाला है और निश्चय नय से अपने चेतन स्वभाव को ही भोगने वाला है।

भावार्थ—आत्मा का असली स्वभाव राग द्वेष आदि भावों से भिन्न है अपनी शुद्ध अवस्था में तो जीवात्मा रागद्वेष रहित होकर केवल ज्ञान और केवल दर्शन का ही परम आनन्द भोगता है अर्थात् ज्ञानानन्द ही जीवात्मा का भोग है। यह कथन निश्चय नय से है। परन्तु कर्मों के वश होकर संसारी जीव अपने निज स्वभाव में नहीं है उस में विकार उत्पन्न हो रहा है और राग और द्वेष पैदा हो गया है इस हेतु सुख दुःखको अनुभव करता है। यह सुख दुःख का अनुभव जीव में ही हो सक्ता है शरीर जो पुद्गल है और अचेतन है उसको सुख वा दुःख का अनुभव नहीं हो सक्ता है क्योंकि किसी भी अचेतन पदार्थ को सुख दुःख का अनुभव नहीं हो सक्ता सुख, दुःख का

अनुभव करने वाला तो चेतन जीवात्मा ही है अर्थात कर्मों के फल को भोगने वाला जीवात्मा ही है परन्तु यह जीव का निज स्वभाव नहीं है इस हेतु जीव को सुख दुःख का भोगने वाला व्यवहार नय से ही कहा जाता है।

अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।
असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसोवा॥१०॥

अर्थ--व्यवहार नय से यह जीव समुद्घात अवस्था के सिवाय अन्य अवस्था में संकोच तथा विस्तार से अपने छोटे और बड़े शरीर के प्रमाण रहता है और निश्चय नय से यह जीव असंख्यात प्रदेशों का धारक है।

भावार्थ—पुद्गल पदार्थ के सब से छोटे से छोटे विभाग को परमाणु कहते हैं- जितने स्थान को एक परमाणु रोके उसको प्रदेश कहते हैं तीन लोक के असंख्यात प्रदेश हैं तीन लोक में फैल जाने की जीव में शक्ति है इस हेतु जीव के असंख्यात प्रदेश हैं—यह कथन निश्चयनय से है परन्तु कर्मों के बश संसारी जीव देह धारी होता है-हाथी की देह बहुत बड़ी है और कीड़ी की बहुत छोटी इसही प्रकार अनेक जीवों की देह भिन्न २ प्रकार की है-कर्मों के वश संसारी जीव ८४ लाख योनियों में भ्रमण करता है कभी मनुष्य बनता है और कभी बृक्ष कभी हाथी बनता है और कभी घोड़ा अर्थात् कभी इस को छोटा शरीर मिलता है और कभी बड़ा कभी किसी आकार का और कभी दूसरे प्रकार का-जीव में संकोच विस्तार की अर्थात् सुकड़ने और फैलने की शक्ति है इस कारण जितना छोटा या बड़ा शरीर मिलता है यह जीव उतनाही बन जाता है यह कथन व्यवहार नय से है मनुष्य शरीर से ही मुक्ति होती है-मुक्ति के समय जिस आकार का शरीर होता है वह ही आकार अर्थात् उतनीही लम्बाई चौड़ाई मुक्ति जीव के प्रदेशों की सिद्ध अवस्था में रहती है क्योंकि यद्यपि जीव की शक्ति तीन लोक में फैल जाने की है परन्तु मुक्त होने पर अपने आकार को बढ़ाने अर्थात् फैलने या कोई विशेष आकार बनाने का कोई कारण नहीं है इस हेतु मुक्ति होते समय शरीर छोड़ने पर जो आकार शरीर का था उसही के समान जीव का आकार बना रहता है।

संसारी जीव का आकार सदा देह के अनुसार होता है अर्थात् जैसी देह मिलती है उसही में जीव व्यापक रहता है न तो देह से बाहर होता है और न देह का कोई अंग जीव से खाली रहता है परन्तु समुद्घात के समय जीव देह के अन्दर भी रहता है और देह से बाहर भी फैल जाता है—समुद्घात सात प्रकार का होता है-(१) वेदना (२) कषाय (३) विक्रिया (४) मारणान्तिक (५) तैजस (६) आहारक (७) केवली—

समुद्घात

तीव्र वेदना अर्थात अधिक दुःख की अवस्था में मूल शरीर को त्यागन कर जीव के प्रदेशों का शरीर से बाहर फैलना वेदना समुद्घात है—

क्रोधादिक तीव्र कषाय के उदय से धारण किये हुए शरीर को न छोड़कर जीव के प्रदेशों का शरीर से बाहर फैलना कषाय समुद्घात है—

जिस शरीर को जीवने धारण कर रखा है उस का त्यागन करके जीव के कुछ प्रदेशों का किसी प्रकार की विक्रिया करने के अर्थ शरीर से बाहर फैक जाना विक्रिया समुद्घात है—

मरण समय जीव तुरंत ही शरीर को नहीं त्यागता है बरण शरीर में रहते हुवे शरीर से बाहर उस स्थान तक फैलता है जहां इस को जन्म लेना है-इसको मरणान्तिक समुद्घात कहते हैं —

तैजस समुद्घात दो प्रकार का है एक शुभ और दूसरा अशुभ, जगत को रोग वा दुर्भिक्ष आदि से पीड़ित देखकर महा मुनि को कृपा उत्पन्न होने से जगत को पीड़ा का कारण दूर करने के अर्थ उनकी आत्मा शरीर में रहती हुई उनके दक्षिण कंध से निकले हुए पुरुषाकार तैजस शरीर के साथ शरीर से बाहर भी फैलती है और जगत की पीड़ा का कारण दूर करके फिर संकोच कर शरीर के बराबर ही रह जाती है-इसको शुभ तैजस कहते हैं-महा मुनि को किसी कारण से क्रोध उत्पन्न होने पर जिस वस्तु पर क्रोध हुवा है उसको नष्ट करने के अर्थ उनका जीव शरीर में रहते हुवे उनके बाम स्कंध से निकले हुए सिंदूर कीकांति को लिये पुरुषाकार तैजस शरीर के साथ शरीर से बाहर भी फैलता है और जिस वस्तु पर क्रोध था उसको नष्ट कर महा मुनि के शरीर को भी भस्म कर देता है और वह तैजस शरीर का पुतला आप भी भस्म हो जाता है यह अशुभ तैजस समुद्घात है—

परम ऋद्धि के धारी महा मुनि को जब किसी विषय में कोई शंका उत्पन्न हो तब उनका जीव शरीर में रहते हुवे उनके मस्तक से निकले हुए स्फटिक वर्णा एक हाथ प्रमाण पुरुषा कार आहारक शरीर के साथ, शरीर से बाहर भी फैले और जहां कहीं श्री केवली भगवान हों वहां तक पहुंच कर अपनी शंका निवारण करके फिर शरीर में प्रवेश कर जावे इसको आहारक समुद्घात कहते हैं—

केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर जीवात्मा जो दंड, कपाट और प्रतर नामक क्रिया द्वारा फैलती है उसको केवल समुद्घात कहते हैं—

इन सात समुद्घातों के सिवाय अन्य किसी प्रकार भी जीवात्मा शरीर से बाहर नहीं फैलता है-

पुढविजलतेयवाओ वणप्फदी विविहथावरे इंदी ।
विगतिगचदुपचंक्खा नसजीवा होंति संखादी ॥११॥

अर्थ—पृथिवी, जल, तेज, वायु और बनस्पति इन भेदों से नाना प्रकार के स्थावर जीव हैं यह सब एकेंद्रिय हैं अर्थात् एक स्पर्शन इंद्रिय के ही धारक हैं तथा दो, तीन, चार और पांच इन्द्रियों के धारक त्रस जीव होते हैं जैसे शंख आदिक

भावार्थ—संसारी जीव दो प्रकार के हैं एक स्थावर जो अपनी इच्छा से चल फिर नहीं सक्ते हैं और दूसरे त्रस जो चल फिर सक्ते हैं-इन्द्रिय पांच हैं स्पर्शन

(त्वचा) रसन (ज़बान) घ्राण (नाक) चक्षु, (आंख) कर्ण (कान)—स्थावर जीवों में एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है और कोई इन्द्रिय नहीं होती-स्थावर जीव पांच प्रकार के हैं-(१) **पृथिवीकाय**-अर्थात पृथिवी ही जिनकी काया है (२) **जलकाय** अर्थात् जलही जिनकी काया है (३) **तेजकाय**-अर्थात् अग्नि ही जिनकी काया है (४) **वायुकाय**-अर्थात् वायु ही जिनकी काया है-यह चारों प्रकार के जीव बहुत सूक्ष्म होते हैं और पृथिवी-जल-तेज और वायु के रूप में रहते हैं-(५) **वनस्पति** अर्थात् वृक्ष-बड़े भी होते हैं और अति सूक्ष्म भी होते हैं-निगोदिया जीव जो अति सूक्ष्म होते हैं वह भी बनस्पति काय ही हैं, **दो इन्द्रिय** जीवों में स्पर्शन और रसन अर्थात त्वचा और जिह्वा यह दो इन्द्रिय होती हैं-शंख कृमि आदिक जीव दो इन्द्रिय हैं- **तेइन्द्रिय** जीवों में स्पर्शन- रसन और घ्राण यह तीन इन्द्रिय होती हैं-कीड़ी, जूं और खटमल आदिक जीव तेइन्द्रिय हैं-**चौइन्द्रिय** जीवों में स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु अर्थात् नेत्र यह चार इन्द्रिय होती हैं-डांस, मच्छर, मक्खी, और भौंरा आदिक जीव चौइन्द्रिय हैं-**पंचेन्द्रिय** जीवों में स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कर्ण यह पांचों इन्द्रिय होती हैं घोड़ा, बैल और मनुष्य आदिक पंचेन्द्रिय हैं—

समणा अमणा णेया पंचिंदिया णिम्मणापरेसव्वे
बादरसुहमेइंदी सव्वेपज्जत्तइदराय ॥ १२ ॥

अर्थ—पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी ऐसे दो प्रकार के हैं,दो इन्द्रीय तेइन्द्रिय और चौइन्द्रिय यह सब असंज्ञी (मनरहित) हैं-एकेन्द्रिय बादर और सूक्ष्म दो प्रकार के हैं और यह सातों प्रकार के जीव पर्याप्त तथा अपर्याप्त हैं।

भावार्थ—एक, दो, तीन, चार इन्द्रिय वाले जीवों के मन नहीं होता है, मन पंचेंद्रिय जीव के ही हो सक्ता है, पंचेंद्रिय भी कोई मन वाले हैं और कोई बिना मन वाले हैं मन वाले संज्ञी और बिना मन वाले असंज्ञी कहलाते हैं, एकेन्द्रिय अर्थात् स्थावर जीव दो प्रकार के होते हैं एक बादर अर्थात् स्थूल जो दृष्टि आसकें और दूसरे सूक्ष्म इस प्रकार जीवों के सात भेद हुवे (१) बादर एकेन्द्रिय (२) सूक्ष्म एकेन्द्रिय (३) दोइन्द्रिय (४) तेइन्द्रिय (५) चौ इन्द्रिय (६) संज्ञीपंचेंद्रिय (७) असंज्ञी पंचेंद्रिय।

शरीर के अवयवों के बन जाने को **पर्याप्त** कहते हैं, पर्याप्ती छै हैं-आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोछ्वास, भाषा और मन इन में से जिस जीव के जितने बनने योग्य होते हैं उनके बन कर पूर्ण हो जाने पर वह जीव प्रयाप्त कहलाता है और इनके बनने से पहले अपर्याप्त कहलाता है॥ गोमट्टसार आदिक महान ग्रन्थों में पर्याप्त और अपर्याप्त

दोनों अवस्थाओं की बाबत भिन्न २ वर्णन विस्तार के साथ किया है और उपर्युक्त सात प्रकार के जीवों के दो दो भेद पर्याप्त और अपर्याप्त करके १४ प्रकार के जीव वर्णन किये गये हैं जिसको जीव समास कहते हैं

एकेंद्रीय में भाषा और मन के सिवाय चार पर्याप्ती होती हैं

दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय में भाषा मिलकर पांच पर्याप्ती होती हैं और संज्ञी में मन मिलकर छहों पर्याप्ती हैं

मग्गण गुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणाया
विण्णेया संसारी सव्वेसुद्धा हु सुद्ध णया ॥ १३ ॥

अर्थ—संसारी जीव अशुद्धनय से मार्गणास्थान और गुण स्थानों से चौदह २ प्रकार के होते हैं और शुद्धनय से शुद्धही हैं।

भावार्थ—यदि जीव का निज स्वभाव देखा जावे तो वह शुद्ध है और ज्ञान स्वरूप है इस के सिवाय और कोई भेद उस में नहीं है यह शुद्धनय का कथन है परन्तु अशुद्धनय से संसारी जीव के अनेक रूप और अनेक दशा होती है

जीव की संसार सम्बन्धी अवस्था की अपेक्षा महान ग्रन्थों में १४ बातों का कथन किया है जिसको मार्गणा स्थान कहते हैं और जीव के गुणों की अपेक्षा भी उस के १४ दर्जे किये हैं जिसको गुण स्थान कहते हैं

१४ मार्गणा

१४ मार्गणा इस प्रकार हैं-गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा, और आहार- अब इनका संक्षेप से अलग २ वर्णन करते हैं।

१—गति-एक पर्याय से दूसरे पर्याय में जाने का नाम गति है संसारी जीव की सब पर्यायों के मोटे रूप चार विभाग किये गये हैं नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव यह ही चार गति कहलाती हैं।

नरक में रहने वाले नारकी हैं, स्वर्ग में रहने वाले देव हैं, नारकी, देव और मनुष्य के सिवाय जितने संसारी जीव हैं वह सब तिर्यंच कहलाते हैं।

२—इन्द्रिय-स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच इन्द्रिय हैं एकेंद्रिय, द्वीद्रिंय, चतुरिन्द्रिय और पंचेंद्रिय के भेद से इंद्रिय मार्गणा पांच पूकार हैं।

३—**काय**-पृथिवी काय, जलकाय, तेजकाय, वायुकाय, बनस्पति काय और त्रसकाय इस प्रकार छे प्रकार की काय हैं-एकेंद्री के सिवाय सब जीव त्रस काय हैं बनस्पति काय के जीव दो प्रकार के हैं एक प्रत्येक अर्थात एक वृक्ष में एकही जीव, दूसरे साधारण अर्थात् एक बनस्पति में अनन्त जीव, यह अनन्त जीव एक साथ ही पैदा होते हैं और एक साथ ही मरते हैं और सब एक साथ ही सांस लेते हैं, जितनी देर में हम एक सांस लेते हैं उतनी देर में इन जीवों का १८ बार जन्म मरण हो जाता है यह जीव निगोदिया कहाते हैं।

४—**योग**-शरीर के सम्बन्ध से आत्मा का हिलना योग कहलाता है संसारी जीव के सर्व शरीर में जीवात्मा व्याप रहा है इस हेतु शरीर के हिलने से आत्मा में भी हलन चलन होता है वह तीन प्रकार है १ मन में किसी प्रकार का बिचार करने से २ बचन बोलने से ३ काया को किसी प्रकार हिलाने से इस कारण योग तीन प्रकार हैं-मन, बचन और काय। विस्तार रूप से योग मार्गणा के पंद्रह भेद हैं।

५—**वेद**-जिसके उदय से मैथुन करने की इच्छा होती है उस को वेद कहते हैं उसके ३ भेद हैं पुरुष, स्त्री और नपुंसक॥ नारकी और सम्मूर्छन जन्मवाले जीव सब नपुंसक ही होते हैं-देव नपुंसक नहीं होते बाकी जीव तीनों प्रकार के होते हैं।

६ **कषाय**-क्रोध, मान, माया, लोभ यह चार कषाय हैं और १ हास्य अर्थात् हंसी २ रति अर्थात् प्यार प्रसन्नता ३ अरति अर्थात् अप्रसन्नता, नाराज़ी ४ शोक अर्थात् रंज ५ भय अर्थात् डर ६ जुगुप्सा अर्थात् ग्लानि नफ़रत ७ पुरुषवेद अर्थात् स्त्री से भोग की इच्छा ८ स्त्रीवेद अर्थात् पुरुष से भोग की इच्छा ९. नपुंसक वेद अर्थात् पुरुष और स्त्री दोनों से भोग की इच्छा इस प्रकार यह ९ कषाय हैं-नो का अर्थ है न्यून अर्थात् कमती मान, माया, लोभ और क्रोध से यह कषाय कमती हैं इस कारण इनको नोकषाय कहा है-

मान, माया, लोभ और क्रोध इन चार कषायों के चार २ भेद किये गये हैं १ अनन्तानुबन्धी जो सम्यक्त न होने दे (२) अप्रत्याख्यानी जो देश चारित्र अर्थात् गृहस्थी श्रावक का धर्म भी न पालने दे (३) प्रत्याख्यानी जो देश चारित्र तो होने दे परन्तु मुनि धर्म अर्थात सकल चारित्र न होने दे (४) संज्वलन जो सकल चारित्र तो होने दे परन्तु यथाख्यात चारित्र न होने दे इस प्रकार चार कषाय के १६ भेद और ९ नोकषाय मिलकर २५ प्रकार की कषाय मार्गणा है।

७—**ज्ञान** आठ प्रकार है जिसका वर्णन गाथा पांचवीं में हो चुका है

८—**संयम**--सम्यक् प्रकार यम नियम पालने को संयम कहते हैं-अहिंसा

आदिकव्रत का पालना, क्रोधादिक कषायों का निग्रह करना, मन, बचन, काय की अशुभ प्रवृत्ति का रोकना और इन्द्रियों का वस में करना संयम है, संयम पांच प्रकार का है १ सामायिक २ छेदोपस्थापन ३ परिहार विशुद्धि ४ सूक्ष्मसांपराय और ५ यथाख्यात, संयमासंयम और असंयम यह दो और मिलकर संयममार्गणा के सात भेद हैं। राग द्वेष के त्याग रूप समता भाव के अवलम्बन से आत्मध्यान करने को **सामायिक** कहते हैं–सामायिक चारित्र को धारण करने के पश्चात् किसी प्रमाद के कारण संकल्प विकल्प आदिक विकार उत्पन्न होने से किसी प्रकार के प्रायाश्चित आदि से फिर संभलना और अनर्थक सावद्य (पापरूप) व्यापार से उत्पन्न हुए दोष का छेद कर फिर से अपने को अपनी आत्मा में स्थिर करना **छेदोपस्थापना** है, सामायिक में जो सावद्य योग्य तथा सङ्कल्प विकल्प का त्याग है उससे भी अधिक त्याग कर आत्मीक शुद्धि करना **परिहार विशुद्धि** है॥ आत्मा की शुद्धता में इससे भी अधिक उन्नति करना जिसमें कषाय नाम मात्र को बहुत सूक्ष्म रह जावे वह **सूक्ष्म सांपराय** चारित्र है॥ आत्मा का जैसा शुद्ध निष्कंप कषाय रहित स्वरूप कहा गया है वैसा हो जाना **यथाख्यात** चारित्र है॥ संयम का विल्कुल न होना **असंयम** है और कुछ संयम और कुछ असंयम इस प्रकार की मिश्रित अवस्था को **संयमासंयम** कहते हैं गृहस्थी श्रावक संयमासंयमी होते हैं।

९—**दर्शन** चार प्रकार है चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल इसकी व्याख्या चौथी गाथा में हो चुका है।

१०–**लेश्या**–कषाय सहित योग का होना अर्थात कषाय सहित मन, वचन वा काय की प्रवृत्ति होना लेश्या है लेश्या से कर्म बन्ध होता है-कर्म दो प्रकार के हैं पाप और पुन्य इसी प्रकार लेश्या भी दो प्रकार की है शुभ और अशुभ, शुभ लेश्या से पुन्य होता है और अशुभ से पाप, शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की लेश्या के तीन २ भाग किये गये हैं (१) उत्कृष्ट अशुभ जिसको कृष्ण लेश्या कहते हैं (२) मध्यम अशुभ जिसको नील लेश्या कहते हैं (३) जघन्य अशुभ जिसको कापोत लेश्या कहते हैं (४) जघन्य शुभ जिसको पीत लेश्या कहते हैं (५) मध्यम शुभ जिसको पद्म लेश्या कहते हैं (६) उत्कृष्ट शुभ जिसको शुक्ल लेश्या कहते हैं, इस प्रकार लेश्या मार्गणा ६ प्रकार है।

११ भव्यत्व-जीव दो प्रकार के हैं भव्य और अभव्य जो किसी काल में सम्यग्दर्शनादि भाव रूप होवेंगे अर्थात् जो मोक्ष को जाने की योग्यता रखते हैं वह, भव्य हैं और जिन को कभी मोक्ष प्राप्त नहीं होगा अर्थात् जिन में किसी काल में भी सम्यग्दर्शनादि के प्राप्त होने की योग्यता नहीं है वह अभव्य हैं

१२ **सम्यक्त्व**-तत्वार्थ श्रद्धान को सम्यक्त कहते हैं मोटे रूप कथन से अपने और पराये की पहचान होकर अपनी आत्मा का सच्चा श्रद्धान हो जाना सम्यक्त है, औपशमिक, क्षायोपशमिक, औरक्षायिक तथा मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र इन तीन विपक्ष भेदों सहित सम्यक्त्वमार्गणा ६ प्रकार है

१३ **संज्ञी**-तथा असंज्ञी भेद से संज्ञि मार्गणा दो प्रकार है

१४ **आहार**-तीन शरीर (कार्माण, तैजस, वैक्रियक) और ६ पर्याप्ती के योग्य पुद्गल परमाणुओं के ग्रहण करने का नाम आहार है आहारक और अनाहारक के भेद से आहार मार्गणा भी दो प्रकार है-मरने के पश्चात विग्रह गति में एक दो वा तीन समय तक जीव अनाहारक रहता है केवल समुद्घात में अनाहारक होता है और सिद्ध भगवान अनाहारक हैं अन्य सर्व अवस्था में जीव आहारक ही रहता है ।

१४ गुणस्थान

जीव के **१४ गुणस्थान** इस प्रकार हैं-मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्व करण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगि केवलीजिन और अयोगिकेवलीजिन ।

१-**मिथ्यात्व**-सम्यक्त्व के न होने को मिथ्यात्व कहते हैं-झूंठ श्रद्धान का नाम मिथ्यात्व है ।

२-**सासादन**-कोई जीव सम्यक्त प्राप्त होकर फिर भ्रष्ट हो जावे अर्थात् मिथ्यात्वी हो जावे-ऐसी अवस्था में सम्यक्त से गिर कर जब तक वह जीव मिथ्यात्व को प्राप्त न हो जावे तब तक जो बीच के समय की दशा है उसको सासादन कहते हैं ।

३-**मिश्र**-सम्यक्त और मिथ्यात्व दोनों मिलकर जो एक बिलक्षण भाव उत्पन्न हो उसको मिश्र कहते हैं-

४-**अविरत सम्यक्त्व**-सम्यक्त उत्पन्न हो जावै परन्तु किसी प्रकार का व्रत वा चारित्र धारण न करै ।

५-**देश विरत**-सम्यक्त सहित एकदेश चारित्र पालने का नाम देश विरत है जो सम्यक्ती किंचित त्यागी है उस को गृहस्थी श्रावक भी कहते हैं इसके ११ प्रतिमा अर्थात् दर्जे हैं-जो आगे वर्णन किये जावेंगे ।

६-**प्रमत्त विरत**—जो हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म (कुशील) और परिग्रह इन पांच पापों के त्यागरूप पंच महाव्रतों को पालता है परन्तु प्रमाद उसके विद्यमान है-वह प्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती कहलता है ।

७-**अप्रमत्तविरत**-जो प्रमाद रहित होकर पांच महाव्रतों को पालता है ।

८-अपूर्व करण—सातवें गुण स्थान से भी ऊपर अपनी विशुद्धता में अपूर्व रूप उन्नति करता है

९-अनिवृत्ति करण— आठवें गुणस्थान से भी अधिक उन्नति करता है

१०-सूक्ष्म सांपराय– जहां सब कषाय उपशम वा क्षय को प्राप्त हो गई है केवल एक लोभ कषाय सूक्ष्म रूप से बाक़ी रह जाती है उस गुणस्थान का नाम सूक्ष्म सांपराय है।

११—उपशान्त मोह-जिसकी कषाय किंचित मात्र भी उदय में नहीं है सब उपशम हो गई है अर्थात् दब गई हैं वह उपशांतमोह गुणस्थानवर्ती कहलाता है इस गुणस्थान से जीव फिर नीचे गिरता है क्योंकि कषाय जो सत्ता में विद्यमान् थी उनका उदय हो जाता है।

१२—क्षीणमोह जहां कषाय बिल्कुल क्षीण अर्थात् नाश को प्राप्त हो जाती है वह क्षीणमोह गुणस्थान है।

१३—सयोग केवली जिसको केवल ज्ञान प्रात हो गया है परन्तु योग की प्रवृत्ति होती है वह तेरहवेंगुण स्थानवर्त्ती जीव है-इसही दशा में भगवान की बाणी खिरती है जिस से धर्म उपदेश चलता है

१४—अयोगि केवली-केवल ज्ञान होने के पश्चात् जब मन, वचन, काय रूप योग की प्रवृत्ति भी दूर हो जाती है तब जीव अयोगि केवली जिन कहलाता है। इसके अनन्तर ही सिद्ध पद की प्राप्ति होती है।

णिकम्मा अट्ठगुणा किंचूणा किंचूणाचरमदेहदो सिद्धा
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता ॥१४॥

अर्थ—जो जीव आठों कर्म रहित हैं, आठ गुण के धारक और अन्तिम शरीर से कुछ कम हैं वे सिद्ध हैं और उर्ध्व गमन स्वभाव से लोक के अग्र भाग में स्थित हैं-नित्य हैं तथा उत्पाद और व्यय संयुक्त हैं।

भावार्थ—कर्मों से रहित होकर यह जीव निज शुद्ध स्वभाव को प्राप्त होता है उसही को सिद्ध अवस्था कहते हैं-सिद्ध अवस्था में आठ गुण होते हैं अर्थात् सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहना, अगुरुलघु अव्याबाध।

शुद्ध सच्चा श्रद्धान प्रत्येक बस्तु का होने से उन में क्षायक सम्यकत्वगुण है जीवात्मा में अनन्त ज्ञान की शक्ति है जो सिद्धों में होती है इस ही प्रकार अनन्त

दर्शन भी होता है अनन्त ज्ञानादिक आत्मीक शक्ति को पूर्ण रूप से प्राप्त होने के कारण तथा पदार्थों के जानने में कुछ भी खेद न होने के कारण उन में अनन्तवीर्य अर्थात् अनन्त बल भी है।

जीवात्मा अति सूक्ष्म अमूर्तीक है जो केवल ज्ञान से ही पूर्णरूप जानी जा सक्ती है। इस कारण सिद्धों में सूक्ष्मत्व गुण भी है। जीवात्मा अति सूक्ष्म होने से न किसी वस्तु से रुकती है और न किसी वस्तु को रोकती है बरण एकही स्थान में अनेक जीव समा-सक्ते हैं इस हेतु सिद्धों में अवगाहन शक्ति भी है। जीवात्मा न हलकी है और न भारी है इस कारण सिद्धों में अगुरु लघु गुण है। सिद्धों को अनन्त सुख है जिस में किसी प्रकार की बाधा नहीं आ सक्ती है इस कारण सिद्धों में अव्याबाध गुण है।

जिस शरीर से मुक्ति होती है उस शरीर का जितना आकार है मोटे रूप तो उतनाही आकार सिद्ध अवस्था में होता है परन्तु तार्तम्य कथन के अनुसार उस आकार से कुछ कम आकार सिद्धों का होता है।

जीव का ऊर्ध्वगमन अर्थात् ऊपर को जाने का स्वभाव है। जैसे पानी में कोई हलकी वस्तु तूंबी आदिक डाल दी जावे तो वह अपने स्वाभाव से आपही आप ऊपर को आजावेगी वा जैसे अग्नि की लटा ऊपर को ही जावेगी परन्तु वस्तु का गमन वहीं तक हो सक्ता है जहां तक धर्म द्रव्य हो जैसा कि धर्म द्रव्य के कथन में आगामी दिखाया जावेगा धर्म द्रव्य तीन लोक केही भीतर है तीन लोक से बाहर अलोकाकाश में धर्म द्रव्य नहीं है इस वास्ते ऊपर को चलता हुआ मुक्त जीव उस स्थान पर ठहर जाता है जहां लोक की समाप्ति है। इसही कारण लोक के अग्रभाग में अर्थात् लोक शिखर पर सिद्धों की स्थिति है।

मुक्ति पाकर जीव कभी लौट कर संसार में नहीं आता है-सदा सिद्ध ही बना रहता है इस हेतु सिद्ध अवस्था नित्य है—

सर्व वस्तुओं में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य यह तीन अवस्था होती है-किसी पर्य्याय में स्थित होने को ध्रौव्य कहते हैं-पहली पर्य्याय के नाश को व्यय कहते हैं और नवीन पर्य्याय के उत्पन्न होने को उत्पाद कहते हैं-प्रत्येक वस्तु समय २ में पर्य्याय पलटती रहती हैं इस हेतु उन में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होता रहता है-परन्तु सिद्ध तो अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप में ही निरंतर निश्चल रूप स्थित रहते हैं और अपनी ज्ञान शक्ति से तीन लोक की भूत, भविष्यत और वर्तमान वस्तुओं को देखते रहते हैं। संसारी वस्तुओं की जो इस समय अवस्था है वह अगले क्षण में बीती हुई अवस्था हो जावेगी और जो आगे को होने वाली अवस्था है वह वर्तमान अवस्था हो जावेगी इसही

प्रकार यद्यपि सिद्धों को भूत भविष्यत और बर्तमान तीनों अवस्था का ज्ञान युगपत अर्थात् एक ही साथ है परन्तु जिस प्रकार संसारी बस्तुओं की भूत, भविष्यत और बर्तमान अवस्था है वैसी ही उनके ज्ञान में है कि अमुक अवस्था वर्तमान है और अमुक २ अवस्था बीत गई है और अमुक २ अवस्था बीतने वाली है। और जैसा कि बर्तमान अवस्था बीत कर बीती हुई हो जाती है और होने वाली अवस्था वर्तमान हो जाती है उसही के अनुसार उन के ज्ञान में परिवर्तन हो जाता है यह सिद्धों का उत्पाद और व्यय है। सिद्धों में उत्पाद और व्यय कहने का प्रयोजन यह है कि जीव परिणामी है। कोई २ मत वाले इस को अपरिणामी मानते हैं वह ठीक नहीं है।

अज्जीवो पुण णेओ पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं।
कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसादु ॥१५॥

अर्थ—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह पांच अजीव द्रव्य हैं इन में पुद्गल मूर्तीक है रूपादि गुणों का धारक है और बाकी चार द्रव्य अमूर्तीक हैं—

भावार्थ—जिस में किसी प्रकार भी ज्ञान शक्ति नहीं है उसको अजीव कहते हैं, अजीव पांच प्रकार के हैं, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

जो बस्तु छूई जासक्ती है जो चक्खी जासक्ती है जिस में किसी प्रकार का गन्ध है जो आंखों से देखी जासक्ती है अर्थात् जो बस्तु इन्द्रिय गोचर है वह मूर्तीक कहलाती है। यह सर्वगुण पुद्गल पदार्थ में ही है इस कारण पुद्गल ही मूर्तीक है और बाकी सब द्रव्य अमूर्तीक है पुद्गल का बर्णन अगली गाथा १६ में धर्म की गाथा १७ में अधर्म की गाथा १८ में आकाश की गाथा १९—२० में काल की गाथा २१—२२ में किया गया है।

सद्दोबन्धोसुहुमोथूलो सण्ठाणभेदतमछाया।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्सपज्जाया ॥१६॥

अर्थ—शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत, और आतप इन करके जो सहित है वे सब पुद्गलद्रव्य के पर्याय हैं।

भावार्थ—पृथिवी, जल, अग्नि और वायु यह सब पुद्गल द्रव्य की पर्याय हैं अनेक मतवालों ने शब्द को आकाश का गुण माना है परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि

मुख में जिह्वा के हिलने से वा घण्टे में मुगरी मारने से वा अन्य किसी प्रकार से पुद्गल द्रव्य हिलने से उस वस्तु के समीप की वायु हिलती है और वह वायु अपने समीप की वायु को हिलाती है इस तरह वायु हिलते हिलते जब किसी के कान को टक्कर देती है तो उस टक्कर के अनुसार शब्द मालूम होता है।

भेद अर्थात् टुकड़े होना जैसे गेहूं को पीस कर बारीक कण बनाकर आटा बना लेते हैं बन्ध अर्थात् जुड़ना जैसे आटे के बारीक कणों को पानी में घोलकर रोटी बना लेते हैं, यह दोनों बातें अर्थात् भेद और बन्ध पुद्गलही में होते हैं पुद्गल के सिवाय किसी द्रव्य के न टुकड़े होते हैं और न जुड़ते हैं।

सूक्ष्म अर्थात् बारीक होना और स्थूल अर्थात् मोटा होना यह भी पुद्गलही में होता है। अन्य सब द्रव्य अमूर्तीक हैं और वैसेही रहते हैं।

संस्थान अर्थात् गोल, चकोर और त्रिकोण आदिक आकार का होना भी पुद्गलही में है।

तम अर्थात् अन्धेरा और छाया अर्थात् साया उद्योत अर्थात् रोशनी और आतप अर्थात् गर्मी यह सब भी पुद्गल में ही होती हैं।

गइ परिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंताणेव सो णेई ॥१७॥

अर्थ—पुद्गल और जीव गमन रूप परिणमते हैं उनके गमन में धर्म द्रव्य सहकारी है जैसे मछली के चलने में जल सहकारी है। परन्तु गमन न करते हुवे पुद्गल और जीवों को वह धर्म द्रव्य कदापि गमन नहीं कराता है। अर्थात् गमन की प्रेरणा नहीं करता है।

भावार्थ—गमन अर्थात् हिलने चलने की शक्ति जीव और पुद्गल दोही द्रव्यों में है। और कोई द्रव्य हिलता चलता नहीं है। परन्तु जैसे मछली को चलने के वास्ते जल की और पतंग को उड़ने के वास्ते वायु की ज़रूरत होती है वा जैसे कोठे पर चढ़ने के वास्ते सीढ़ी की ज़रूरत होती है इसही प्रकार प्रत्येक वस्तु को हिलने चलने के वस्ते एक द्रव्य की आवश्यक्ता है जिस का नाम धर्म द्रव्य रक्खा गया है। धर्म द्रव्य से मतलब यहां पुन्य पाप वा मुक्ति मार्ग से नहीं है बरण यह तो एक अजीव द्रव्य है और अमूर्तीक है और तीन लोक में व्यापक है। तीन लोक से बाहर नहीं है। यह धर्म द्रव्य आप तो हिलता चलता नहीं है। तीन लोक में ज्योंका त्यों

व्यापक रहता है परन्तु इसके सहारे से जीव और पुद्गल हलन चलन क्रिया करते रहते हैं। तीन लोक के बाहर अलोकाकाश में धर्म द्रव्य नहीं है इसही हेतु वहां गमन नहीं हो सक्ता है। परन्तु यह धर्म द्रव्य किसी वस्तु को हिलने चलने की प्रेरणना नहीं करता है जैसे सीढ़ी मनुष्य को प्रेरणा नहीं करती है कि तुम मेरे द्वारा कोठे पर चढ़ो बरण जब कोई मनुष्य चढ़े तो उसको चढ़ने में सीढ़ी सहकारी होती है।

ठाणजुदाणअधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी।
छायाजहपहियाणं गच्छन्ताणेवसो धरई ॥१८॥

अर्थ—जो पुद्गल और जीव स्थिति सहित हैं अर्थात् ठहरे हुए हैं उनकी स्थिति में सहकारी कारण अधर्म द्रव्य है जैसे मुसाफिर को वृक्ष की छाया ठहरने में सहकारी कारण होती है परन्तु गमन करते हुए जीव पुद्गलों को वह अधर्म द्रव्य प्रेरणा करके नहीं ठहराता है।

भावार्थ—जिस प्रकार गमन के वास्ते सहकारी धर्म द्रव्य है इसही प्रकार ठहरने के वास्ते सहकारी अधर्म द्रव्य है। अधर्म द्रव्य भी अमूर्तीक है और तीन लोक में व्यापक है। लोक से बाहर अलोकाकाश में नहीं है। परन्तु जिस प्रकार धर्मद्रव्य गमन करने की प्रेरणा नहीं करता है बरण गमन करनेवाली वस्तु को गमन में सहायता देता है इसही प्रकार अधर्म द्रव्य भी ठहरने की प्रेरणा नहीं करता है बरण जो वस्तु गमन अर्थात् हलन चलन क्रिया को बन्द करके ठहरे उसको ठहरने में सहायता करता है।

जीव, पुद्गल, आकाश और काल यह चार द्रव्य बहुत से मतवालों ने माने हैं परन्तु धर्म और अधर्म यह दो द्रव्य जैनमत में ही माने गये हैं। किन्तु आज कल अंग्रेजी के महान फ़िलासोफर इस बात की शङ्का कर रहे हैं कि वस्तु की गति और स्थिति के वास्ते कोई सहकारी वस्तु अवश्य चाहिये और वह इसकी कुछ खोज भी लगा रहे हैं परन्तु अमूर्तीक वस्तुओं की उन को क्या खोज मिल सक्ती है?

अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥१९॥

अर्थ—जो जीवादि द्रव्यों को अवकाश देने की योग्यता रखने वाला है उसको श्रीजिनेंद्रदेव आकाश कहते हैं। आकाश के दो भेद हैं लोकाकाश और अलोकाकाश।

भावार्थ—रहने को स्थान देना आकाश का काम है-आकाश सर्व व्यापक है यदि कोई पूछे कि तीन लोक के बाहर क्या है ? तो यह ही कहा जावेगा कि आकाश और वह कहां तक है ? इस की कोई सीमा नहीं बांधी जा सक्ती क्योंकि जो कुछ भी सीमा बांधी जावे उसके बाहर क्या है ? तो फिर यह ही कहना पड़ेगा कि आकाश। इस कारण आकाश अनन्त है आकाश का कोई अन्त नहीं है—आकाश भी अमूर्तीक है और सर्व व्यापक होने से प्रत्येक वस्तु के अन्दर और बाहर सब जगह आकाश है-

धम्मा धम्मा कालो पुग्गल जीवाय संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुरिति ॥२०॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव यह पांचो द्रव्य जितने आकाश में हैं वह लोकाकाश है और उस लोकाकाश से बाहर को अलोकाकाश कहते हैं।

भावार्थ—पांचो द्रव्य जितने स्थान में देखने में आते हैं उसही को लोक कहते हैं इसही लोक के ऊपर, नीचे और मध्य यह तीन विभाग करके तीन लोक कहे जाते हैं—लोक अर्थात् तीन लोक के भीतर के आकाश को लोकाकाश और उससे बाहर के अनन्त आकाश को अलोकाकाश कहते हैं—

दव्वपरिवट्टरूवोजोसो कालोहवेइववहारो।
परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खोयपरमट्ठो ॥२१॥

अर्थ—जो द्रव्यों के परिवर्तनरूप है और परिणाम क्रिया आदि से जाना जाता है वह व्यवहार काल है और जो वर्त्तना लक्षण का धारक है वह निश्चय काल है।

भावार्थ—समय, घड़ी, पहर, दिन, महीना, और वर्ष आदिक को व्यवहार काल कहते हैं। यह काल की पहचान संसार की वस्तुओं के परिवर्त्तन से स्थापित की गई है। क्योंकि जितने काल में सूर्य्य उदय होकर और अस्त होकर फिर उदय होता है उसको दिन कहते हैं। उसही दिन के साठ विभाग करके घड़ी आठ विभाग करके पहर स्थापित कर लिये हैं। इसही प्रकार महीने और वर्ष स्थापित किये गये हैं। निश्चय में काल द्रव्य पदार्थों के परिणामन में कुम्हार के चाक की कीली की तरह उदासीनरूप से सहकारी कारण है। उस पदार्थ परिणति में सहकारिता को ही वर्त्तना कहते हैं। और वर्त्तना जिसका लक्षण है वही कालाणु रूप निश्चय काल है।

समय—जितने काल में मन्दगति से एक परमाणु (पुद्गल का सब से छोटा टुकड़ा) आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में गमन करता है उतने काल का नाम समय है भावार्थ काल के सब से छोटे हिस्से का नाम समय है।

काल के एक चक्कर को कल्प कहते हैं जो बीस कोड़ा कोड़ी सागर का होता है, इसके दो भेद हैं अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी के छः ६ भेद हैं सुषमा सुषमा, २ सुषमा ३ सुषमा दुःषमा, ४ दुःषमा सुषमा, ५ दुःषमा और ६ दुःषमा दुःषमा। उत-सर्पिणी के भी छः ६ भेद हैं जिनका क्रम अवसर्पिणी से विपरीत (उलटा) है और वह यह हैं। १ दुःषमा दुःषमा, २ दुःषमा, ३ दुःषमा सुषमा, ४ सुषमा दुःषमा, ५ सुषमा और ६ सुषमा सुषमा।

अवसर्पिणी के छहों कालों में भरत और एरावत क्षेत्रों में निवास करने वाले जीवों के आयु, शरीर बल वैभवादि क्रम से घटते हैं और उतसर्पिणी के छहों कालो में क्रम से बढते हैं। भावार्थ अवसर्पिणी के १ले, २रे, ३रे, ४थे, ५ वें, ६ठे काल की रचना उतसर्पिणी के ६ठे, ५वें, ४थे, ३रे, २रे, १ले काल की रचना के समान है। भेद केवल इतना ही है कि अवसर्पिणी में आयुकायादिक की हानि होती है और उतसर्पिणी में वृद्धि होती है। भरत और एरावत के सिवाय अन्य क्षेत्रों में प्रायः काल की समान रचना रहती है अर्थात किसी क्षेत्र में सदा १ले काल की ही रचना रहती है किसी में दूसरे काल की, किसी में तीसरे की और किसी में ४थे काल की विदेह क्षेत्रों में सदा ४थे काल की ही रचना रहती है। चौथे काल में ही ६३ शलाका के पुरुष होते हैं। और चौथे काल में ही संसार से मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है।

आज कल इस भरत क्षेत्र में, जिसमें हम तुम सब लोग निवास करते हैं अव-सर्पिणी का पांचवा 'दुःषमा' नामक काल बीत रहा है जिसको 'पंचम काल' कहते हैं इसी से दिन पर दिन मनुष्यों की आयु, काय, बल, वैभव आदिक घटते जाते हैं यह पंचम काल २१ हजार वर्ष का है। चौवीसवें तीर्थंकर के मोक्ष जाने से ६०५ वर्ष और ५ महीने पीछे पंचम काल में शक राजा होता है। इसी हिसाब से आज कल २४३५ श्री वीर निर्वाण सम्बत प्रचलित है अर्थात् अभी तक २१ हजार में से अनु-मान इतने ही वर्ष पंचम काल के व्यतीत हुए हैं। शक राजा के ३९४ वर्ष ७ महीने पीछे अर्थात् अन्तिम तीर्थंकर के निर्वाण से १ हजार वर्ष पश्चात् कल्की राजा होता है। यह कल्की धर्म से विमुख आचरण में लीन रहता है। इसी प्रकार एक २ हजार वर्ष बाद एक २ कल्की राजा होता है तथा इन कल्कियों के बीच बीच में एक २ उप कल्की भी होता है। परन्तु मुनि, आर्यका, श्रावक और श्राविकारूप चार प्रकार जिन

धर्म के अंश का सद्भाव पंचम काल के अंत तक रहता है अर्थात् पंचम काल के अन्त तक धर्म बना रहता है और उसका लोप नहीं होता है भावार्थ पंचम काल के अन्त होने पर धर्म का भी अन्त हो जाता है और कोई राजा भी नहीं रहता फिर छठे काल में मनुष्य धर्म शून्य पशुओं की तरह मांसाहारी होते हैं और मरकर नरक वा तिर्यंच गति को ही जाते हैं और ऐसी ही खोटी गतियों से आन कर जीव छठे काल में उत्पन्न होते हैं। यह छठा काल भी २१ हजार वर्ष का ही होता है। छठे काल के अन्त में अग्नि आदि की ४९ दिन तक घोर वर्षा होती है जिनसे प्रायः सब जीव मर जाते हैं। इसी को महा प्रलय कहते हैं। परन्तु यह प्रलय भरत और ऐरावत क्षेत्र के आर्य खंडों में ही होता हैं अन्यत्र नहीं होता है। जो लोग सर्व जगत का प्रलय होना मानते हैं वह ग़लत है और प्रमाण विरुद्ध है।

सुषमा सुषमा, सुषमा, और सुषमा दुःखमा, इन तीन कालों में भोग भूमि की रचना रहती है अर्थात् खेती बाड़ी करना, मकान बनाना, भोजन तय्यार करना, कपड़े सीना तप संयम धारण करना आदि कोई काम नहीं होता है बल्कि उस समय दस प्रकार के कल्प वृक्षों द्वारा सर्व प्रकार की भोग सामिग्री प्राप्त होती रहती है। सुषमा दुःखमा काल के अंत में क्रम से १४ कुल कर होते हैं जो अधिक ज्ञान के धारी होते हैं और भोग भूमि या जीवों को अनेक प्रकार की कर्म भूमि की शिक्षा देते हैं, खेती करने भोजन बनाने वस्त्र सीने, मकान बनाने, विवाह करने और तप संयम धारण करने आदि को कर्म भूमि की रीति कहते हैं, चौदहवें कुलकर यह सब काम मनुष्यों को पूर्ण रीति से सिखा देते हैं और कर्म भूमि की रीति प्रारम्भ हो जाती है, दुःखमा सुषमा, दुखमा, और दुःखमा दुःखमा काल में कर्म भूमि की रीति ही रहती है।

लोयायासपदेसेइक्किक्के जेठियाहुइक्किक्का।
रयणाणं रासीइवते कालाणुअसङ्खदव्वाणि॥२२॥

अर्थ—जो लोकाकाश के एक एक प्रदेश में रत्नों की राशी के समान परस्पर भिन्न होकर एक २ स्थित हैं वे कालाणु हैं और असंख्यात द्रव्य हैं।

भावार्थ—जितने स्थान में एक परमाणु रक्खा जावै उसको प्रदेश कहते हैं। लोकाकाश असंख्यात प्रदेश है। प्रत्येक प्रदेश में काल का एक एक अणु है इस प्रकार सर्व लोकाकाश में काल द्रव्य भरा हुआ है।

एवंछभयमिदं जीवाजीवप्पभेददोदव्वं।
उत्तंकालविजुत्तं णादव्वापञ्चअत्थिकायादु॥२३॥

अर्थ—इस प्रकार एक जीव द्रव्य और पांच अजीव द्रव्य ऐसे छ भेद को लिये हुए द्रव्य का वर्णन किया गया इन छओ द्रव्यों में से कालद्रव्य के सिवाय शेष पांच द्रव्यों को अस्तिकाय जानना चाहिये।

भावार्थ—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और आकाश यह पांच द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं और कालद्रव्य अस्तिकाय नहीं कहलाता है अगली गाथा में इन पांचों ही को अस्तिकाय क्यों कहा है। इसका हेतु पूर्वक निरूपण किया गया है।

सन्तिजदोतेणेदेअत्थिति भणन्तिजिणवराजह्मा।
कायाइववहुदेसा तह्माकायाय अत्थिकायाय ॥२४॥

अर्थ—क्योंकि पूर्वोक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, तथा, आकाश पांचों द्रव्य विद्यमान हैं इस वास्ते जिनेश्वर इनको "अस्ति" कहते हैं और चूंकि काय के समान यह द्रव्य बहु प्रदेशी हैं इस कारण इनको "काय" कहते हैं। इस हेतु यह पांचों द्रव्य अस्तिकाय हैं।

भावार्थ—अस्ति अर्थात् विद्यमान होना, मौजूद होना यह गुण तो सबही द्रव्य में है अर्थात् कालद्रव्य भी अस्ति है परन्तु कालद्रव्य के अणु भिन्न भिन्न एक एक हैं अर्थात् एक एक प्रदेशी हैं इस कारण उसकी काय संज्ञा नहीं हो सक्ती है अन्य पांचों द्रव्य बहु प्रदेशी हैं इस हेतु वह अस्तिकाय कहलाते हैं। इसका व्यौरा अगली गाथा में किया गया है।

होंति असंखा जीवे धम्मा धम्मे अणंत आयासे।
मुत्तेतिविह पदेसाकालस्सेगोणतेण सो काओ ॥२५॥

अर्थ—जीव, धर्म तथा अधर्म द्रव्य में असंख्यात प्रदेश हैं और आकाश में अनन्त प्रदेश हैं-पुद्गल में संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त प्रदेश हैं और काल के एकही प्रदेश है इस कारण काल काय नहीं है।

भावार्थ—लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं और एक जीव सर्व लोकाकाश में फैल सक्ता है इस कारण जीव असंख्यात प्रदेशी हैं। धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य सर्व लोकाकाश में व्यापक हैं इस कारण वह दोनों असंख्यात प्रदेशी हैं। आकाश लोकाकाश से भी बाहर अनन्त है उसकी कुछ सीमा नहीं है इस कारण वह अनन्त प्रदेशी है। पुद्गल द्रव्य के अनन्त परमाणु हैं। परन्तु एक परमाणु अलग भी होता है और दो चार, दस, बीस, हजार, लाख आदिक परमाणु मिलकर छोटा वा बड़ा स्कन्ध भी होता है

इस ही हेतु, पुद्गल को संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त प्रदेशी कहा है-काल के अणु एक एक अलग २ हैं वह मिल कर स्कंध नहीं होते हैं इस कारण काल को काय नहीं कहते हैं।

पुद्गल का जब एक परमाणु अलग भी होता है तब उसको काय क्यों कहा जावे इसका उत्तर अगली गाथा में दिया गया है।

पुद्गल द्रव्य लोकाकाश ही में है अलोकाकाश में नहीं है और लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं तो पुद्गल द्रव्य के प्रदेश असंख्यात से अधिक अर्थात अनन्त कैसे हो सक्ते हैं ? इसका उत्तर यह है कि पुद्गल के परमाणु अनन्त हैं जिस प्रकार लोहा पीतल आदिक धातु में अग्नि प्रवेश कर जाती है अर्थात जिस स्थान में लोहा पीतल आदिक के परमाणु हैं उसही स्थान में अग्नि के भी परमाणु स्थान पालेते हैं इस प्रकार बहुत सी अवस्था में पुद्गल में अवगाह अर्थात् स्थान देने वा स्थान पाने की शक्ति होती है इस कारण असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में ही अनन्त पुद्गल परमाणु भरे हुवे हैं-पुद्गल परमाणुओं के अनन्त होने से उनके प्रदेश भी अनन्त कहे गये हैं।

एयपदेसोवि अणु णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसा उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु॥२६॥

अर्थ--एक प्रदेश का धारक भी परमाणु अनेक स्कंधरूप बहुत प्रदेशों से बहु प्रदेशी होता है इस हेतु सर्वज्ञदेव पुद्गल परमाणु को भी उपचार से काय कहते हैं।

भावार्थ—वह ही वस्तु काय कहाती है जो बहु प्रदेशी हो-जब अनेक परमाणु मिल कर स्कंध हो तबही पुद्गल काय वाला होता है पुद्गल का एक परमाणु काय वाला नहीं है परन्तु ऐसे २ परमाणु मिल मिल कर ही स्कंध बनते रहते हैं इस हेतु उपचार नय से एक परमाणु भी काय ही कहलाता है।

जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणु उट्ठद्धं।
तंखुपदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं॥ २७॥

अर्थ—अविभागी पुद्गल अणु जितने आकाश को रोकता है वह प्रदेश है, वह प्रदेश सर्व परमाणुओं को स्थान देने में समर्थ हैं।

भावार्थ—सब से छोटे से छोटा अणु जिसका विभाग न होसके वह परमाणु कहाता है-एक परमाणु जितने स्थान में आवे उस को प्रदेश कहते हैं-एक प्रदेश में सर्व

परमाणु समा सक्के हैं गाहन शक्ति के कारण जैसा कि अग्नि लोहे के भीतर भी प्रवेश कर जाती है अर्थात जिस स्थान में लोहे के परमाणु हैं उसही स्थान में अग्नि के परमाणु भी अवगाह कर जाते हैं-इस से सिद्ध हुवा कि एक प्रदेश में अनेक परमाणु समा सक्के हैं ।

इति प्रथम अधिकारः

द्वितीय अधिकार

आसव बंधण संवर णिज्जरमोक्खो सपुण्णपावाजे ।
जीवाजीवविसेसा तेविसमासेण पभाणमो ॥२८॥

अर्थ—आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुन्य और पाप इस प्रकार जीव और अजीव के जो भेद रूप पदार्थ अर्थात् पर्याय हैं उनका भी संक्षेप से कथन करते हैं।

भावार्थ—जीव और अजीव यह दोही प्रकार के पदार्थ हैं-जीव में कर्मों का आस्रव अर्थात् कर्मों की उत्पत्ति और जीव के साथ कर्मों का बन्ध अजीव पदार्थ के कारण होता है कर्मों के आने को रोकना जिसको सम्वर कहते हैं और बंधे हुवे कुछ कर्मों को दूर करना जिसको निर्जरा कहते हैं और सर्वथा कर्मों को दूर करना जिसको मोक्ष कहते हैं यह तीनों बातें अजीव पदार्थ को जीव से अलग करने से पैदा होती हैं

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष यह सात तत्व कहलाते हैं अर्थात् मोक्ष मार्ग में यह ही सात तंत की बातें है ।

कर्म बंध दो प्रकार का होता है-पापरूप वा पुन्यरूप इस कारण सात तत्वों के साथ पाप, पुन्य का कथन मिलाना भी आवश्यक है-पुन्य पाप मिलकर नौ ९ पदार्थ कहलाते हैं अर्थात् मोक्ष मार्ग में यह ९ बात जानने योग्य ज़रूरी हैं ।

जीव और अजीव का वर्णन पीछे कर चुके हैं अब आगे बाकी के सात पदार्थों का कथन करते हैं— गाथा २९, ३० और ३१ में आस्रव का कथन है गाथा ३२ और ३३ में बंध का कथन है-गाथा ३४ और ३५ में संबर का कथन है-गाथा ३६ में निर्जरा का और गाथा ३७ में मोक्ष का कथन है—गाथा ३८ में पुन्य और पाप का कथन है ।

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणोसविण्णेओ ।
भावासवो जिणुक्के कम्मासवणं परो होदि ॥२९॥

अर्थ—आत्मा के जिस परिणाम से कर्म का आस्रव होता है उस परिणाम को श्री जिनेन्द्र भगवान भाव आस्रव कहते हैं और भावास्रव से भिन्न ज्ञानावरणादि कर्मों का जो आस्रव है वह द्रव्य आस्रव है ।

भावार्थ—आत्मा के प्रदेशों में हलन चलन होने का नाम भाव आस्रव है और द्रव्य कर्म अर्थात् पुद्गल परमाणुओं का कर्म रूप होना द्रव्य परमाणुओं का कर्म रूप होना द्रव्य आस्रव है ।

मिच्छत्ताविरदिपमाद जोगकोधादओऽथविण्णेया ।
पण पण पणदसतिय चदुकमसो भेदादु पुव्वस्स॥३०॥

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग, और क्रोध आदिक कषाय यह पांच भेद भावआस्रव के हैं-मिथ्यत्व के पांच, अविरति के पांच, प्रमाद के पंद्रह, योग के तीन, और कषाय के चार भेद हैं ऐसे क्रमसे भेद जानने चाहिये।

भावार्थ—आत्मा के प्रदेशों में हलन चलन, जिससे कर्म की उत्पत्ति होती है पांच कारणों से होती है—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और कषाय ।

मिथ्यात्व-पर पदार्थों से रागद्वेष रहित अपनी शुद्ध आत्मा के अनुभवन में श्रद्धान होने को सम्यक्त कहते हैं यह ही आत्मा का निज भाव है—इसके विपरीति भाव को मिथ्यात्व कहते हैं-मिथ्यात्व भाव के कारण संसारी जीव में अनेक तरंग उठती हैं अर्थात् जीव के शांति स्वभाव का नाश होता है इसी से यह कर्मों की उत्पत्ति का कारण है-मिथ्यात्व पांच प्रकार का है—एकान्त, विपरीत, विनय संशय और अज्ञान ।

वस्तु में अनेक गुण होते हैं जैसे दूध पीना शारीरक पुष्टी करता है परन्तु बहुत से रोगों में हानि कारक भी है--इस हेतु दूध लाभ दायक भी है और हानि कारक भी है मनुष्य जो २० वर्ष का है वह १० वर्ष के बालक से बड़ा और ५० वर्ष के मनुष्य से छोटा है इस हेतु वह बड़ा भी है और छोटा भी है इसही प्रकार वस्तु में अनेक गुण होते हैं परन्तु संसार के अल्पज्ञ जीव वस्तु के एक ही विषय को लेकर उसही के अनुसार उसका श्रद्धान कर लेते हैं इसही का नाम एकान्त मिथ्यात्व है जैसे पाप कर्म करने की अपेक्षा दान पूजादिक पुण्य कर्म करना बहुत अच्छा है परन्तु मोक्ष प्राप्ति की अपेक्षा पुण्य कर्म भी छोडने योग्य हैं-इस हेतु अनेक शास्त्रों में जो पुण्य कर्म

का उपदेश दिया गया है उसही को सम्पूर्ण धर्म मान लेना एकान्त मिथ्यात्व है— श्री वीतराग भगवान हमारा न कुछ बिगाड़ते हैं और न कुछ संवारते हैं क्योंकि वह राग द्वेष से रहित हैं परन्तु उनका ध्यान करने से उनकी बीतरागता को चिंतवन करने से हमारे परिणामों में बीतरागता आती है जिससे पाप कर्मों का क्षय होता है इस हेतु उपचारनय से वह हमारे दुःख को दूर करने वाले हैं परन्तु उनको साक्षात दुःखों का दूर करने वाला कर्ता परमेश्वर मानना एकान्त मिथ्यात्व है-स्नान आदिक शरीर शुद्धि और शुचि क्रिया से मन की मालिनता दूर करने में संसारी जीवों को सहायता मिलती है परन्तु स्नान करने वा शुचि क्रिया ही करने को धर्म मानना और मन की शुद्धि का कुछ भी विचार न करना एकान्त मिथ्यात्व है इसका ऐसा दृष्टान्त है कि अग्नि जलाने से रोटी बनती है परन्तु अनाज पीस कर आटे को पानी में गूंद कर और रोटी थेपकर अग्नि से तपे हुवे तवे पर सेकने से रोटी बनती है जो कोई न तवा तपावे न आटा लावे बरण अग्नि चूल्हे में जला देना काफी समझै वह एकान्त मिथ्यात्वी है उसकी क्रिया से कभी रोटी न बन सकेगी और उसका आग जलाना व्यर्थ ही जावेगा- इसही प्रकार एकान्त मिथ्यात्व के हजारों लाखों दृष्टान्त दिये जा सक्ते हैं और यदि जांच की जावे तो अन्य मत के बहुत से सिद्धान्त एकान्त मिथ्यात्व को ही लिये हुए हैं परन्तु शोक है तो यह है कि हमारे बहुत से जैनी भाई भी जैन शास्त्रों को न पढ़ने के कारण एकान्त मिथ्यात्व में फंसे हुये हैं।

उल्टी बात मानने को विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं जैसे हिंसा में धर्म मानना।

सम्यक दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की अपेक्षा न करके अर्थात इस बात का बिचार न करके कि जिसकी मैं बिनय करता हूँ उस में सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र यह तीन गुण हैं वा नहीं, समस्त देव, कुदेवों की समान विनय करना और समस्त प्रकार के दर्शनों (मतों) को एकही मानना बिनय मिथ्यात्व है।

किसी वस्तु को संशय रूप मानना संशय मिथ्यात्व है-अर्थात ठीक ठीक यक़ीन न होना, भ्रम रहना कि यह बात ऐसे है या दूसरी प्रकार है, जैसे सम्यग दर्शन ज्ञान चारित्र मोक्ष मार्ग है या कि नहीं। हिताहित की परीक्षा रहित श्रद्धान का नाम अज्ञान मिथ्यात्व है जैसे वृक्षादिक एकेंद्री जीवों को अपने हिताहित का कुछ भी ज्ञान नहीं है वा बहुत से मनुष्य अपने संसार कार्य्यों में ऐसे लगे रहते हैं कि धर्म का कुछ भी ज्ञान प्राप्त नहीं करते और धर्म से ऐसे ही अज्ञानी रहते हैं जैसे पशु, वा वृक्ष आदिक।

अविरति-अपने ही शुद्ध आत्मीक परम सुख में आनन्दित रहना आत्माका

निज स्वभाव है-उस परम आनन्द से विमुख हो कर यह जीव बाह्य विषयों में लगता है उसको अविरति कहते हैं वह अविरति पांच हैं-हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इनही के त्याग को ब्रत कहते हैं-अथवा यही अविरति मन और पांचों इन्द्रियों की प्रवत्तिरूप ६ भेद तथा छः काय के जीवों को विराधना रूप ६ भेद ऐसे दोनों मिलाने से १२ प्रकार की भी है

कषायरूप परिणाम से अपने वा पर जीव के द्रव्य प्राण वा भाव प्राण का घात करना हिंसा है क्रोधादिक कषाय उत्पन्न होने से अपने शुद्धोपयोग रूप शांत परिणाम में बाधा पड़ती है इस हेतु अपने भाव प्राणों का घात होता है यह क्रोधादिक कषाय से आँखों का लाल होना चिहरे का चढ़ना अपने हस्त पादादिक का टूटना आदिक शरीर में बिकार होना अपने द्रव्य प्राणों में बाधा आना है यह भी हिंसा है दूसरे जीव को कुवचन कहना वा उसकी तरफ़ कुचेष्टा करना आदिक से उसके परिणाम में पीड़ा पहुंचाना उस जीव के भाव प्राण को घात करना है यह भी हिंसा है दूसरे जीव के शरीर के किसी अंग को छेदना काटना आदिक उसके द्रव्य प्राण को घात करना है यह भी हिंसा है

कषाय के योग से अपने को वा पर को हानि कारक अप्रशस्त बचन बोलना असत्य है।

बिना दिये हुए पदार्थ को कषाय से ग्रहण करना चोरी है।

पुरुष वेद, स्त्री वेद और नपुंसक वेद के उदय से पुरुष वा स्त्री से मैथुन करना अब्रह्म है।

संसार सम्बंधी बस्तुओं से ममत्व परिणाम का नाम परिग्रह है।

प्रमाद-शुद्ध आत्म अनुभव से डिगना, फिसलना, सावधान न रहना और ब्रतादि के बिषय अनादर का होना प्रमाद है।

चार विकथा--चार कषाय, पांच इन्द्रियबिषय, निद्रा और राग यह १५ भेद प्रमाद के हैं।

ऐसी वार्ता का कहना वा सुनना जो संयम के बिरोधी हो आत्मा के शुद्ध परिणाम को बिगाड़ने वाली हो उसको बिकथा कहते हैं उसके मोटे रूप चार भेद हैं स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, और भोजनकथा, आत्मा के शुद्ध स्वरूप में क्षोभ उत्पन्न करने वाला जो परिमाण है उसको कषाय कहते हैं वह चार प्रकार है क्रोध मान-माया और लोभ, तथा अनन्तानुबंधी आदिक और हास्य आदिक भेद से कषाय के २५ भेद हैं।

इन्द्रियों के विषय में लगना भी आत्मा के शुद्ध परिणाम का बिगाड़ने वाला है इन्द्रिय पांच हैं स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कर्ण।

निद्रा से भी असावधानी होती है

राग किसी वस्तु से स्नेह करने को कहते हैं यह तो सबसे ही अधिक प्रमाद रूप है।

योग—शरीर के हिलने के कारण जीवात्मा भी जो शरीर में व्यापक है हिलती है-शरीर का हिलना तीन प्रकार है-मन में कुछ चिन्तवन करने से द्रव्य मन अर्थात् आठ पांखडी का कमल के आकार जो शरीर के अन्दर मन है वह हिलता है उसके हिलने से जीवात्मा हिलती है इसको मन योग कहते हैं, बचन बोलने में जिह्वा आदिक शरीर के अंग हिलते हैं उससे जीवात्मा हिलती है यह बचन योग है-हाथ पैर आदिक शरीर के अन्य अंगो के हिलने से जीवात्मा हिलती है उसको काय योग कहते हैं-जीवात्मा में जब जब हलन चलन पैदा होगा तभी कर्मों का आस्रव होगा ऐसे संक्षेप से योग तीन प्रकार है और विस्तार से १५ भेद रूप है।

कषाय—मान, माया, लोभ और क्रोध यह चार कषाय हैं इनसे तो आत्मा के परिणाम में बिकार पैदा होकर कर्मों की उत्पत्ति होती ही है।

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि।
दव्वासवोसणेओ अणेयभेओ जिणक्खादो ॥३१॥

अर्थ—ज्ञानावरण आदि कर्मरूप होने के योग्य जो पुद्गल आता है उसको द्रव्य आस्रव जानना चाहिये-इस के अनेक भेद हैं-ऐसा श्री जिनेंद्र देव ने कहा है।

भावार्थ—किसी वस्तु में बिकार का होना किसी अन्य वस्तु के मिलने से ही हो सक्ता है-जीवात्मा में विकार उत्पन्न करने के अर्थ अजीव पदार्थ का ही मिलना हो सक्ता है-अजीव द्रव्यों में धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्यों में तो जुड़ने और टुकड़े होने की शक्ति नहीं है यह गुण तो पुद्गल में ही है इस हेतु पुद्गल परमाणुओं के ही मिलने से जीवात्मा बिकारी होता है-शीतल जल अग्नि के समीप होन से गरम हो जाता है। शीतल स्वभाव से विपरीत गरम भाव हो जाने अर्थात् गर्मी का बिकार पैदा हो जाने का यह ही कारण होता है कि शीतल जल में अग्नि के परमाणु सम्मिलित हो जाते हैं अग्नि के परमाणुओं के मिलने के बिना शीतल जल में गर्मी का बिकार नहीं आ सक्ता है इस ही प्रकार जीवात्मा भी द्रव्य कर्म अर्थात् पुद्गल परमाणुओं के मिलने से ही बिकारी हो रहा है।

पुद्गल द्रव्य अनेक पर्याय धारण करता है-नीम के बीज में जल सींचने से वह जल नीम के वृक्ष के मूल, स्कंध टहनी, पत्ते, फूल और फल रूप होता है और कड़वी

ही कड़वी वस्तु पैदा करता है और उसही जल से नीबू का बीज सीचने से वही जल नीबू के वृक्ष के स्कंध, टहनी, पत्ते, और फूल रूप होता है और खट्टा नीबू पैदा करता है और वह ही जल मिरच के वृक्ष में जाने से चिरचरी मिरच रूप हो जाता है और ईख में जाकर अत्यन्त मधुर रस धारण करता है इस से यह सिद्ध हुआ कि पुद्गल द्रव्य जो पृथिवी, जल, अग्नि और वायु रूप हो रहा है वह ही अनेक प्रकार का पर्य्याय धारण कर लेता है मनुष्य के शरीर में वही ही दूध मनुष्य के शरीर के आकार की सप्त धातु मांस, हड्डी, खून और वीर्य्य आदिक और आंख, कान, हाथ और पैर आदिक बनाता है और वही दूध बिल्ली के शरीर में जाकर बिल्ली के शरीर के अनुसार सब वस्तु बनाता है और सर्प के शरीर में जाकर सर्प के अनुसार ज़हर आदिक वस्तु बनजाता है, इसही प्रकार जीवात्मा में भाव आस्रव के द्वारा परिणमन होने से उस जीवात्मा के समीप वर्ती पुद्गल परमाणु आकर्षित होकर कर्म रूप बन जाते हैं।

जिस प्रकार बीज वा वृक्ष से आकर्षित मिट्टी पानी वायु और धूप आदिक के परमाणु उस वृक्ष के स्कंध, मूल, टहनी, पत्ता, फूल और फल रूप अनेक प्रकार की पर्य्याय धारण करते हैं इसही प्रकार जीव के भाव आस्रव से आकर्षित परमाणु भी ज्ञानावरण आदिक अनेक प्रकार के कर्मरूप बन जाते हैं।

मोटे रूप कर्मों के आठ भेद किये गये हैं। ज्ञानावरणीय २ दर्शनावरणीय ३ वेदनीय ४ मोहनीय ५ आयु ६ नाम ७ गोत्र ८ अन्तराय

ज्ञानावरणीय–जो जीव के ज्ञान को ढकैं–इसके ५ भेद हैं।

दर्शनावरणीय–जो जीव के दर्शन को ढकै इसके ९ भेद हैं।

वेदनीय–जो सुख और दुख की अनुभव करावे—तथा सुख दुख की सामिग्री पैदा करै।

मोहनीय–इसके दो भेद हैं दर्शन मोहनी और चारित्र मोहनी-जो जीव के सच्चे श्रद्धान को भ्रष्ट करके मिथ्यात्व उत्पन्न करावै वह दर्शन मोहनी है इसके ३ भेद, जो जीव के शुद्ध और शान्त चारित्र को बिगाड़ कर कषाय उत्पन्न करावै वह चारित्र मोहनी है इसके २५ भेद हैं। इस प्रकार मोहनी के कुल २८ भेद हैं।

आयु–जो एक पर्य्याय में जीव की स्थिति का कारण हो इसके ४ भेद हैं।

नाम–जो शरीर का अनेक प्रकार का रूप पैदा करावै इसके ९३ भेद हैं।

गोत्र–जो ऊंच वा नीच अवस्था को प्राप्त करावै-इसके दो भेद हैं।

अन्तराय–जो अन्तर डाले, विघ्न पैदा करे इसके ५ भेद है।

इस प्रकार कर्मों के १४८ भेद मोटे रूप किये गये हैं वास्तव में कर्म के अनन्ते भेद हैं-१४८ भेदों का भिन्न २ वर्णन आगामी बंध के वर्णन में किया जावेगा।

वज्झदि कम्मं जेण दु चेदण भावेण भावबंधो सो।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥३२॥

अर्थ—आत्मा के जिस भाव से कर्म आत्मा से बंधता हैं वह तो भाव बंध है और कर्म और आत्मा के प्रदेशों का सम्मिलित होना एक का दूसरे में प्रवेश होना वह दूसरा द्रव्य बंध है—

भावार्थ—आत्मा के जिस विकार भाव से जीवात्मा में कर्म बंध होता है उस विकार भाव को भाव बंध कहते हैं और उस विकार भाव के कारण कर्म के पुद्गल परमाणुओं का आत्मा के प्रदेशों में सम्मिलित होना जिस प्रकार कि दूध और पानी मिलकर एकाकार हो जाते हैं इसको द्रव्य बंध कहते हैं।

पयडिट्ठिदि अणुभागपदेस भेदादु चदुविधो बंधो।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ३३

अर्थ—प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश इन भेदों से बंधचार प्रकार का है इन में योगों से प्रकृति और प्रदेश बंध होता है और कषाय से स्थिति और अनुभाग बंध होते हैं।

भावार्थ—कर्म जिस प्रकार का है अर्थात् जिस स्वभाव को लिये हुये कर्म है उसको प्रकृति कहते हैं-जितने समय तक वह कर्म आत्मा के साथ रहेगा उसको स्थिति कहते हैं-तीव्र वा मंद अर्थात हलका वा भारी जैसा उस कर्म का फल है उसको अनुभाग कहते हैं, कर्मों के आत्मा के प्रदेशों से एक क्षेत्रावगाह रूप जो सम्बंध होना है उसको प्रदेश बंध कहते हैं, इस प्रकार बंध का वर्णन महान ग्रन्थों में चार प्रकार किया गया है।

कषाय से जो योग होता है अर्थात् कषाय सहित मन बचन काय की जो क्रिया होती है उसको लेश्या कहते हैं उसही से बंध होता है बिना कषाय के मन, बचन वा काय की क्रिया होने से प्रकृति और प्रदेश बन्ध ही होता है स्थिति और अनुभाग नहीं होता है अर्थात् शरीर के हिलने से शरीर के अन्दर व्यापक आत्मा भी हिलती है यदि यह हिलना बिना किसी कषाय के है तो कर्म तो उत्पन्न हो जावेगी और आत्मा के हिलने के अनुसार वहँ उत्पन्न हुआ कर्म किसी न किसी प्रकार का भी

लेगा अर्थात् कोई प्रकृति उस कर्म की अवश्य होगी और जब कर्म किसी प्रकृति का उत्पन्न हो गया तो वह आत्मा के प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह रूप भी होगा अर्थात् प्रकृति और प्रदेश दो बातें पैदा हो जावेंगी परन्तु बिना कषाय के वह कर्म जीवात्मा के साथ सम्मिलत नहीं होगा बिना कषाय कर्म उत्पन्न होकर तुरंत ही नाश हो जायगा उसमें कोई स्थिति नहीं होगी और न उस में कोई रस होगा, कर्म की स्थिति और अनुभाग यह दो बातें कषाय से ही उत्पन्न होती हैं इस हेतु यदि योग कषाय सहित है तो कर्म बंध की चारों बातें पैदा हो जावेंगी।

मन, वचन और काय की क्रिया क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय में से किसी कषाय के द्वारा होने से कर्म बंध होता है, क्रिया भी तीन प्रकार की है सरंभ अर्थात् इरादा करना समारंभ उस कार्य की सामिग्री इकट्ठी करना और आरंभ अर्थात् उस कार्य को करना इनके भी तीन तीन भेद हैं, कृत आप करना कारित दूसरे से कराना और अनुमोदना अर्थात् करते को भला जानना इस प्रकार कर्म बंध के कारणों के अनेक भेद हैं अब पृथक २ वर्णन करते हैं।

प्रकृतिबन्ध।

अब कर्मों की १४८ प्रकृति को वर्णन करते हैं।

ज्ञानावरणीय–मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्य्यय और केवल इस प्रकार ज्ञान के ५ भेद किये गये हैं इसही प्रकार इनके ढकने वाले कर्म के ५ भेद हैं।

दर्शनावरणीय–दर्शन के चार भेद हैं चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल इसही प्रकार चार भेद इनके आवरण अर्थात् ढकने वाले कर्म के हैं, इसके अतिरिक्त निद्रा भी दर्शन को नहीं होने देती है गहरी नींद और हलकी नींद की अपेक्षा निद्रा के निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि ऐसे ५ भेद करके दर्शनावरण के ९ भेद होते हैं।

मोहनीय—दर्शनमोहनीय का बन्ध तो मिथ्यात्वरूप एकही प्रकार होता है परन्तु उदय में आकर उसके तीन भेद हो जाते हैं जिसका वर्णन आगामी रत्नत्रय के वर्णन में किया जावेगा। चारित्रमोहनी के कषाय वेदनीय, और नो प्रकषाय वेदनीय ऐसे दो भेद हैं जिनमें कषाय वेदनीय के मूल भेद क्रोध, मान, माया, लोभ, और प्रत्येक चार चार भेद अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानी, प्रयाख्यानी और संज्वलन हैं, अनन्तानुबन्धी वह कषाय है जिसके होते हुए सम्यक् श्रद्धा न हो सकै, अप्रत्याख्यानी वह कषाय है जिसके होते हुए सम्यक् श्रद्धान तो होसके परन्तु श्रावक का वा मुनि का अर्थात् किसी

प्रकार का भी चारित्र न हो सके। प्रत्याख्यानी वह कषाय है जिसके उदय होते हुए गृहस्थी श्रावक का चारित्र तो हो सके परन्तु मुनि धर्म ग्रहण न हो सके, संज्वलन वह सूक्ष्म कषाय है जिसके होते हुए मुनि धर्म हो सके परन्तु यथाख्यात चारित्र न पल सके, इस प्रकार कषाय वेदनीय के १६ भेद हुए और अनोकषायवेदनीय के हास्यादिनो कषाय रूप ९ भेद इस प्रकार चारित्र मोहनी के कुल २५ भेद हैं।

आयु—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इस प्रकार आयु के ४ भेद हैं।

वेदनीय-साता और असाता के भेद से वेदनीय दो प्रकार है। जिसके उदय से सुख रूप सामिग्री की प्राप्ति हो वह साता वेदनी है और जिसके उदय से दुःख दायक सामिग्री की प्राप्ति हो वह असाता वेदनी है।

गोत्र—उच्च और नीच ऐसे गोत्र दो प्रकार हैं।

अन्तराय—दान, लोभ, भोग, उपभोग और वीर्य्य अर्थात् शक्ति इन पांचों में विघ्न करे सो पांच प्रकार का अन्तराय कर्म है।

नाम—जिसके उदय से शरीर की आकृति उन का रंग, गंध, रस, स्पर्श और हड्डियों का जोड़ आदिक होता है, नाम कर्म के ९३ भेद किये गये हैं।

नामकर्म के ९३ भेद।

गति—जिसके उदय से आत्मा एक भव से दूसरे भव में गमन करती है। गति कर्म ४ प्रकार है नरक, तिर्यंच, देव और मनुष्य।

जाति—जीव की जाति अर्थात् क़िसम ५ प्रकार है, एकेन्द्रिय, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय, और पंचेंद्रिय, जिसके उदय से आत्मा एकेन्द्रिय जाति हो वह एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म है इसी प्रकार पांचों जानना।

शरीर-जिसके उदय से संसारी जीवों के शरीर की रचना हो, वह शरीर नाम कर्म पांच प्रकार का है वृक्षादिक, स्थावर, पशु, पक्षी और मनुष्य का शरीर अर्थात् स्थूल देह औदारिक है, देव नारकियों का शरीर वैक्रियिक है अर्थात् विक्रिया कर सक्ता है, अनेक प्रकार रूप धारण कर सक्ता है—प्रमत्त गुणस्थानी मुनि महाराज को शंका उत्पन्न होने पर उनकी आत्मा शरीर से बाहर फैल कर जहां श्री केवली वा श्रुत केवली भगवान हों वहां तक पहुंच कर अपनी शंका निवारण करके फिर शरीर में ही संकुचित हो जाती हैं उस समय मुनि के जो शरीर प्रगट होता है उसको आहारक शरीर कहते हैं-शरीर में जिस से तेज होता है वह तैजस शरीर है—ऋद्धि धारक मुनि को क्रोध वा दया उत्पन्न होने पर किसी को नष्ट करने वा उपकार करने में जो समर्थ होता है वह भी तैजस शरीर है—कर्म के पुद्गल परमाणुओं का नाम कार्माण शरीर है, कार्माण और तैजस यह दो शरीर संसारी जीव के सदा बने रहते हैं जब तक कि मुक्ति नहीं होती है—

अङ्गोपाङ्ग-मस्तक, पीठ, हृदय, बाहु, उदर, नलक, हाथ, पांव इन को अंग कहते हैं और ललाट नासिका आदिक उपांग हैं-अंगोपांग नाम कर्म तीन प्रकार है-औदारिक शरीर अंगोपांग-वैक्रियक शरी-

रांगोपांग-आहारिक शरीरांगोपांग, जिसके उदय से अंग उपांगो का भेद प्रकट होता है वह अंगोपांग नाम कर्म कहलाता है।

निर्माण—जिस कर्म के उदय से अंगोपांग की उत्पत्ति हो वह निर्माण कर्म हैं-यह दो प्रकार है एक स्थान निर्माण और दूसरा प्रमाण निर्माण, अंगोपांग का योग्य स्थान में निर्माण होना स्थान निर्माण है और अंगोपांग की योग्य प्रमाण लिये रचना करे सो प्रमाण निर्माण है।

बन्धन—जिस के उदय से शरीर नाम कर्म के वश से ग्रहण किये हुये पुद्गल परमाणुओं का शरीर रूप बन्धन होता है वह बन्धन नाम कर्म पांच प्रकार है। औदारिक बन्धन, वैक्रियक बन्धन, आहारक बन्धन, तैजस बन्धन, और कर्माण बन्धन।

संघात—जिस के उदय से शरीरों में छिद्र रहित एक दूसरे के प्रदेशों में प्रवेश रूप संघटन (एकता) होवै उसे संघात नाम कर्म कहते हैं वह भी पांच प्रकार है। औदारिक संघात, वैक्रियक संघात, आहारक संघात, तैजस संघात और कार्माण संघात।

संस्थान—शरीर की आकृति का होना। छै प्रकार है। (१) सम चतुरस्र संस्थान अर्थात् ऊपर नीचे और मध्य में समान विभाग से शरीर की आकृति का उत्पन्न होना। (२) न्यग्रोध परिमण्डल अर्थात् वट वृक्ष के समान शरीर का नाभि के नीचे का भाग पतला होना और ऊपर का मोटा होना। (३) स्वाति संस्थान अर्थात् शरीर का नीचे का भाग मोटा होना और ऊपर का पतला (४) कुब्ज संस्थान अर्थात् कूब निकला हुवा कुबड़ा शरीर (५) वामन संस्थान अर्थात् छोटा शरीर जिसको बावना कहते हैं (६) हुंडक अर्थात् बिल्कुल बेडौल शरीर।

संहनन—अर्थात् शरीर की हड्डियों का जोड़। संहनन नाम हाड़ों के समूह का है। नसों से हाड़ों के वेष्टित होने का नाम ऋषभ वा वृषभ है। कीलों के द्वारा हाडों के जुड़ने का नाम नाराच है। संहनन ६ प्रकार है (१) बज्रवृषभ नाराच संहनन अर्थात् हाड, कील, नस सब बज्र के समान मजबूत हों। (२) बज्र नाराच संहनन अर्थात् हाड और कील बज्र के समान हों और नस सामान्य हों (३) नाराच संहनन अर्थात् हाडों की संधि कीलों से जुड़ी हुई हों परन्तु बज्र के समान कोई नहीं सब सामान्य हों (४) अर्ध नाराच संहनन अर्थात् हाड़ों की संधि आधी कीलों से जुड़ी हो (५) कीलक संहनन अर्थात् नाराच न हो कलि ठुकी हुई नहीं हाड़ ही आपुस में कीले हुवे हों। (६) असंप्राप्ता सृपाटिका संहनन अर्थात् हाड आपुस में ठुके हुये नहीं बरण दो हाड मिलाकर उन पर नस और मांस आदिक लिपटा हुवा हो।

स्पर्श—अर्थात् शरीर में स्पर्श गुण का होना। और वह ८ प्रकार है। कर्कश, मृदु, गुरू, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत, और उष्ण।

रस—अर्थात् शरीर में रस का होना और वह ५ प्रकार है। तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल और मधुर

गन्ध—अर्थात् शरीर में गन्ध का होना वह २ प्रकार है। सुगन्ध और दुर्गंध।

वर्ण—शरीर में रङ्ग का होना। ५ प्रकार है। शुक्ल, कृष्ण, नील, रक्त, और पीत।

आनुपूर्व्य—पूर्व आयु के उच्छेद होने पर जब जीव शरीर छोड़ कर दूसरे शरीर में जाता है तब जीव छूटने वाले शरीर में मौजूद रह कर बाहर फैलता है और उस स्थान तक पहुंचता है जहां उसको नवीन शरीर धारण करना है। वहां पहुंच कर प्रथम शरीर को छोड़ देता है और सुकड़ कर दूसरे शरीर में समाजाता है। इस प्रकार दूसरे शरीर को ग्रहण करने और प्रथम शरीर के छोड़ने की क्रिया को विग्रह गति कहते हैं। इस गति में तैजस और कार्माण दो शरीर रहते हैं। जब तक जीव नवीन शरीर में नहीं

समाजाता है तब तक तैजस और कार्माण शरीरों का आकार वैसाही रहता है जैसा पूर्व शरीर का था। उस आकार के रहने का कारण आनुपूर्व्य नाम कर्म है। जब जीव नवीन शरीर में समा जाता है तब तैजस और कार्माण शरीरों का आकार नवीन शरीर के अनुसार हो जाता है। आनुपूर्व्य के चार भेद हैं। (१) नरकगति प्रायोग्यानुपूर्व्य अर्थात् नरक गति में जाते हुवे जो पूर्व शरीर था उसके आकार आत्म-प्रदेशों का रहना (२) देवगति प्रायोग्यानुपूर्व्य-अर्थात् देवगति में जाते हुवे जो पूर्व शरीर था उसके आकार आत्मप्रदेशों का रहना (३) मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्व्य अर्थात् मनुष्य गति में जाते हुवे जो पूर्व शरीर था उसके आकार आत्मप्रदेशों का रहना (४) तिर्यंगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य अर्थात् तिर्यंच गति में जाते हुवे जो पूर्व शरीर था उसके आकार आत्मप्रदेशों का रहना।

अगुरुलघु-जिसके उदय से शरीर न तो ऐसा भारी हो जो नीचे गिरजावे और न ऐसा हलका हो जो आक की रूई की तरह उडजावे।

उपघात—शरीर के अवयवों का ऐसा होना कि आपही अपने को बांध लेवै आपही अपना घात करले।

परघात—सींग, नख और विष आदिक पर को घात करने वाली वस्तु शरीर में होना।

आताप—ऐसा शरीर का होना जिस में आग के समान गर्मी हो।

उद्योत—ऐसे शरीर का होना जिस में उद्योत अर्थात् रोशनी हो।

उच्छ्वास—सांस लेना।

विहायोगति—ऐसा शरीर होना जो आकाश में गमन कर सकै वह दो प्रकार का है। प्रशस्त और अप्रशस्त।

प्रत्येक—एक जीव के वास्ते ही एक शरीर का होना।

साधारण-बहुत जीवों का एक ही शरीर होना, अनन्ते निगोदिया जीवों का एक ही शरीर होता है उन सब का जन्म मरण और सांस लेना आदिक सब क्रिया इकट्ठी ही होती है यह निगोदिया जीव बनस्पति कायही होते हैं।

त्रस—आत्मा का द्वीन्द्रियादिक रूप उत्पन्न होना।

स्थावर—आत्मा का पृथ्वी आदि एकेंद्री रूप उत्पन्न होना।

सुभग—ऐसा शरीर जिस को देख कर देखने वाले को प्रीति उत्पन्न हो।

दुर्भग—ऐसा शरीर जिस को देख कर अप्रीति उपजै।

सुस्वर—जिस के उदय से शब्द सुन्दर होवै।

दुःस्वर—जिस के उदय से अमनोज्ञ स्वर की प्राप्ति हो।

शुभ—शरीर के अवयव देखने में सुन्दर हों।

अशुभ—शरीर के अवयव देखने में असुन्दर हों।

सूक्ष्म—ऐसा बारीक शरीर हो कि वह किसी वस्तु से न रुकै लोहा, मिट्टी, पत्थर आदिक के भी बीच में हो कर निकल जावै।

बादर—जो सूक्ष्म नहो अर्थात् स्थूल शरीर हो और रुकै।

पर्याप्ति—आहार आदिक जो पर्याप्ति कहाती हैं उनका प्राप्त होना। वह ६ प्रकार है। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन।

अपर्याप्ति जिस के उदय से जीव छहों पर्याप्ति में से एक भी पर्याप्ति को पूर्ण नहीं कर सके उसे अपर्याप्ति नामकर्म कहते हैं।

स्थिर—उपवास और तपश्चरण तथा कष्ट आदिक के आने पर भी शरीर में स्थिरता का बना रहना और शरीर के धातु उपधातु का अपने २ स्थान में स्थिर रहना।

अस्थिर—किंचित कारण पाकर शरीर के धातु उपधातु की स्थिरता का बिगड़ जाना।

आदेय—प्रभा सहित शरीर का होना।

अनादेय—शरीर का प्रभा रहित होना।

यशःकीर्ति—यश और कीर्ति का होना।

अयशःकीर्ति—अपयश और अकीर्ति का होना। अर्थात् पाप रूप गुणों की ख्याति का होना।

तीर्थङ्करत्व—तीर्थंकर पदवी अर्थात् अरहंतपना का प्राप्त होना।

इस प्रकार ९३ प्रकृति नाम कर्म की हैं।

मन, बचन और काय यह तीन प्रकार के योग हैं इनही के अनुसार प्रकृति और प्रदेश बन्ध है—योगों की चंचलता जैसी कमती बढ़ती होती है वैसाही कमती बढ़ती प्रकृति और प्रदेश बन्ध होता है। योग के द्वारा एक समय में कर्म के जितने परमाणु उत्पन्न होते हैं वह आठों प्रकार के कर्मों में बँट जाते हैं। अधिक भाग बेदनी में उससे कम मोहनी में उससे कम ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय में उससे कम नाम और गोत्र में जाता है। बेदनी, गोत्र और आयु इनकी उत्तर प्रकृतियों में एकही एक प्रकृति का एक समय में बन्ध होता है अर्थात बेदनी में साता, असाता में से एक का गोत्र में उच्च वा नीच एक का। आयु की चार प्रकृति में से एक का। मोहनी कर्म में जो नो कषाय हैं उन में तीन बेद में से एक बेदका, रति अरति में से एक का और हास्य और शोक में से एक का बन्ध होता है। मोहनी कर्मकी बाकी सर्व प्रकृति और ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय की सर्व प्रकृतियों का बन्ध एकही समय में होता है। नाम कर्म में जो जो प्रकृति एक दूसरे के प्रतिपक्षी हैं उन में से एकही प्रकार की प्रकृति का बन्ध होता है। इस प्रकार जिन २ प्रकृतियों का एक समय में बन्ध होसक्ता है उन सब में एक समय में आये कर्म परमाणु तक़सीम होजाते हैं। परन्तु जिस अवस्था में वा जिस गुणस्थान में जिस २ प्रकृति का बन्ध होही नहीं सक्ता है उस उस अवस्था में जो जो प्रकृति बन्ध योग्य नहीं हैं उन में कर्म पुद्गल का बटवारा भी नहीं होता है।

एक समय में जो बस्तु मनुष्य खाता है उसके परमाणुओं से हड्डी, नस, खून, मांस, चाम, वीर्य, कफ़, पसीना, पेशाब और पाखाना आदिक बनता है अर्थात प्रत्येक खाई हुई बस्तु के परमाणु हड्डी, मांस आदिक रूप बँटजाते हैं और फिर सिरकी हड्डी,

परकी हड्डी, हाथकी हड्डी आदिक विभागों में और आंख, नाक, हृदय, पेट आदिक अवयवों में बँटते हैं इसही प्रकार प्रत्येक समय में योगों के द्वारा उत्पन्न हुए कर्म परमाणुओं का बटवारा होता है।

स्थितिबन्ध।

जो वस्तु हम खाते हैं उस में से किसी वस्तु का असर हमारे शरीर में अधिक समय तक रहता है और किसी का बहुत थोड़े समयतक। यहही दशा कर्मोंकी है कि कोई कर्म अधिक समयतक रहता है और कोई थोड़े समयतक इसही को स्थिति बन्ध कहते हैं। स्थिति बन्ध कषाय के अनुसार है। कषाय जैसी हलकी भारी होगी वैसी कर्म की स्थिति होगी। कषाय हल्की अर्थात मन्द है तो कर्मकी स्थिति भी कमती होगी और कषाय तेज अर्थात तीव्र है तो स्थिति भी ज्यादा होगी।

अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन यह चार भेद जो कषाय के किये गये हैं वह कषाय की तीव्र वा मन्द अपेक्षा से नहीं हैं वह तो सम्यक्त वा चारित्र ग्रहण करने की अपेक्षा से हैं। तीव्र मन्द की अपेक्षा कषायों के हज़ारों और लाखों दर्जे होसक्ते हैं परन्तु मोटे रूप चार दर्जे हैं। अति तीव्र, तीव्र, मन्द और अति मन्द।

अनुभाग बन्ध।

जो वस्तु हम खाते हैं उन में से कोई वस्तु ऐसी होती है जो पेट में वा शरीर के किसी दूसरे अंग में पीड़ा करदे परन्तु कोई वस्तु कम पीड़ा देनेवाली होती है और कोई अधिक पीड़ा देनेवाली होती है इसही प्रकार कोई वस्तु पीड़ाको दूर करनेवाली और हर्ष पैदा करानेवाली होती है परन्तु इस में भी कोई कमती हर्ष उत्पन्न करानेवाली होती है और कोई ज्यादा। इसही प्रकार किसी समय कर्म अधिक फल देनेकी शक्ति वाला और किसी समय कम फल देनेकी शक्ति वाला पैदा होता है। इसही को अनुभाग बन्ध कहते हैं। वह परिणाम जिससे कर्म उत्पन्न हो जितना संक्लेश रूप अधिक होगा उतनाही अशुभ कर्मों का अधिक अनुभाग बन्ध और शुभ कर्मों का कमती अनुभाग बन्ध होगा और परिणाम जितना विशुद्ध रूप अधिक होगा उतनाही शुभ कर्मों का अधिक अनुभाग बन्ध और अशुभ कर्मों का कमती अनुभाग बन्ध होगा।

कर्मों का अलटना पलटना।

हमने एक वस्तु ऐसी खाई जो हमारे शरीर में पीड़ा कररही है दूसरी कोई वस्तु ऐसी भी होसक्ती है जो पीड़ाको दूर करनेवाली और आप सुखदाई हो और पहली

खाई हुई वस्तु जो पीड़ा कररही है उसको भी पचाकर और पलटकर सुखदाई बनादेवै। वा कोई वस्तु सुखदाई हमने खाई उसके पीछे ऐसी वस्तु खाई जासक्ती है जो पहली खाई हुई वस्तु को भी दुखदाई बना दे और आप भी दुखदाई हो।

इसही प्रकार यह भी देखने में आता है कि जिसको बलगम (कफ) की बीमारी अधिक होजावे वह जो कुछ खाता है उसका बलगम ही बनता रहता है-यह ही दशा कर्मों की है कि नवीन कर्म के प्रभाव से पहले बन्ध हुवे कर्मों में अलट पलट हो जाती है और इसही प्रकार पहले कर्मों के प्रभाव से नवीन कर्मों पर असर पड़ता है

इस कथन को समझाने के वास्ते हम कर्म बन्धन के दस रूप वर्णन करते हैं— बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदय, उदीणा, उपशांत, निद्धत, निकांचना और सत्व—अब इनका पृथक २ सरूप दिखाते हैं—

बन्ध—साधारण कर्मरूप पुद्गल परमाणुओं का जीव के साथ मिलजाना।

उत्कर्षण—किसी कर्म का जो स्थिति और अनुभाग पहले था नवीन कर्म के मिलने से उस स्थिति अनुभाग में अधिकता होजाना।

अपकर्षण—जो स्थिति अनुभाग पहले था उसमें कमी होजाना।

संक्रमण—एक प्रकृति के कुछ परमाणुओं का दूसरी प्रकृतिरूप होजाना जैसे असाता वेदनी कर्म का साता वेदनीरूप होजाना। परन्तु आठ कर्मों में से एक प्रकार का कर्म दूसरे कर्मरूप नहीं हो सक्ता है। प्रत्येक कर्म के जो अनेक भेद हैं उन एक एक कर्म के भेदों में आपुस मेंही संक्रमण होता है। जैसे ज्ञानावरणी कर्म के पांच भेद हैं उन पांचों भेदों में संक्रमण अर्थात् अलटन पलटन हो जावैगा जैसा कि मति ज्ञाना वरणी कर्म के कुछ परमाणु अवधि ज्ञानावरणी रूप होजावैं परन्तु मोहनी वा और कोई कर्म रूप नहीं हो सक्ते हैं। यहां तक कि मोहनी कर्म के जो दो भेद दर्शनमोहनी और चारित्रमोहनी हैं इनका भी आपुस में संक्रमण नहीं होता है। चारित्रमोहनी के जो २५ भेद हैं उनही का आपुस में संक्रमण होसक्ता है वह पलटकर दर्शन मोहनी नहीं बनसक्ते। परन्तु आयु कर्म का अपने भेदों अर्थात चारों उत्तर प्रकृतियों में भी संक्रमरण नहीं है।

उदय—कर्म बंध के पश्चात् जब तक कि वह कर्म फल नहीं दे सक्ता है उसको आवाधा काल कहते हैं-आवाधाकाल के पश्चात् कर्म की स्थिति तक जितने समय होते हैं उतने ही विभाग कर्म परमाणुओं के होकर एक भाग को निषेक कहते हैं-एक एक निषेक एक एक समय में उदय आता रहता है अर्थात् फल देकर नष्ट होता रहता है।

उदीर्णा–जो निषेक अभी तक उदय में आने योग्य नहीं हुआ है उसको पहलेही उदय में ले आना अर्थात् उदय आने वाले निषेक में मिला देना-भावार्थ कर्म को जल्दी उदय लाकर खिरा देना ।

उपशांत–वह निषेक जो अभी उदय में आने वाले नहीं हुवे हैं परन्तु जिनकी उदीर्णा हो सक्ती है ।

निद्धत–वह निषेक जो अभी उदय में आने वाले या संक्रमण होने वाले नहीं हैं परन्तु जिनकी उदीर्णा हो सक्ती है

निकांचित–वह निषेक जो अभी उदय आने वाले या संक्रमण होने वाले या उत्कर्षण या अपकर्षण होने वाले नहीं हैं परन्तु जिनकी उदीर्णा हो सक्ती है ।

सत्व–कर्मों का विद्यमान रहना ।

इसके अतिरिक्त कर्म की एक प्रकृति बिल्कुल भी दूसरी प्रकृति में बदल सक्ती है उसको **विसंयोजन** कहते हैं—परन्तु यह पलटना मूल प्रकृतियों में नहीं हो सक्ता है अर्थात् ज्ञानावरण आदिक आठ कर्मों में से कोई कर्म बदल कर दूसरा कर्म नहीं हो सक्ता है बरण एक एक कर्म के जो कई कई भेद हैं उन में से एक भेद पलट कर विल्कुल दूसरे भेद रूप हो सक्ता है ।

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू ।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो ॥३४॥

अर्थ–आत्मा का जो परिणाम कर्म के आस्रव को रोकने में कारण है उसको निश्चय से भाव संवर कहते हैं और जो द्रव्य आस्रव को रोकने में कारण है वह द्रव्य संवर है—

भावार्थ–कर्मों को पैदा न होने देना अर्थात् रोकना सम्बर कहाता है—जिन परिणामों से कर्म का पैदा होना बन्द होता है वह आत्मा के परिणाम भाव सम्बर कहाते हैं और उसही के रुकने से पुद्गल परमाणु कर्म रूप नहीं होते हैं उसको द्रव्य संवर कहते हैं–

वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपेहा परीसहजओ य ।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवर विसेसा ॥३५॥

अर्थ–व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और अनेक प्रकार का चारित्र यह सब भावसंवर के भेद जानने चाहियें ।

भावार्थ—अपनी शुद्ध आत्मा के ही भाव में मग्न रहना रागद्वेषादि विकल्पों से रहित होना ही कर्मों के न पैदा होने का कारण है-ऐसी शुद्ध अवस्था पैदा होने के कारण व्रत समिति आदिक हैं-अब इन कारणों की पृथक, व्याख्या की जाती है।

व्रत— निश्चय से रागद्वेषादिक विकल्पों से रहित होने का नाम व्रत है-और इस अवस्था को प्राप्त करने वाले अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्म और अपरिग्रह यह पांच व्यवहार रूप कारण हैं यह ही पांच व्रत कहाते हैं - कषाय से अपने वा पर जीव के भाव प्राण वा द्रव्यप्राण को पीड़ा न देना अहिंसा व्रत है। कषाय से अपने को वा पर को हानि कारक अप्रशस्त बचन न बोलना सत्यव्रत है- कषाय से बिना दिये हुए पदार्थ को ग्रहण न करना अचौर्य व्रत है - पुरुष वा स्त्री से मैथुन का न करना ब्रह्म व्रत है, अपनी निज आत्मा से पर पदार्थों में ममत्व का न होना अपरिग्रह है।

समिति—अपने शरीर से अन्य जीवों को पीडा न होने की इच्छा से यत्नाचार रूप प्रवृति करना समिति है। कर्मों के पैदा होने को रोकने को पूरी पूरी कोशिश त्यागी मुनिही कर सकते हैं उनका सावधानी से क्रिया करना भी कर्मों के पैदा होने को रोकने में सहकारी कारण है इसी को समिति कहते हैं वह सावधानी पांच प्रकार है ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण और उत्सर्ग, दिन में ही चलना रात्रि को न चलना, ऐसे रास्ते पर चलना जिस पर मनुष्य और पशु आदिक चलते रहे हों आहिस्ता २ आगे को देखते हुवे चलना, चलते समय इधर उधर न देखना, अर्थात् ऐसी सावधानी से चलना जिस से किसी जीव की हिंसा न हो इसका नाम ईर्या समिति है। हितकारी प्रमाणीक संदेह रहित प्रिय बचन कहना भाषा समिति है - दिन में एक बार निर्दोष आहार लेना एषणा समिति है-शास्त्र, पीछी और कमंडल आदिक जो कुछ मुनि के पास होता है उसको नेत्रों से देखकर और पीछी से सोधकर इस प्रकार धरना उठाना कि किसी जीव को बाधा न हो आदान निक्षेपण समिति है। मल मूत्र इस प्रकार सावधानी से डालना जिसमें जीव को बाधा न हो उत्सर्ग समिति है।

गुप्ति—मन, बचन और काय के व्यापार को बश करना क़ाबू में लाना व रोकना गुप्ति है।

धर्म-उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य यह दस प्रकार का धर्म कहाता है। क्रोध कषाय के कारण परिणामों में कलुषिता न होने देना क्षमा है। मान अर्थात् मद न करना मार्दव है। माया अर्थात् छल कपट का न करना आर्जव है, यथार्थ बचन कहना सत्य है। लोभ गृद्धिता अर्थात् लालच को दूर कर अन्तः

करण को पवित्र रखना शौच है। इन्द्रिय निरोध और जीवों की रक्षा करना संयम है कर्म क्षय करने के अर्थ इच्छा के निरोध करने को तप कहते हैं। इस हेतु जिन कारणों से इच्छा का निरोध होता है वह तप है वह तप दो प्रकार का है बाह्य और अन्तरंग, बाह्यतप ६ प्रकार है अनशन, ऊनोदर, विविक्तशय्यासन, रस परित्याग, कायक्लेश और वृत्तिपरि संख्या॥ आहार त्याग का नाम अनशन है। भूख से कमती आहार करना अवमोदर्य्य वा ऊनोदर है। विषयी जीवों के सञ्चार रहित निरुपद्रव स्थान में सोना बैठना विविक्तशय्यासन है। दुग्ध, दही, घृत, तेल, मिष्ठान्न, लवण इन छै प्रकार के रसों का त्याग करना रस परित्याग है। शरीर को परिषह देकर पीड़ा का सहन करना कायक्लेश है। और अमुक प्रकार से अमुक आहार मिलेगा तो भोजन करूंगा अन्यथा भोजन नहीं करूंगा इस प्रकार प्रवृत्ति की मर्य्यादा करना वृत्ति परिसंख्या है।

अतरंग तप भी छै प्रकार है - विनय, वैय्यावृत्य प्रायश्चित, व्युत्सर्ग, स्वाध्याय और ध्यान-आदर भाव को विनय कहते हैं-विनय दो प्रकार है मुख्य विनय और उपचार विनय-सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को अपने कल्यान का हेतु समझ कर धारण करना मुख्य विनय है और इनके धारण करने वाले श्रीवीतराग भगवान और श्रीआचार्य आदिकों को नमस्कार आदि करना और इनकी भक्ति के वश परोक्ष रूप में भी उनके तीर्थ क्षेत्र आदिकों की वन्दना करना उपचार विनय है। धर्मात्माओं की सेवा चाकरी करना वैय्यावृत्य है। प्रमाद से यदि कोई दोष हो जावे तो दंड ग्रहण करके दोष निवारण करना प्रायश्चित है। धन धान्यादिक बाह्य और क्रोधमान माया आदिक अन्तरंग परिग्रहों में अहंकार ममकार का त्याग करना व्युत्सर्ग है। सत्य शास्त्रों का पढ़ना, अभ्यास करना, पढ़ाना, उपदेश देना, सुनना और सुनाना स्वाध्याय है। समस्त चिन्ताओं को त्याग कर एक ओर लगना ध्यान है ध्यान का विस्तार रूप वर्णन आगामी किया जावेगा।

दया भाव करके पर जीव को ज्ञान और आहार आदि देना त्याग है परिग्रह का अभाव और शरीर आदिक में ममत्व का न होना आकिंचन्य है। अपनी शुद्ध आत्मा में तल्लीन रहना और पुरुष वा स्त्री भोग का त्याग करना ब्रह्मचर्य्य है।

अनुप्रेक्षा—बार बार विचार करने को अनुप्रेक्षा वा भावना कहते हैं कल्यानकारी भावना बारह प्रकार की हैं जिनसे संम्वर होता है। अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधदुर्लभ और धर्म—

अध्रुव को अनित्य भावना भी कहते हैं। धन, धान्य, महल, मकान, स्त्री, पुत्र, शरीर, पदवी, अधिकार आदिक जगत की सर्व वस्तु विनाशीक हैं, सदा स्थिर रहने

वाली कोई वस्तु नहीं है। अपने २ स्वभावानुसार सर्व वस्तु अपनी पर्य्याय पलटती हैं और कुछ से कुछ हो जाती हैं। ऐसा विचार करना अध्रुव भावना है।

अशरण–जगत में कोई शरण नहीं है कर्मों के फल से कोई बचाने वाला नहीं है। राजा, महाराजा, भाई, बन्धु, मन्त्र, औषधि आदिक कोई भी वस्तु बचाने वाली नहीं है जिसकी शरण ली जावै।

संसार–संसार का अर्थ संसरण अर्थात् चक्र की तरह घूमना है यह जीव ८४ लाख योनि में घूमता फिरता है कभी कोई पर्य्याय धारण करता है और कभी कोई इस प्रकार तेली के बैल की तरह घूमताही रहता है। नहीं मालूम एक २ पर्य्याय कितनी२ बार धारण की हो और यदि मुक्ति न हुई तो कितनी २ बार धारण करेगा। यह संसार भावना है।

एकत्व–स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु, महल, मकान, धन, धान्य, आदिक जगत की सब वस्तु यहां तक कि जीवका शरीर भी पर पदार्थ है कोई भी वस्तु सदा साथ रहने वाली नहीं है। जिस प्रकार रस्ता चलते एक मुसाफिर को दूसरे मुसाफिर से साथ हो जाता है इसही प्रकार जगत की वस्तुओं का साथ है और जिस प्रकार रास्ते में मिले हुए मुसाफिर बिछड़ २ कर अपने अपने स्थान को चले जाते हैं इसही प्रकार जगत की सर्व वस्तु बिछड़ २ कर अपने २ स्वभावानुसार अपने २ रस्ते लगती हैं। यह जीव वास्तव में अकेलाही है। मरण समय सर्व वस्तु यहीं रह जाती हैं कोई भी साथ नहीं जाती। जीव के कर्म जो साथ जाते हैं वह भी अपना फल देकर अलग होते रहते हैं। जीव का साथी कोई भी वस्तु नहीं है। जीव अकेलाही है यह एकत्व भावना है।

अन्यत्व–जीव चैतन्य है इस हेतु सर्व अचेतन पदार्थ तो इससे पराये हैं ही परन्तु जीव एक दूसरे से भी अन्यही है। आपुस में एक नहीं हैं। अपनी २ परिणति के अनुसार प्रवर्तते हैं। इस हेतु किसी से भी ममत्व नहीं करना चाहिये। यह अन्यत्व भावना है।

अशुचित्व-यह शरीर अत्यन्त अशुचि और घिणावना है। मांस, रुधिर, हाड़, चाम, आदिक अपवित्र वस्तुओं का हीं बना हुआ है। इस हेतु शरीर ममत्व के योग्य नहीं है। यह अशुचित्व भावना है।

आस्रव–आस्रव अर्थात् कर्मों के पैदा होने से यह जीव संसार में रुलता है इस हेतु जिन २ कारणों से आस्रव होता है उनका बिचार करके उनसे बचने काही उपाय करना चाहिये यह बिचार आस्रव भावना है।

सम्वर—सम्वर अर्थात् कर्मों के पैदा होने को रोकने सेही यह जीव संसार समुद्र

से तिर सका है इस हेतु संवर के कारणों को विचार करके उन कारणों को ग्रहण करना चाहिये यह विचार संवर भावना है ।

निर्जरा—कर्मों का कुछ दूर होना निर्जरा है । निर्जरा के कारणों को जानकर जिस तिस प्रकार बंधे हुए कर्मों को दूर करना चाहिये ऐसा निर्जरा संबन्धी विचार करना निर्जरा भावना है ।

लोक-लोक के तीन भेद हैं अधोलोक, मध्यलोक, और उर्ध्वलोक यहही तीन लोक कहाते हैं । अधोलोक में नरक है । नरक की सात पृथिवी हैं रत्नप्रभा, उसके नीचे शर्कराप्रभा उसके नीचे बालुका प्रभा उसके नीचे पंकप्रभा उसके नीचे धूमप्रभा उसके नीचे तमःप्रभा और सब से नीचे महातमःप्रभा है । नरक के नीचे स्थान में निगोद आदि पंच स्थावर जीव भरे हुवे हैं । रत्नप्रभा के तीन भाग हैं । खर, पंक और अब्ब-हुल, खर भाग में सात प्रकार के व्यन्तर, पंकभाग में असुर और राक्षस रहते हैं और अब्बहुल भाग से नरक प्रारम्भ होता है इस भाग में नारकी रहते हैं ।

मध्यलोक में मनुष्यों तिर्यंचों के रहने की पृथिवी और सूर्य्य चन्द्रमा नक्षत्र आदिक हैं ।

ऊर्ध्वलोक में एक युगल (जोडा) के ऊपर दूसरा इस प्रकार १६ स्वर्ग हैं सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लातव, कापिष्ट, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत, इन १६ स्वर्ग के ऊपर नव ग्रैवेयक हैं इनके भी ऊपर नवा अनुदिश पटल है । इसके भी ऊपर पञ्चानुत्तर पटल हैं । इन में भी देव रहते हैं । इनके ऊपर मोक्ष शिला है । इस प्रकार तीन लोक के स्वरूप का चिन्तवन करना कि लोक कितना बड़ा है उसमें क्या क्या स्थान हैं और किस २ स्थान में क्या २ रचना है और वहां क्या होता है सो लोक भावना है ।

इस लोक भावना से संसार परिभ्रमण की दशा मालूम होती है और इससे छूटने और मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा होती है ।

बोधि दुर्लभ एकेंद्रियादिक बहुत से जीवों को तो ज्ञान नाम मात्र ही होता है पंचेंद्री भी बहुत से जीव पशु आदिक कुछ आत्म शुद्धि नहीं कर सक्ते हैं । देव और नारकी चारित्र नहीं पाल सक्ते और मुक्ति नहीं पा सक्ते एक मनुष्य देह से ही मुक्ति होती है । और सम्यक् दर्शनादि पल सकते हैं सो यह मनुष्य देह बड़ी दुर्लभता से प्राप्त होती है इस को पाकर भी धर्म का उपदेश और धर्म पालने का समागम मिलना दुर्लभ है ऐसी दशा में अपने कल्यान का अवसर यदि किसी प्रकार मिल गया है तो उसको

अहोभाग्य जान कर प्रमाद करना और आत्म साधन न करना अति मूर्खता है। इस प्रकार रत्न त्रय की प्राप्ति दुर्लभ होने के विचार को बोध दुर्लभ भावना कहते हैं।

धर्म—धर्म के स्वरूप का चिन्तवन करना तथा धर्म ही संसार से तिराने वाला है यह ही शिवपुर में पहुंचाने को रेलगाड़ी है संसारीक सुख भी इसही से मिलता है। दुखों से निवृत्ति भी धर्म से ही होती है ऐसा विचार करना धर्म भावना है।

परीषहजय—मुनिमहाराज २२ प्रकार की परीषह अर्थात् पीड़ा को रागद्वेष और कलुषता रहित सहन करते हैं इसको परीषहजय कहते हैं यह भी संवर का कारण है वह २२ परीषह इस प्रकार हैं॥ क्षुधा अर्थात् भूख, तृषा अर्थात् प्यास, शीत अर्थात् जाड़ा, उष्ण अर्थात् गर्मी, नग्न अर्थात् नंगा रहना, याचना अर्थात् किसी से कुछ न मांगना, अरति अर्थात् संयम में अनुराग का अभावन होने देना, अलाभ अर्थात् भोजन के अर्थ जाने में भोजन न मिलना, दंश मसकादि अर्थात् बन में नग्न रहने पर डांस मच्छर मक्खी कानखजूरा और सर्पादि से पीड़ा पहुंचना, आक्रोश अर्थात् दुर्जन मनुष्यों के दुर्वचन सहना, रोग अर्थात् शरीर में बीमारी का होना, मल अर्थात् शरीर पर मैल लग जाना और उसको दूर न करना, तृण स्पर्श अर्थात् कांटा कंकर और फांस आदिक का चुभना, अज्ञान अर्थात् किसी वस्तु का ज्ञान न होने का खेद न करना, अदर्शन अर्थात् बहुत काल तपश्चरण करने पर भी कुछ फल प्राप्ति न होने से सम्यग्दर्शन को दूषित न करना, प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान की वृद्धि होने पर मान न करना सत्कार पुरस्कार अर्थात् आदर सत्कार न चाहना और सत्कार पाने पर हर्षित न होना और तिरस्कार पाने पर दुखित न होना, शय्या अर्थात् खुरदरी पथरीली भूमि पर शयन करने को दुःख न मानना, वध बंधन अर्थात् दुष्ट मनुष्यों द्वारा वध बंधनादि दुःख पाने पर समता रखना, निषद्या अर्थात् निर्जन बन में जहां सिंह आदि दुष्ट जीव रहते हैं निवास करने का दुःख न मानना, स्त्री अर्थात् महा सुन्दर स्त्री को देख कर भी चित्त में विकार न होना।

चारित्र—आत्मस्वरूप में स्थित होना चारित्र है उसके पांच भेद हैं। (१) सब जीवों में समता भाव रखना संपूर्ण शुभ अशुभ संकल्प विकल्पों का त्यागरूप समाधि धारण करना तथा रागद्वेष का त्याग करना और सुख दुःख में मध्यस्थ रहना यह समायिक चारित्र है। (२) सामायिक में स्थित रहने को असमर्थ होने पर अर्थात् डिगजाने पर फिर अपने को अपनी शुद्ध आत्मा के अनुभव में लगाना वा व्रत आदिक में भंग पड़ने पर प्रायश्चित आदिक से फिर सावधान होना छेदोपस्थापन चारित्र है (३) रागद्वेषादिक विकल्प को त्यागकर अधिकता के साथ आत्मशुद्धि करना परिहार

विशुद्धि चारित्र है (४) अपनी आत्मा को कषाय से रहित करते करते सूक्ष्मलोभ कषाय नाममात्र को रहजावे उसको सूक्ष्मसांपराय कहते हैं उसके भी दूर करने की कोशिश करना सूक्ष्मसांपराय चारित्र है। (५) कषाय रहित जैसा निष्कंप आत्मा का शुद्धस्वभाव है वैसा होकर उस में मग्न होना यथाख्यात चारित्र है। चारित्र के अनेक भेदों का वर्ण आगामी विस्तार से किया जावैगा। इस प्रकार संवर के अनेक कारण वर्णन कियेगये।

जह्नकालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलंजेण।
भावेणसडदिणेया तस्सडणे चेदिनिज्जरादुविह्ना ॥३६

अर्थ—आत्मा के जिस परिणामरूप भाव से कर्म्म रूपी पुद्गल फल देकर नष्ट होते हैं वह भाव निर्जरा है और समय पाकर वा तप से कर्मरूप पुद्गलों का नष्ट होना द्रव्य निर्जरा है।

भावार्थ—किसी कर्म के नष्ट होने का नाम निर्जरा है। जब किसी कर्म का फल हो चुकता है तो वह कर्म दूर होजाता है इस प्रकार फल देकर अपने समय पर कर्म का दूर होना सविपाक निर्जरा है और तप करके समय से पहले ही किसी कर्म को नष्ट कर देना अविपाक निर्जरा है।

तप से संवर भी होता है और निर्जरा भी होती है।

सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो।
णेयो स भावमुक्खो दव्वविमुक्खो य कम्मपुहभावो॥३७॥

अर्थ—सब कर्मों के नाश का कारण जो आत्मा का शुद्ध परिमाण है वह भाव मोक्ष है और आत्मा से सर्वथा कर्मों का जो दूर होना है वह द्रव्य मोक्ष है।

भावार्थ—सर्व कर्म नष्ट होकर जीवात्मा के शुद्ध होने का नाम मोक्ष है। एक बार कर्मों से रहित होकर और निज शुद्ध परमानन्द स्वरूप पाकर फिर यह जीव कभी भी कर्मों के बन्ध में नहीं पड़ता है। क्योंकि योग कषाय आदिक कोई भी कारण कर्म आस्रव का शेष नहीं रहता है। जीव का कर्म बंध अनादि सान्त है अर्थात् अनादि से तो यह जीव कर्मों के बन्धन में पड़ा हुआ है परन्तु यह बंधन दूर हो कर इसको मुक्ति हो जाती है अर्थात् कर्म बन्धन का अन्त हो जाता है। मुक्ति सादि अनन्त है अर्थात्

मुक्ति की आदि है परन्तु इसका अन्त नहीं है सदा ही के वास्ते रहती है। परन्तु यद्यपि जीव अनादि से बन्धन में पड़ा हुवा है और किसी समय मुक्ति प्राप्त करता है तौभी बन्धन में पड़ना शुद्ध निश्चय नय से जीव का निज स्वभाव नहीं है। जीव का निज स्वभाव तो शुद्ध और मुक्त ही है इस हेतु जीव को नित्य मुक्त भी कहते हैं।

जीव निराकार है और कर्म पुद्गल हैं अर्थात् मूर्तीक हैं इस हेतु इन का सम्बन्ध होना कठिन है परन्तु अनादि काल से ऐसा सिलसिला चला आता है कि कर्मों के साथ नवीन कर्म मिलते रहते हैं इस प्रकार कर्मों से कर्मों का सम्बन्ध होता रहता है। और उन ही में से कर्म नष्ट भी होते रहते हैं अर्थात् निर्जरा भी होती रहती है। जब एक बार सब कर्म दूर हो जाते हैं तब फिर किसी कारण से भी जीव के साथ कर्म बन्ध नहीं हो सक्ता है।

कोई २ वस्तु अनन्त भी होती है अर्थात् जिनकी न कुछ गिणती हो सके और न कुछ सीमा हो। जिसमें से कितनी ही वस्तु निकलती रहैं तौभी अनन्त ही बाक़ी रहैं। आकाश के प्रदेश अनन्त हैं उनका कोई अन्त नहीं है क्योंकि तीन लोक के बाहर भी आकाश है और बाहर के आकाश की कोई सीमा नहीं है। आकाश की जो कुछ सीमा बांधी जावै उस सीमा के बाहर भी आकाश अवश्य है। आकाश का कोई अन्त नहीं है। इस ही प्रकार जीवों की गिणती भी अनन्त है इनका भी कोई अन्त नहीं है। इस हेतु चाहे जितने जीव मोक्ष में जाते रहें तो भी संसार में अनन्त जीव बाक़ी रहते हैं संसार में कभी जीव ख़तम नहीं हो सक्ते हैं, जीव तीन लोक के ही भीतर हैं तीन लोक से बाहर नहीं हैं, तीन लोक की हद है बेहद नहीं, परन्तु जीव में अवगाहन शक्ति है अर्थात् जिस स्थान में एक जीव हो उसही स्थान में अनेक जीव समा सक्ते हैं इस हेतु तीन लोक में अनन्त जीव समाये हुवे हैं, पुद्गल में भी अवगाहन शक्ति है अर्थात् एक पुद्गल दूसरे पुद्गल में समा सक्ता है जैसे लोहे में अग्नि समा जाती है, जिस स्थान में एक दीपक का प्रकाश है उसही स्थान में अनेक दीपकों का प्रकाश समा सक्ता है, इस ही हेतु पुद्गल के परिमाणु भी अनन्त हैं, अनन्त जीवों की अनन्त देह हैं और अनन्त जीव और उनकी अनन्त देह अवगाहन शक्ति से तीन लोक ही में समाई हुई हैं।

सुहअसुहभावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलुजीवा।
सादं सुहाउणामं गोदं पुण्णं पराणि पावंच ॥३८॥

अर्थ-शुभ और अशुभ परिणामों में युक्त जीव पुन्य और पाप रूप होते

है॥ साता वेदनी, शुभ आयु, शुभ नाम और उच्चगोत्र इस प्रकार जो कर्मों की प्रकृतियें हैं वे तो पुन्य प्रकृति हैं और बाकी सब पाप प्रकृतियें हैं।

भावार्थ-शुभ परिणामों से पुन्य होता है और अशुभ परिणामों से पाप होता है, कर्मों के दो भेद हैं एक घातिया जो जीव के गुणों का घात करते हैं, और दूसरे अघातिया जो गुणों को घात नहीं करते हैं। ज्ञानावरणी, दर्शणावरणी मोहनी और अन्तराय यह चारों कर्म घातिया हैं इस हेतु यह तो पाप कर्म ही हैं, बाकी चार कर्मों में वेदनी कर्म में सातावेदनी पुन्य कर्म है और असातावेदनी पाप कर्म है, आयु कर्म में देव आयु मनुष्य आयु औरतिर्यंच आयु यह तीन पुन्य कर्म हैं और नरक आयु पाप कर्म है, नाम कर्म की ९३ प्रकृतियों में ५३ प्रकृति पुन्य रूप हैं।

शुभराग, अनुकम्पा और चित्त प्रसाद इन कारणों से पुन्य कर्म पैदा होता है। धर्म और धर्मात्माओं से राग करना शुभ राग है। दया भाव करके किसी जीव के दुःख दूर करने की कोशिश करना अनुकम्पा है। कषायों की मंदता से चित्त में क्षोभ उत्पन्न न होना शांति का होना अर्थात् प्रसन्न रहना चित्त प्रसाद है।

इसके विरुद्ध अन्य प्रकार की क्रियाओं से पाप कर्म पैदा होता है॥ ज्ञानावरणी आदि प्रत्येक कर्म के उत्पन्न होने के कारण साधारण रूप से इस प्रकार हैं।

प्रदोष-अर्थात् ज्ञानी पुरुष ज्ञान का व्याख्यान करता हो उस पर ईर्षा करके उसकी प्रशंसा न करना चुप हो जाना, **निह्नव** अर्थात् किसी बात का ज्ञान रखते हुवे भी किसी के पूछने पर न बताना इनकार कर देना कि मैं नहीं जानता, **मात्सर्य** अर्थात् इस विचार से कि जो यह ज्ञान प्राप्त कर लेगा तो मेरी बराबरी करेगा किसी को ज्ञान का न बताना, **अन्तराय** अर्थात् कोई ज्ञान का अभ्यास करता हो उसमें विघ्न कर देना पुस्तक, पाठक पाठशाला आदिक की प्राप्ति में विघ्न डालना, जिस कार्य से ज्ञान का प्रचार होता हो उस कार्य को बिगाड़ना विरोध करना-**आसादन** अर्थात् कोई पुरुष ज्ञान का उपदेश करे वा प्रकाश करे उसको किसी बहाने से रोक देना-**उपघात** अर्थात् सत्य ज्ञान में दूषण लगाना द्वेष करना, यह सब कार्य ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्म के पैदा होने के कारण हैं।

१ अपने वा पराये परिणाम पीडा रूप करना अर्थात् दुःख पैदा करना २ शोक करना वा दूसरे को शोक उपजाना ३ सोच करना पश्चाताप करना वा दूसरे को कराना ४ विलाप करना आंसू बहाना वा दूसरे को रुलाना जिसको आक्रंदन कहते हैं ५ अपने को वा पर को मारना शरीर को पीड़ा पहुंचाना वा कोई अंग छेद करना जिसको वध कहते हैं ६ इतना ज़ोर से विलाप करना वा कराना कि जिससे

सुनने वाले के हृदय में दया उत्पन्न हो जावे जिसको परिदेवन कहते हैं यह सब असातावेदनी कर्म के पैदा होने के कारण है।

व्रती धर्मात्मा वा सर्व प्रकार के जीव अर्थात् प्राणीमात्र के दुःख दूर करने रूप परिणामों का होना जिसको भूतव्रत्यनुकम्पा कहते हैं, पर के तथा अपने उपकारार्थ दान देना, सराग संयम अर्थात् राग सहित संयम करना भावार्थ धर्म और धर्मात्मा से प्रीति और दुष्ट कर्मों के नष्ट करने में राग होना चित्त में शांति रखना क्रोधादि कलुषता पैदा न करना लोभ का कम करना इन सब कार्यों से सातावेदनी कर्म की उत्पत्ति होती है।

केवल ज्ञानी, शास्त्र, मुनि सच्चे धर्म और देवों को दूषण लगाना दर्शनमोहनीय कर्म अर्थात् मिथ्या श्रद्धान को पैदा करनेवाले हैं।

तीव्र कषाय रूप परिणामों से चारित्र मोहनीय कर्म की उत्पत्ति होती है अर्थात् कषाय करने से अगामी को चारित्र मोहनी कर्म का आस्रव होता है।

बहुत आरम्भ करना और बहुत परिग्रह रखना नरकआयुकर्म के आस्रव का कारण है। माया अर्थात् छल कपट करना कुटिल परिणाम रखना तिर्यंच आयुकर्म पैदा होने का कारण है।

थोड़ा आरम्भ करना थोड़ा परिग्रह रखना और स्वभाव सेही कोमल परिणाम का होना मनुष्यआयुकर्म के पैदा होने के कारण हैं।

सरागसंयम, संयमासंयम, अकाम निर्जरा और बालतप और सम्यक् श्रद्धान यह सब देवआयुकर्म के पैदा होने के कारण हैं। धर्म और धर्मात्मा में प्रीति और भक्ति को सरागसंयम कहते हैं। अनुव्रत अर्थात् श्रावगव्रत धारण करने को संयमासंयम कहते हैं। किसी पराधीन कारण से अर्थात् लाचारी से बेबस होकर भूख प्यास आदिक पीड़ा सहनी पड़े या मारने ताड़ने आदिक के त्रास भोगने पड़ें वा अन्य प्रकार कोई कष्ट उठाना पड़े तो उस दुख को मन्द कषाय रूप होकर सहन करै इसको अकाम निर्जरा कहते हैं। आत्मज्ञान रहित अर्थात् मिथ्यात्व अवस्था में तप करने को बाल तप कहते हैं।

मन, बचन और काय की बक्रता अर्थात् कुटिलता से हिलना और अन्यथा (उल्टा) रूप प्रवर्तना इससे अशुभ नाम कर्म पैदा होवे हैं।

मन, बचन और काय का सरल और सीधा होना और यथार्थ प्रवर्तना शुभ नाम कर्म पैदा करता है।

पर की निन्दा और अपनी प्रशंसा करना पर के विद्यमान गुणों को छिपाना और अपने अविद्यमान गुणों को प्रकट करना नीच गोत्र के आस्रव का कारण है।

अपनी निन्दा पर की प्रशंसा अपने गुणों को छिपाना पर के गुणों को प्रकाश करना नीचा रहना अर्थात् दूसरों का विनय करना और अनुत्सक अर्थात् अपने गुणों का घमंड नहीं करना उच्चगोत्र कर्म पैदा होने का कारण है।

पर के दान भोगादि कर्मों में विघ्न करना अन्तराय कर्म के आस्रव का कारण है।

नामकर्म की प्रकृतियों में एक तीर्थंकर प्रकृति है जो १६ प्रकार की भावनाओं से पैदा होती है। वह भावना इस प्रकार है। (१) दर्शन विशुद्धि अर्थात् निर्मल सम्यक् श्रद्धान (२) विनय संपन्नता अर्थात् देव गुरु और शास्त्र की विनय (३) शीलव्रतष्वेनतीचार अर्थात् व्रत में निरतिचार प्रवृति (४) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग अर्थात् निरन्तर तत्वाभ्यास रखना (५) संवेग अर्थात् संसार के दुःखों से भयभीत रहना (६) शक्तितः त्याग अर्थात् शक्ति को नहीं छिपाकर दान करना (७) शक्तितः तप अर्थात् अपनी सामर्थ्य भर तप करना (८) साधु समाधिः अर्थात् मुनियों के विघ्न और कष्ट को दूर करके उनके संयम की रक्षा करना (९) वैयावृत्यकरण अर्थात् रोगी साधु की सेवा (१०) अर्हद्भक्ति अर्थात् श्रीअरहंत की भक्ति (११) आचार्य भक्ति अर्थात् श्रीआचार्य की भक्ति (१२) बहुश्रुत भक्ति अर्थात् शास्त्र के अधिक जाननेवाले श्रीउपाध्याय की भक्ति (१३) प्रवचन भक्ति अर्थात् शास्त्र के गुणों में अनुराग (१४) आवश्यका परिहाणिः अर्थात् सामायिक, स्तवन, बन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यकीय क्रियाओं में हानि न करना (१५) मार्ग प्रभावना अर्थात् जैनधर्म का प्रभाव बढाना (१६) प्रवचनवत्सलत्व अर्थात् साधर्मी जनों के साथ गऊ बच्चे की समान प्रीति का होना।

॥ इति द्वितीयोऽधिकारः ॥

तृतीय अधिकार।

सम्मद्दंसण णाणं चरणं मुक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा॥३९॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों के समुदाय को व्यवहार से मोक्ष का कारण जानो। निश्चय से सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप जो निज आत्मा है वह ही मोक्ष का कारण है।

भावार्थ—सच्चा श्रद्धान सच्चा ज्ञान और सच्चा आचरण यह तीनों बात इकट्ठी होने से मोक्ष की सिद्धि होती है। और वास्तव में यह तीनों गुण आत्मा के हैं इस लिये निश्चय से आत्माही को मोक्ष का कारण जानो यह तीनों कारण तीन रत्न अर्थात् रत्नत्रय कहाते हैं।

रयणत्तयंन वट्टइ अप्पाणमुइत्तु अण्णादिविअह्मि।
तह्मा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा ॥४०॥

अर्थ—आत्मा के सिवाय अन्य किसी द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहता है इस कारण रत्नत्रयमयी जो आत्मा है वह ही निश्चय नय से मोक्ष का कारण है।

भावार्थ—दर्शन, ज्ञान और चारित्र यह आत्माही में होते हैं पुद्गल, धर्म अधर्म, अकाश और काल इन पांच द्रव्यों में से किसी द्रव्य में भी दर्शन, ज्ञान चारित्र नहीं होसक्ता क्योंकि यह पांचों द्रव्य अजीव हैं अचेतन हैं जड़ हैं। इस हेतु जीवात्माही वास्तव में मोक्ष का कारण है वह ही रत्नत्रय का धारक है।

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणोतं तु।
दुरभिणिवेश विमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जह्मि॥४१॥

अर्थ—जीव आदि पदार्थों का जो श्रद्धान करना है वह सम्यक्त्व है और वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है। और इस सम्यक्त्व के होने पर संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

भावार्थ—जानना अर्थात् ज्ञान और निश्चय करना रुचि करना यक़ीन करना अर्थात् श्रद्धान यह दो प्रथक २ बातें हैं। ज्ञान और बात है और श्रद्धान और, फ़ारसी वाले ज्ञान को इल्म और श्रद्धान को यक़ीन कहते हैं। अङ्गरेज़ी में ज्ञान को नालिज Knowledge और श्रद्धान को बिलीफ़ belief कहते हैं।

धर्म कथन अर्थात् मोक्ष मार्ग में अपनी आत्मा को शुद्ध निरञ्जन मानना और निज आत्मा से भिन्न शरीर आदिक सब पदार्थों को भिन्न समझना और संसारीक अवस्था को कर्मों के बस क़ैदख़ाना समझ कर इस से छुटकारा पाना आवश्यक समझना अर्थात् इन सब बातों की श्रद्धा मन में होना सच्चा श्रद्धान अर्थात् सम्यक्दर्शन है।

वस्तु को ज्यों का त्यों जानना सच्चा ज्ञान है। जिस ज्ञान में तीन प्रकार के दोष नहीं होते हैं वह ही सच्चा ज्ञान होता है (१) संशय अर्थात् दुभिदा रूप ज्ञान

कि यह है वा वह है इस प्रकार है वा उस प्रकार है । जैसे आकाश में चमकती हुई बस्तु को देखकर संशय करना कि क्या तो यह तारा है वा काग़ज़ का बुर्ज है जिस में अग्नि जलती हुई होती है और अग्नि के जोर से आकाश में चढ़ जाता है (२) विपरीत अर्थात् उल्टी बात जानना जैसे कोई औषधि कोई रोग उत्पन्न करने वाली हो और उसको उसही रोग के दूर करने वाली जानना (३) अनध्यवसाय वा विभ्रम अर्थात् यह मालूम ही न होना कि क्या बस्तु है। संशय में तो किसी बस्तु की बाबत दो चार ही प्रकार का ख़याल होता है कि यह है वा यह है परन्तु विभ्रम में कुछ पता ठिकाना ही नहीं होता है। जैसे रस्ते चलते हुवे मनुष्य के पैर से धरती में पड़ी हुई अनेक बस्तु स्पर्श करती हैं परन्तु केवल इतनाही ज्ञान होता है कि कोई बस्तु पैरों से लगती जाती है उसमें संशय भी प्राप्त नहीं होता कि अमुक है वा अमुक और न कुछ विपर्य ही होता है।

इस प्रकार तीन दोष ज्ञान में नहीं होते हैं तो ज्ञान ठीक होता है।

सम्यक् दर्शनवाले काही ज्ञान सम्यक् ज्ञान कहाता है। बिना सम्यक्त के ज्ञान मिथ्या है।

जिस बस्तु का श्रद्धान होगा उसका ज्ञान अवश्य होगा अर्थात् ज्ञान और श्रद्धान दोनों एक साथ ही होते हैं ऐसा होही नहीं सकता है कि किसी बस्तु का श्रद्धान हो और ज्ञान न हो क्योंकि जब उस बस्तु की जानकारी ही नहीं है तो उसका श्रद्धान ही क्या होगा परन्तु ऐसा होसक्ता है कि ज्ञान हो और श्रद्धान न हो।

धर्म मार्ग के कथन में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सम्बर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। यद्यपि इन तत्वों का श्रद्धान शास्त्र के पढ़ने वा उपदेशों के सुनने सेही बहुधा कर हो सक्ता है परन्तु यह श्रद्धान बिना लिखे पढ़े तुच्छ बुद्धि जीवों को भी हो सक्ता है क्योंकि सम्यक् दर्शन के वास्ते यह जरूरी नहीं है कि सातों तत्वों के नाम और उनके भेदों को जानै, परन्तु इन तत्वों के अभिप्राय में प्रतीत का हो जानाही सम्यक् दर्शन है। मन्द बुद्धि मनुष्य भी यह प्रतीत कर सक्ता है कि मैं अर्थात् मेरा जीव शरीर आदिक से भिन्न है और ज्ञान शक्तिवाला है, और क्रोध आदिक कषाय इसके उपाधिक और दुखदाई भाव हैं, इन उपाधिक भावों को दूर करने सेही सच्चा आनन्द प्राप्त होता है । यह सम्यक् दर्शन मन्द बुद्धी मनुष्यों को तो क्या बरण पशु पक्षियों को भी प्राप्त हो सक्ता है क्योंकि मोटे रूप उपरोक्त बातों के आशय की प्रतीत उनको भी हो सक्ती है।

सम्यक्दर्शन के न होने का नाम मिथ्यात्व है । मिथ्यात्व भी मोह ही का अंश है । मोहनी कर्म के दो भेद हैं एक दर्शन मोहनी अर्थात् सम्यक्दर्शन का नष्ट करने वाली और दूसरी चारित्र मोहनी अर्थात् मोक्ष साधन रूप चारित्र को बिगाड़ने वाली । दर्शन मोहनी कर्म का बंध एकही रूप होता है जिसको मिथ्यात्व कहते हैं परन्तु उदय इसका तीन रूप से होता है । एक मिथ्यात्वरूप दूसरे मिथ्यात्व और सम्यक् मिले हुवे मिश्ररूप इस ही के उदय में मिश्र नाम वाला तीसरा गुण स्थान होता है । तीसरे सम्यक्त रूप जिसको सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व कहते हैं इस में यद्यपि सम्यक्त होता है परन्तु मिथ्यात्व की झलक होने के कारण मल सहित होता है इसको वेदक सम्यक्त कहते हैं और क्षायोप समिक सम्यक्त भी कहते हैं इस सम्यक्त में तीन प्रकार के दोष होते हैं चल, मल और अगाढ़ । जिसके सम्यक् भाव में तरंग उठती हैं उसको चल कहते हैं दृष्टान्त रूप उसको यह विचार होता है कि यह मन्दिर मेरा है यह दूसरे का है इस प्रकार उसका श्रद्धान अनेक प्रकार चलायमान होता है परन्तु आत्मीक श्रद्धान में बाधा नहीं आता है इस कारण सम्यक्त बनाही रहता है । इस सम्यक्ती में शंकादिक दोष भी उत्पन्न होते हैं जो २५ प्रकार के हैं जिनको मल कहते हैं इनका वर्णन आगे किया जावैगा । और यह सम्यक्त गाढ़ा अर्थात् दृढ़ भी नहीं होता है इस कारण इसमें अगाढ़ दोष होता है अर्थात् इसको ऐसी २ प्रतीति होती है कि अमुक भगवान् की पूजा करने से अमुक कष्ट दूर होता है और अमुक भगवान् का नाम लेने से अमुक कार्य सिद्ध होता है इत्यादिक अदृढ़ता अर्थात् ग़ैर मज़बूती उसके श्रद्धान में होती है । ऐसा सम्यक्ती सातवें अप्रमत्त गुण स्थान तक पहुंच सक्ता है अर्थात् मुनि तक होसक्ता है ।

सम्यक्त के भेद ।

बीमारी के दूर होने की तीन अवस्था होती है एक बीमारी का प्रगट रूप हट जाना परन्तु बीमारी के कारणों का शरीर में मौजूद रहना जैसे बुख़ार उतर गया है परन्तु बुख़ार का कारण नहीं हटा इस कारण बुखार फिर चढ़ैगा इसको उपशम कहते हैं ।

दूसरे बीमारी का कुछ कम हो जाना और उसके कारण का कुछ नष्ट हो जाना कुछ मौजूद रहना इसको क्षयोपशम कहते हैं । तीसरे बीमारी के कारण का बिल्कुल दूर होजाना इसको क्षय कहते हैं । इसही प्रकार मिथ्यात्व भी एक बीमारी है जिस का दूर होना अर्थात् सम्यक्दर्शन तीन प्रकार का है । क्षायोपशम सम्यक्त का तो ऊपर वर्णन हो ही चुका है । मिथ्यात्व का उपशम होकर सम्यक्त होना उपशम सम्यक्त है और मिथ्यात्व के क्षय होने से सम्यक्त का होना क्षायक सम्यक्त कहाता है ।

उपसम सम्यक्त से न मुक्ति होसक्ती है और न इस सम्यक्त से क्षायक सम्यक्त होता है। उपशम सम्यक्त तो मिथ्यात्व के दबने से हुवा है जिस में मिथ्यात्व मौजूद ज़रूर है इस कारण वह मिथ्यात्व उभर कर अवश्य उपसम सम्यक्त को बिगाड़ता है।

उपशमसम्यक्त के दो भेद हैं। मिथ्यात्व अवस्था से जो उपशमसम्यक्त होता है उसको प्रथमोपशम सम्यक्त कहते हैं और वह अन्तर मुहूर्त रहता है। अन्तर मुहूर्त के पीछे या तो मिथ्यात्वी हो जावेगा या क्षायोपशमिक अर्थात् बेदक सम्यक्त हो जावेगा, सातवें गुणस्थानी महामुनि जिसके क्षायोपशमिक सम्यक्त हो उसको यदि क्षायोपशमिक सम्यक्त से औपशमिक सम्यक्त होजावै तो उसको द्वितीयोपशम सम्यक्त कहते हैं और ऐसा सम्यक्ती ग्यारहवें गुणस्थान तक जा सक्ता है परन्तु आगे उन्नति नहीं कर सक्ता है वह अवश्य नीचेही गिरता है।

क्षायक सम्यक्त प्राप्त होने पर फिर नहीं छूटता है और अधिक से अधिक चार भव धारण करके मोक्ष करलेता है। इसमें प्रथम क्षायोपशमिक सम्यक्त होकर फिर क्षायक सम्यक्त होता है। परन्तु क्षायक सम्यक्त प्राप्त होने का प्रारम्भ श्रीकेवली भगवान वा श्रुत केवली के निकट ही हो सक्ता है अन्यथा नहीं, यह नियम प्रारम्भ करने काही है क्षायक सम्यक्त की प्राप्ती चाहै अन्य भव में हो और तब केवली भगवान मिलैं वा न मिलैं।

सम्यक्त के ८ अङ्ग

चारों प्रकार का सम्यक्त निम्न लिखित आठ अङ्गों के होने से अधिक कार्यकारी और शोभायमान हो जाता है परन्तु सम्यक्दर्शन बिना इन अङ्गों के भी हो सक्ता है। वह ८ अङ्ग इस प्रकार हैं।

(१) **निःशङ्कित**—तत्वार्थ में अर्थात् उन सिद्धान्तों और पदार्थों में जिन में श्रद्धान होने से सम्यक् दर्शन प्राप्त होता है किसी प्रकार की शङ्का न करना, संदेह न करना कि वह सिद्धान्त वा पदार्थ सत्य है वा झूठ। परन्तु समझने के अर्थ विचार करना, तर्क उठाना और अधिक विद्वान से पूछना शङ्का नहीं है।

(२) **निःकांक्षित**—अपने पुन्यरूप कर्मों से अर्थात् धर्म साधन से संसारिक फल प्राप्ति की बांच्छा नहीं करना।

(३) **निर्विचिकित्सा**—अर्थात् किसी जीव को दुखी, दरिद्री, अपवित्र, कुचेष्टावान आदिक अवस्था में देख कर ग्लानि न करना और यह ही समझना कि यह सब नीच कर्मही नाच रहे हैं और संसार की अपवित्र और घिणावनी बस्तुओं को

देख कर घृणा न करना और यह ही बिचार करना कि इन बस्तुओं का ऐसाही स्वरूप है और यह तेरा शरीर तो सब से ही अधिक अपवित्र है।

(४) **अमूढ़दृष्टित्व**—अर्थात् बे सोंचे समझे बिना परीक्षा किये अन्धे की तरह लोगों के देखा देखी अर्थात् जिस प्रकार लोक में प्रवृत्ति हो रही है उस प्रचार के अनुसार कु देव, कु गुरू कु शास्त्र, और कु धर्म को मानना, उनकी प्रशंसा आदि करना मूढ़ता है। सम्यक्ती को उचित है कि वह मूढ़ता को छोड़ कर लोक प्रचार के अनुसार न प्रवर्ते। बिचार और परीक्षा के साथही धर्म की बातों को मानै।

(५) **उपगूहन**—सम्यक्दृष्टि को धर्म से प्रीति होती है इस कारण यदि किसी धर्मात्मा में अज्ञानता वा अशक्तता के कारण कोई दोष उत्पन्न होजावे और उसके दोष के कारण सत्य धर्म की निन्दा होती हो तो उस निन्दा को सम्यक्दृष्टि छिपाता है इसके अतिरिक्त सम्यक्दृष्टि किसी के दोष प्रगट करना पसन्द नहीं करता है बरण उसके दोषों को छिपा कर दोषी पुरुष में से दोष दूर करने की इच्छा करता है। और अपने शुद्ध स्वभावों की वृद्धि करने की भी कोशिश करता रहता है।

(६) **स्थितिकरण**—अपने परिणाम धर्म से भ्रष्ट होते होंतो आपको और जो दूसरे किसी मनुष्य के परिणाम भ्रष्ट होते हों तो उस मनुष्य को जिस प्रकार होसके धर्म में स्थित करना।

(७) **वात्सल्य**—साधर्मी जनों के साथ ऐसी प्रीति रखना जैसे गौ और उसके बच्चे में होती है।

(८) **प्रभावना**—सत्य धर्म के महात्म्य का प्रकाश करना। ऐसे कार्य करना जिस से संसार के सब जीवों पर धर्मका प्रभाव पड़े।

यह उपरोक्त आठ अंग सम्यक्दर्शन के हैं। इन अंगो के बिना सम्यक्दर्शन पूरण कार्यकारी नहीं होता है।

सम्यक्दर्शन के २५ मल।

सम्यदर्शन सम्बन्धी २५ प्रकार के मल अर्थात् मैल होते हैं यदि यह मैल न हों *तो सम्यक्दर्शन बिशुद्ध अर्थात् निर्मल होता है और यदि मल हों तो मल सहित होता* है। यह नहीं है कि २५ प्रकार के मल दूर होने पर ही सम्यक्दर्शन होसकै। सम्यक्दर्शन मल सहित भी होता है परन्तु उतना कार्य कारी नहीं होता है जितना मल रहित होता है। चौथे गुणस्थान से लेकर चौधवें गुणस्थान तक सम्यक्दर्शन ही होता है। परन्तु किस किस गुणस्थान में सम्यक्दर्शन की कैसी कैसी बिशुद्धता होती

है यह बात महान ग्रन्थों से ही मालूम होसक्ती है। यहां तो समुच्चयरूप कथन किया जाता है।

२५ मल इस प्रकार हैं ३ मूढ़ता ८ दोष ८ मद और ६ अनायतन।

मूढ़ता—बिना बिचार लोक प्रवृत्ति के अनुसार रागी द्वेषी देवों को देवमान कर पूजना और उनसे अपने संसारीक कार्य की सिद्धि मानना देव मूढ़ता है। लोक में जिस प्रकार धर्म की प्रवृत्ति होरही है उस प्रकार बिना बिचारे धर्म मानना जैसे गङ्गा स्नान करने से मुक्ति, ब्राह्मणों को भोजन खिलाने से मृतक पूर्वजों को सुख होना इत्यादिक अनेक मिथ्या प्रवृत्तियों के अनुसार प्रवृतना लोक मूढ़ता है। मिथ्यादृष्टि देव, मिथ्या दृष्टि साधु और मिथ्या धर्म का सेवन, पूजन, बिनय आदिक भय, बांछा और स्नेह आदिक से करना। **धर्म मूढ़ता है**—भावार्थ यह है कि बिना बिचारे आंख मीच कर लोक प्रवृत्ति के अनुसार किसी भी बात को मानना वा उस रूप प्रवर्तना मूढ़ता है। सम्यक्दृष्टि को लोक प्रवृत्ति का कुछ भी आश्रय न लेना चाहिये सब काम बिचार पूर्वकही करने चाहियें।

दोष—सम्यक्दर्शन के आठ अंग निशांकित आदिक जो ऊपर बर्णन किये गये हैं उनका न होना आठ प्रकार के दोष हैं।

मद—मान कषाय से उत्पन्न अहंकार के कारण घमंड (ग़रूर) करने को मद कहते हैं। मद आठ बातों का होता है। १ बिज्ञान अर्थात् किसी कला वा हुनर जानने का मद २ ऐश्वर्य अर्थात् धन दौलत वा किसी संसारीक पदवी का मद ३ ज्ञान अर्थात् तीक्ष्ण बुद्धि वा अवधिज्ञान आदिक प्राप्तिका मद ४ तप का मद, ५ कुल का मद कि मेरा उच्च कुल है ६ जाति का मद कि मैं उत्तम जातिकाहूं ७ शरीर के बल कामद ८ रूप का मद कि मैं सुन्दर रूपवान हूं। सम्यक्दृष्टि को किसी प्रकार का मद नहीं करना चाहिये।

अनायतन—धर्म के आश्रय को आयतन कहते हैं। खोटे आश्रय को अनायतन कहते हैं। वह छ हैं। मिथ्या देव, मिथ्या देवों के सेवक, मिथ्या तप, मिथ्या तपस्वी, मिथ्या शास्त्र और मिथ्या शास्त्रों के धारक। इन सब अनायतन को त्यागना उचित है।

इस प्रकार सम्यक्दर्शन के २५ मल बर्णन किये गये।

७ प्रकार का भय।

सम्यक्दर्शन के आठ अङ्गों में निशाङ्कित अङ्ग का लक्षण सूक्ष्म दृष्टि से वर्णन

करने पर भयका त्याग भी इस अङ्ग में गर्भित होता है । क्योंकि जिस का तत्वों में पूर्ण श्रद्धान है और संसारीक सर्व प्रकार के दुःख सुख को कर्मों के उदय से जानता है और संसारिक सुख दुःख को अपने से पर समझता है तो उसको भयही किस बात का होवे । उसको भय तो तभी प्राप्त होसक्ता है जब उसके श्रद्धान में शङ्का दोष उत्पन्न हो। भय ७ प्रकार का है । इस लोक सम्बन्धी किसी बात का भय, परलोक अर्थात् अगले जन्म सम्बन्धी किसी बात का भय, मरण भय, वेदना भय, अनरक्षा भय, अर्थात् इस बात का भय कि मेरा कोई रक्षक नहीं है, व्याधि भय, अकस्मात् भय अर्थात् इस बात का भय कि नहीं मालूम किसी समय अचानक क्या हो जावै ।

सम्यक्त्व के ५ अतीचार ।

श्री उमास्वामी कृत तत्वार्थ सूत्र में सम्यक् दर्शन के पांच अतीचार बर्णन किये हैं। दोष लगने को अतीचार कहते हैं अर्थात् अतीचार सहित जो सम्यक् दर्शन होता है वह सम्यक् दर्शन तो है परन्तु निर्मल निर्दोष नहीं होता । वह अतीचार इस प्रकार हैं १ शङ्का, २ कांक्षा ३, विचिकित्सा ४ अन्यदृष्टि प्रशंसा अर्थात् मिथ्या दृष्टि के ज्ञान चारित्र की प्रशंसा करना अच्छा समझना । ५ अन्य दृष्टि संस्तव अर्थात् मिथ्या दृष्टि के गुणों का प्रकाश करना गुणानुवाद गाना ।

श्रुत केवली भगवान् को जो सम्यक् दर्शन होता है वह अवगाढ़ कहलाता है, गाढ़ा अर्थात् दृढ़ श्रद्धान को अवगाढ़ कहते हैं और तेरवें गुणस्थानी श्री सर्वज्ञ भगवान् को जो सम्यक् दर्शन होता है वह परमावगाढ़ अर्थात् परम दृढ़ श्रद्धान कहाता है ।

चौथे गुणस्थानी सम्यक् दृष्टि का लक्षण यह है कि उसमें चार बात प्रगट हों प्रशम, संबेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ।

प्रशम—अर्थात् कषायों की मन्दता ।

संबेग—कर्मों से भयभीतता ।

अनुकम्पा—जीवों पर दया ।

आस्तिक्य—अर्थात् जीवात्मा को अनादि अनन्त और देह से पृथक मानना ।

संसयविमोह विब्भमविविज्जियं अप्पपरसरूवस्स ।
गहणं सम्मण्णाणं सायारमणेयभेयं तु ॥४२॥

अर्थ—संशय, विमोह और विभ्रम रूप कुज्ञान से रहित आपा पर का अर्थात् आत्मा का और पर पदार्थ का स्वरूप जानना सम्यक् ज्ञान है वह आकार सहित अर्थात् सविकल्प है और उसके अनेक भेद हैं—

भावार्थ—संशय अर्थात् नहीं मालूम ऐसे है वा वैसे है, विमोह जिसको अन-ध्यवसाय भी कहते हैं, जैसे गमन करते हुए मनुष्य के पैर में किसी घास आदि का स्पर्श हो जावे और उस को यह मालूम नहीं होता है कि क्या लगा वा जैसे दिशा का भूल जाना होता है उसी प्रकार एक दूसरे की अपेक्षा के धारक जो द्रव्यार्थिक और पर्याया-र्थिकनय है उन के अनुसार द्रव्य गुण पर्याय का जो नहीं जानना है उसको विमोह कहते हैं। विभ्रम अर्थात् विपरीत जानना एकान्त पक्ष से जानना इन तीनों विधि जानने को ज्ञान नहीं कहते हैं ठीक २ जानने को ही ज्ञान कहते हैं वह ज्ञान यदि सम्यक् दर्शन सहित हो तो सम्यक् ज्ञान कहाता है।

सम्यक् ज्ञान के अनेक भेद हैं —

प्रमाण

सम्यक् ज्ञान जीव को पांच रीति से होता है मति, श्रति, अवधि, मनः पर्य्यय और केवल इन में अवधि मनः पर्य्यय और केवल ज्ञान **प्रत्यक्ष** प्रमाण हैं अर्थात् पदार्थ को स्पष्ट रूप से जानते हैं और मति, श्रुतिज्ञान प्रमाण तो हैं परन्तु साक्षात नहीं हैं दूसरे के सहारे से अस्पष्ट रूप जानते हैं इस कारण **परोक्ष प्रमाण** हैं। परन्तु व्यवहार में जो इन्द्रियों और मन के द्वारा ज्ञान होता है उस को प्रत्यक्ष कहते हैं इसलिये इन का नाम सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। यथार्थ जानने को **प्रमाण** कहते हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही रीति से यथार्थ ज्ञान हो सक्ता है। परोक्ष ज्ञान ५ प्रकार से होता है स्मृति, प्रतिभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन ५ को परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

स्मृत्ति-अर्थात् पहली जानी हुई बात को याद करना।

प्रत्यभिज्ञान-अर्थात् किसी वस्तु को देख कर यह विचार करना कि यह पहली देखी हुई वस्तु है या उसके समान है या वैसी नहीं है इत्यादिक जोड रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

तर्क-अर्थात् व्याप्ति का ज्ञान-दो वस्तुओं के एक साथ रहने के सम्बन्ध को वा आगे पीछे होने के सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं जैसे धूआं अग्नि से ही उत्पन्न होता है बिना अग्नि धूआं नहीं हो सक्ता। जैसे सूरज का धूप में प्रकाश और आताप एक साथ रहते हैं। जैसे वर्षाऋतु के पीछे सरद ऋतु और सरद ऋतु से पहले बर्षा ऋतु होता है, दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन होता है। इत्यादिक।

अनुमान-व्याप्ति के सहारे से एक बस्तु को देख कर दूसरी बस्तु को जान लेना अर्थात् हेतु से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं, जैसे धूम को देख कर अग्नि का अनुमान करना, पुत्र को देख कर उस के पिता माता का अनुमान करना। जिस बस्तु

को वादीप्रति वादी के सिद्ध करने की अभिलाषा है उस को साध्य कहते हैं । साध्य के साथ जिसकी व्याप्ति हो अर्थात् जिस जानी हुई वस्तु के सहारे से साध्य का अनुमान किया जा सक्ता है उसको हेतु कहते हैं । हेतु के द्वारा साध्य के ज्ञान को ही अनुमान कहते हैं। धूम अग्नि से ही पैदा होता है इस कारण धूम को देख कर अग्नि का अनुमान होता है । इस में अग्नि साध्य है और धूम हेतु है ।

आगम—आप्त वचन को आगम कहते हैं और आगम के द्वारा जो ज्ञान होय उसको आगम प्रमाण कहते हैं । सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशक यह गुण जिस में हों वह आप्त हैं और उनके वचन प्रमाण होते हैं । ऐसे गुण वाले आप्त श्री तीर्थंकर भगवान् ही होते हैं जिनकी वाणी से जैन धर्म की प्रवृत्ति है ।

नय

वस्तु में अनेक धर्म अर्थात् स्वभाव होते हैं उनमें से किसी एक धर्म की मुख्यता लेकर वस्तु को जानना नय है । अथवा वक्ताने अनेकान्तात्मक वस्तु के जिस धर्म की अपेक्षा से शब्द कहा है उसके उसही अभिप्राय को जानने वाले ज्ञान को "नय" कहते हैं ।

नय के मूल भेद दो हैं । (१) पदार्थ जैसा है उसको वैसाही कहना **निश्चयनय** है इसको भूतार्थ नय कहते हैं (२) एक पदार्थ को पर वस्तु के निमित्त से व्यवहार साधन के अर्थ अन्यथा रूप कहना व्यवहार नय है इसको अभूतार्थ नय भी कहते हैं और इसका नाम उपनय भी है ।

निश्चयनय के दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्य्यायार्थिक । प्रत्येक वस्तु में सामान्य और विशेष गुण हुवा करते हैं । सामान्य वह गुण होते हैं जो अन्य वस्तु में भी हों और विशेष वह गुण होते हैं जो उसही वस्तु में हों, वस्तु के विशेष गुण को गौण करके सामान्य गुण की अपेक्षा से वस्तु को ग्रहण करना **द्रव्यार्थिकनय** है और सामान्य गुण को गौण करके विशेष गुण की मुख्यता से वस्तु को ग्रहण करना **पर्य्यायार्थिकनय** है ।

द्रव्यार्थिकनय के तीन भेद हैं—नैगम, संग्रह और व्यवहार ।

नैगम—एक वस्तु में अनेक पर्याय अर्थात् अवस्था होती हैं और पर्याय पलटती रहतीं है । कोई पर्य्याय हो चुकी है कोई पर्य्याय अब है और कोई होने वाली है । अतीत अर्थात् जो कार्य पहले हो चुका उसमें वर्तमान कालका आरोपण करना भूत नैगम है । जैसे दीवाली के दिन यह कहना कि आज के दिन श्री महावीरस्वामी निर्वान को प्राप्त हुए, होने वाले कार्य का अतीत की तरह कथन करना भावी नैगम है जैसे

अर्हंतों को सिद्ध कहना और जहां कार्य का प्रारम्भ कर दिया गया हो परन्तु बिलकुल तैयार न हुआ हो उसको तय्यार हुआ कहना वर्तमान नैगम है जैसे कोई मनुष्य चूल्हे में आग जलाता हो अभी आटा भी नहीं गूंदा है परन्तु जो कोई पूछे कि क्या करते हो तो उसको यह कहना कि रोटी बनाता हूं। यह सब कथन नैगमनय के द्वारा सार्थिक हैं मिथ्या नहीं हैं।

संग्रह—संसार में अन्तानन्त बस्तु हैं सब को पृथक २ जानना और बर्णन करना बहुत कठिन है इस हेतु अनेक बस्तुओं की एक जाति नियत करली जाती है। जैसे काला, गोरा, लाल, बड़ा, छोटा, तेज़ चलने वाला, हलका चलने वाला, आदिक अनेक प्रकार के घोड़े होते हैं परन्तु उन सब की एक जाति "घोड़ा" नियत करली गई इस ही प्रकार अनेक प्रकार की गऊ की एक जाति, "गऊ" अनेक प्रकार के कुत्तों की एक जाति "कुत्ता" अनेक प्रकार के मनुष्यों की एक जाति "मनुष्य" अनेक प्रकार के वृक्षों की एक जाति "वृक्ष" अनेक प्रकार के मकानों की एक जाति "मकान" अनेक प्रकार के कपड़ों की एक जाति "कपड़ा" अनेक प्रकार के बर्तनों की एक जाति "बर्तन" नियत की गई। इसी प्रकार जब हम घोड़े वा गऊ वा मनुष्य, वा कुत्ते वा बृक्ष वा मकान वा कपड़े वा बर्तन का बर्णन करते हैं और उनके भेद करके किसी विशेष बस्तु का बर्णन नहीं करते हैं तो हमारा बर्णन संग्रह नय के अनुसार है। क्योंकि जब हम साधारण रूप मनुष्य मात्र का बर्णन करते हैं तो उसमें सबही प्रकार के मनुष्य आगये अर्थात् सब प्रकार के मनुष्यों का संग्रह करके बर्णन करते हैं।

मनुष्य, कुत्ता, बिल्ली, घोड़ा, बृक्ष, गऊ आदिक अनेक जातियों को संग्रह करके एक जीव जाति होती है और मकान, कपड़ा, बर्तन, घड़ा, पुस्तक आदिक अनेक जातियों को संग्रह कर के एक पुद्गल जाति होती है इस कारण जब हम जीव मात्र को वा पुद्गल मात्र को बर्णन करते हैं तब संग्रह नय को और भी अधिक काम में लाते हैं। फिर जीव, पुद्गल आदिक जाति को संग्रह कर के जगत की सर्व बस्तुओं को एक द्रव्य नाम कर कथन करते हैं और समुच्चय रूप द्रव्य को बर्णन कर के संग्रह नय को सब से ही अधिक काम में लाते हैं।

व्यवहार–संग्रह नय से ग्रहण किये हुए विषय को जो भेद रूप करती है उस को व्यवहार नय कहते हैं। जैसे द्रव्य के दो भेद जीव और अजीव कर के किसी एक भेद का कथन करना, जीव के चार भेद मनुष्य, तिर्यंच, देव, नारकी कर के किसी एक का कथन करना, तिर्यंचों के भेद घोड़ा, बैल, कीड़ी, मकोड़ी बृक्ष आदिक करना– बृक्षों के भेद आम, नीबू, अनार, नारंगी, आलू, मूली आदिक करना–आम के भेद

मालदा, देसी—बम्बई आदिक करना-देसी आम के भेद संदूरया, मीठा, खट्टा आदिक करना इस ही प्रकार भेदाभेद करते जाना यह सब व्यवहार नय है।

पर्य्यायार्थिक नय के चार भेद हैं। ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत।

ऋजुसूत्र—प्रत्येक बस्तु की पर्य्याय समय २ पलटती रहती है परन्तु जो पर्य्याय बीत चुकी वा जो होने वाली है इन दोनों को छोड़ कर वर्त्तमान पर्य्याय ही का कथन करना अर्थात् एक पर्य्याय को ग्रहण करना ऋजुसूत्र नय है।

शब्द—जो व्याकरण के अनुसार सिद्ध शब्दों को स्वीकार करता है और कालादिक के भेद से अर्थ का भेद मानता है वह शब्द नय है।

समभिरूढ़—किसी पदार्थ में एक मुख्य गुण को लेकर उस पदार्थ के अन्य क्रिया रूप प्रवर्तने के समय भी उस ही मुख्य गुण के अनुसार उस बस्तु को ग्रहण करना जैसे जो न्याय करे वह न्यायाधीश वा मुन्सिफ़ वा जज कहाता है परन्तु किसी न्यायधीश को जब वह सोता हो वा खाता हो अर्थात् न्याय करने का काम न करता हो न्यायाधीश ही कहना यह समभिरूढ़ नय के अनुसार हैं।

एवंभूत—समभिरूढ़ नय के बिरुद्ध अर्थात् जिस काल में कोई वस्तु जो क्रिया करती हो उस ही के अनुसार ग्रहण करना जैसे जिस समय न्याय करता हो उस ही समय न्यायाधीश कहना दूसरे समय में न कहना यह एवंभूत नय का विषय है।

इस प्रकार निश्चय नय के सात भेदों का कथन किया-व्यवहार नय को उपचार और उपनय भी कहते हैं इस के तीन भेद हैं सद्भूत, असद्भूत और उपचरित।

सद्भूत—बस्तु और उस का गुण पृथक २ दो पदार्थ नहीं हैं इस ही प्रकार बस्तु और उस की पर्य्याय दो पदार्थ भिन्न २ नहीं हैं परन्तु गुण और गुणी में भेद करना वा पर्य्याय और पर्य्याइ में भेद करना अर्थात् इन को भिन्न २ कथन करना वा अखण्ड द्रव्य को बहुप्रदेश रूप कहना यह सद्भूत व्यवहार नय है।

असद्भूत—किसी एक बस्तु के धर्म को किसी दूसरी बस्तु में समारोप करना-यह समारोपण तीन प्रकार होता है (१) अपनी ही जाति वालेमें समारोपण करना जैसे चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को जो जल आदिक में हो जाता है चन्द्रमा कहना (२) बिजाति में बिजाति का समारोप जैसे मति ज्ञान को मूर्तीक कहना (३) सजाति बिजाति में सजाति और बिजाति दोनों को समारोपन करना जैसे जीव, अजीव स्वरूप ज्ञेय को ज्ञान का विषय होने से ज्ञान कहना।

उपचरित—इस नय को उपचरिता सद्भूत व्यवहार नय भी कहते हैं, प्रयोजन

और निमित्त के वश से इस नय की प्रवृत्ति होती है इस के भी तीन भेद हैं (१) अपनी ही जाति वाली वस्तु में उपचार करना जैसे मित्र, पुत्र आदिक जीवों को कहना कि यह मेरे हैं (२) विजाति वस्तु में उपचार करना जैसे महल, मकान, रुपया पैसा आदिक को अपना बताना (३) सजाति और विजाति दोनों प्रकार की वस्तु में उपचार करना जैसा यह कहना कि यह गाड़ी मेरी है जिस में गाड़ी अजीव है और बैल घोड़ा आदिक जो उस में जुते हुवे हैं जीव हैं दोनों को अपना बताया इसी प्रकार राज्य दुर्गादिक को अपने बताना।

किसी २ ग्रन्थ में नय के निम्न प्रकार भी भेद कियेगये हैं।

निश्चय—जो वस्तु को अभेद रूप ग्रहण करै। इस के दो भेद हैं शुद्ध और अशुद्ध वस्तु को निरूपाधी रूप उसके शुद्ध गुण के अनुसार कथन करना, जैसे जीव को सर्वज्ञ और परमानन्द स्वरूप बर्णन करना शुद्ध निश्चय नय है और उपाधी सहित कथन करना जैसे जीव को इन्द्रिय जनित ज्ञान वाला वा सुखी दुखी बर्णन करना अशुद्ध निश्चयनय है।

व्यवहार—जो वस्तु को भेद रूप ग्रहण करै इसके भी दो भेद हैं। सद्भूत और असद्भूत। गुण और गुणी को भिन्न २ ग्रहण करना सद्भूत व्यवहार नय है। इसके भी फिर दो भेद हैं। उपचरित और अनुपचरित। उपाधिक गुण गुणी को भेद रूप ग्रहण करना जैसे यह कहना कि जीव में मति ज्ञान आदिक गुण हैं, यह उपचरित सद्भूत नय है और निरूपाधिक गुण गुणी को भेद रूप कथन करना जैसे यह कहना कि जीव में केवल ज्ञान गुण है, यह अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। भिन्न पदार्थों का अभेद रूप ग्रहण करना असद्भूत व्यवहार नय है इसके भी दो भेद हैं। उपचरित और अनुपचरित। जो अपने से विल्कुल भिन्न पर वस्तु को अभेद रूप ग्रहण करै, जैसे यह रुपया पैसा मेरा है, वह उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है। जो ऐसी पर वस्तु को अभेद रूप ग्रहण करै जो मिल कर एक हो रही हों, जैसे यह शरीर मेरा है। यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है।

वास्तव में नय के भेद बहुत हैं जितनी वस्तु हैं वा जितने शब्द हैं उतनीही नय हैं। नय का विशेष बर्णन महान ग्रन्थों से जानना चाहिये।

वस्तु का ज्ञान प्रमाण और नय से ही होता है। इस कारण प्रमाण और नय का समझना अति आवश्यक है।

निक्षेप

पदार्थों का लौकिक व्यवहार निक्षेप से होता है इनका भी जानना आवश्यक है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव यह चार निक्षेप हैं।

नाम—पहचान के वास्ते बस्तुओं का नाम रक्खा जाता है जैसे किसी मनुष्य का नाम शेरसिंह रक्खा जावे तो वह पहचान के वास्ते ही रक्खा जाता है चाहे वह बहुत कमज़ोर हो और शेर वा सिंह की कोई बात उसमें नहो। परन्तु शेरसिंह नाम से वही मनुष्य समझना चाहिये जिसका वह नाम रक्खा गया है। **स्थापना**—किसी एक बस्तु को दूसरी बस्तु स्थापन करना। यह दो प्रकार है एक तदाकार और दूसरी अतदाकार। समान आकार वाली बस्तु में स्थापना करना तदाकार है जैसे घोड़े का आकार अर्थात् मूर्ति बना कर उस मूर्ति को घोड़ा कहना इसही प्रकार किसी मनुष्य की मूर्ति बना कर उस मूर्ति को वह मनुष्य कहना जिसकी वह मूर्ति है। असमान आकार वाली बस्तु में किसी बस्तु की स्थापना करना अतदाकार स्थापना है जैसे किसी देश के नक़शे पर एक बिन्दी को यह कहना कि यह अमुक नगर है और दूसरी बिन्दी को यह कहना कि वह दूसरा अमुक नगर है।

द्रव्य—जिस बस्तु में कोई गुण आगामी प्रगट होगा वा कोई गुण था और अब नहीं है तौभी उसको उस गुण रूप कहना जैसे कोई पुरुष राजा होने वाला है उसको अभी से राजा कहना। कोई पहले दारोग़ा था और अब नहीं है परन्तु अब भी उसको दारोग़ा जी ही कहना।

भाव—वर्त्तमान समय में जो जैसा हो उसको वैसाही कहना। जैसे राज्य करते को राजा कहना।

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समए॥४३॥

अर्थ—यह शुक्ल है, यह कृष्ण है, यह छोटा है, यह बड़ा है यह घट है, यह पट है इत्यादि रूप से पदार्थों को भिन्न २ न करके और विकल्प को न करके जो पदार्थों का सामान्य रूप ग्रहण करना है उसको परमागम में दर्शन कहा गया है।

भावार्थ—संसार में अनेक बस्तु हैं वह सब पृथक २ चिन्हों से पहचानी जाती हैं। जब तक इतना थोड़ा ज्ञान होता है कि कोई बस्तु है परन्तु यह ज्ञान नहीं होता

कि क्या बस्तु है अर्थात् जब तक अनेक बस्तुओं के पृथक २ चिन्हों में से किसी भी चिन्ह का ज्ञान नहीं होता है जिसके द्वारा भेद होसके कि अमुक बस्तु है वा अमुक प्रकार की वा अमुक जाति वा अमुक चिन्ह की बस्तु है तब तक उस तुच्छ ज्ञान को दर्शन कहते हैं, उस तुच्छ सत्ता मात्र सामान्य बोध का नाम ज्ञान नहीं होता है, फिर जब कुछ भी किसी प्रकार के चिन्ह का ज्ञान हो जाता है जैसे जब इतना भी ज्ञान होजाता है कि वह बस्तु काली है वा धौली है तब ही से वह जानना ज्ञान कहलाने लगता है। यद्यपि इतनाही बोध होने से कि कुछ है और काला है वा धौला है इतना जानने से इस बात का बोध नहीं हुवा कि वह क्या बस्तु है क्योंकि काली भी अनेक बस्तु होती हैं और धौली भी अनेक होती हैं परन्तु तौ भी इतने ही बोध को भी ज्ञान कहते हैं और इस से कमती बोध को जिस में यह भी मालूम नहीं हुवा कि बस्तु काली है वा धौली है वा कैसी है अभी इतनाही जाना है कि कोई बस्तु है यह मालूम नहीं कि वह कैसी है उसको दर्शन कहते हैं।

पाठकों को जानना चाहिये कि जैन शास्त्रों में दर्शन शब्द दो अर्थों में आया है। दर्शन के एक अर्थ श्रद्धान के हैं और दूसरे अर्थ उस तुच्छ बोध के हैं जिसमें इतनाही जानपना हुवा है कि कोई बस्तु है। जहां शास्त्रों में रत्नत्रय का बर्णन है अर्थात् दर्शन, ज्ञान और चारित्र का कथन है अथवा मिथ्या दर्शन वा सम्यक् दर्शन का कथन है वहां दर्शन का अर्थ श्रद्धान है और जहां उपयोग (ज्ञान) के भेदों का बर्णन है वहां सब से कमती ज्ञान अर्थात् सत्तामात्र के ज्ञान को दर्शन कहा है। मिथ्या दर्शन तो दर्शन मोहनी कर्म के उदय से और सम्यक् दर्शन दर्शन मोहनी कर्म के नष्ट होने वा उदय न होने से उत्पन्न होता है और जिस कमती ज्ञान को दर्शन कहते हैं वह दर्शनावरणी कर्म के नष्ट होने वा उदय न होने से होता है।

दंसण पुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा।
जुगवं जह्मा केवलि-णाहे जुगवं तु ते दोवि ॥४४॥

अर्थ—छद्मस्थ जीवों के ज्ञान के पूर्व दर्शन होता है क्योंकि उनके ज्ञान और दर्शन यह दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते। और केवली भगवान के यह दोनों उपयोग एक साथ होते हैं।

भावार्थ—जो जीव सर्वज्ञ नहीं है उसको पहले दर्शन होता है पीछे ज्ञान होता है अर्थात् पहले समय में बस्तु का इतनाही ज्ञान होता है कि कुछ है इसको दर्शन कहते हैं फिर दूसरे समय में यह मालूम होता है कि किस प्रकार की है अर्थात् काली है धौली

है या किस प्रकार की है फिर आहिस्ता २ यह ज्ञान होजाता है कि अमुक वस्तु है। एक समय काल का सब से छोटा भाग होता है जो हमारी तमीज़ में आना कठिन है इस कारण हमको यह मालूम नहीं होता है कि प्रत्येक वस्तु जो हम देखते हैं उसको इसही क्रम से जानते हैं, हम तो यहही समझते हैं कि दृष्टि पड़तेही हम वस्तु को जानलेते हैं परन्तु ऐसा नहीं है। हमको पहले दर्शन होता है और फिर ज्ञान होता है।

केवली भगवान अर्थात् सर्वज्ञ को क्रम रूप ज्ञान नहीं होता है। उनको एक साथ ही सब कुछ बोध होता है। यहां तक कि भूत भविष्यत और वर्तमान तीनों काल का ज्ञान एक साथ होता है। इसलिये उनको दर्शन और ज्ञान दोनों उपयोग युगपत एक साथ ही होते हैं उनमें परस्पर समय भेद नहीं है।

असुहादो विणिवित्ति सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वद समिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियम्॥४५॥

अर्थ—जो अशुभ कार्य से बचना और शुभ कार्य में लगना है उसको चारित्र जानना चाहिये। श्री जिनेंद्र भगवान् ने व्यवहार नय से उस चारित्र को व्रत, समिति और गुप्ति स्वरूप कहा है।

भावार्थ—अपनेही शुद्ध आत्म भावों में रमण करना निश्चय चारित्र है और इस अवस्था को प्राप्त होने का जो कारण है वह व्यवहार चारित्र है। वह व्यवहार चारित्र क्या है अशुभ अर्थात् खोटे कार्यों का न करना और अच्छे कार्यों का करना। वह अच्छे कार्य जिन से निश्चय चारित्र की सिद्धि होती है व्रत, समिति और गुप्ति हैं।

व्रत पांच प्रकार है अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, समिति भी पांच प्रकार है। और गुप्ति तीन प्रकार है, इन सब के स्वरूप का वर्णन सम्बर के कथन में हो चुका है। इस प्रकार चारित्र १३ प्रकार है।

सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान एक साथ होते हैं परन्तु यह नियम नहीं है कि चारित्र भी इनके साथ अवश्यही हो ऐसा भी होता है कि सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान होने पर सम्यक् चारित्र बिलकुल भी न हो। ऐसी अवस्था वाले को अविरति सम्यक् दृष्टि कहते हैं। चौथे गुणस्थान वाले की यहही अवस्था होती है कि सम्यक्त तो होगया है परन्तु चारित्र कुछ भी ग्रहण नहीं किया है। जो जीव सम्यक् दर्शन की प्राप्ति के पश्चात कुछ चारित्र ग्रहण करता है परन्तु पूरे रूप से चारित्र को नहीं पालता है वह अणु व्रती, देश व्रती वा श्रावक कहलाता है यह अवस्था पञ्चम गुण स्थान वाले की

होती है। और जो जीव सम्यक् दृष्टि होकर सकल चारित्र को पालता है वह महा ब्रती वा साधु वा मुनि कहलाता है और छोटे वा उससे भी ऊपर के गुण स्थान वाला होता है।

यह पांच ब्रत मुनि अवस्था में महा ब्रत कहाते हैं और श्रावक अवस्था में अणु ब्रत। मुनि के आचार का कथन बिस्तार रूप बहुत कुछ है जो भगवती आराधना सार और मूलाचार आदिक ग्रन्थों से मालूम होसक्ता है परन्तु मोटे रूप कथन में पञ्च महा ब्रतों का ही कथन है। समिति और गुप्ति को इनही में गर्भित किया है।

५ महाव्रत की भावना।

बार बार चितवन करने को भावना कहते हैं। पञ्च महाब्रतों के स्थिर रखने के वास्ते प्रत्येक ब्रत के अर्थ पांच २ भावना हैं जिनका चितवन मुनि को बराबर रखना चाहिये।

अहिंसा ब्रत की भावना—१ बचन गुप्ति अर्थात् बचन को अपने बश में रखने का चितवन रखना कि कभी ऐसा बचन मुख से न निकले जिस से प्राणी को पीड़ा हो २ मनो गुप्ति अर्थात् मनको अपने बश में रखने का चितवन रखना कि कभी हिंसा रूप बिचार मन में न आवे ३ इर्यासमिति अर्थात् इस बात का बिचार रखना कि गमन करते समय किसी जीव की हिंसा न हो जावे ४ अदान निक्षेपण अर्थात् इस बात का बिचार रखना कि किसी बस्तु के उठाते वा रखते समय किसी जीव की हिंसा न होजावे ५ आलोकित पान भोजन अर्थात् इस बात का बिचार रखना कि भोजन पान आदिक भले प्रकार देख शोध कर किया जावे जिससे किसी जीव की हिंसा न हो।

सत्यब्रत की भावना—१ इस बात का बिचार रखना कि क्रोध न आवे, २ लोभ न उपजे, ३ भय उत्पन्न न हो क्योंकि इन तीनों अवस्था में असत्य बचन मुख से निकल जाता है ४ यह बिचार रखना कि हास्य रूप बचन मुख से न निकले क्योंकि हास्य में भी असत्य बचन बोला जाता है और ५ आगम के अनुसार पाप रहित बचन बोलने का बिचार रखना।

अचौर्य ब्रत की भावना—१ इस बात का बिचार रखना कि ऐसे घर में न रहैं जहां कोई असबाब हो शून्य घर होना चाहिये जिससे किसी बस्तु के ग्रहण करने की प्रेरणा न हो २ ऐसे स्थान में रहना जो छोड़ा हुवा हो जिससे किसी के ग्रहण किये हुवे स्थान के ग्रहण करने का दोष न आवे ३ जो कोई जीव उस स्थान में ठहरे जहां अपना बास हो तो उसको ठहरने से नहीं रोकना क्योंकि रोकने से उस स्थान को

अपनी मिळकियत बनाने का दोष आता है ४ इस बात का भी विचार रहे कि भिक्षा की विधि में न्यूनधिकता न हो क्योंकि इस से भी पर वस्तु ग्रहण करने का दोष लगता है और ५ इस बात का भी विचार रहना चाहिये कि धर्मात्माओं से किसी प्रकार का झगड़ा न हो।

ब्रह्मचर्य व्रत की भावना—१ ऐसी बातों का बचाव रखना चाहिये जिन से काम उत्पन्न होता हो। अर्थात् स्त्रियों में राग उत्पन्न करने वाली कथा के सुनने का त्याग, २ स्त्रियों के मनोहर अङ्गों के देखने का त्याग, ३ पूर्व किये हुवे विषय भोगों के याद करने का त्याग, ४ कामोद्दीपन वस्तु खाने का त्याग और ५ अपने शरीर को शृंगार रूप करने का त्याग।

परिग्रह व्रत की भावना—इस बात का विचार रखना कि पांचो इन्द्रियां किसी इष्ट अनिष्ट वस्तु में रागद्वेष रूप न प्रवर्तें।

इस प्रकार प्रत्येक व्रत की पांच २ भावना हैं जिन से व्रत में सावधानी रहती है। इन के अतिरिक्त मुनिको यह भी चिंतवन करते रहना चाहिये कि हिंसा आदिक से अर्थात् व्रत के न होने से इस लोक और परलोक में सांसारिक और पारमार्थिक प्रयोजनों का नाश होता है और निन्दा भी होती है। और पाप उत्पन्न होता है जिस से दुःख मिलता है।

मुनि को उचित है कि संसार से भय भीत रहने और वैराग्य स्थिर रखने के वास्ते जगत और काय के स्वभाव को भी चिंतवन करते रहैं।

चार भावना।

इसके अतिरिक्त मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ यह चार भावना भी मुनि को निरन्तर चिंतवन करनी चाहियें।

मैत्री—सर्वसाधारण जीवों से मित्रता रखना सब का भला चिंतवन करना।

प्रमोद—जो गुणों में अधिक हों उन में प्रसन्नता का भाव रखना।

कारुण्य—दुःखी जीवों पर करुणा बुद्धि रखना और उनके दुःख दूर करने का परिणाम रखना।

माध्यस्थ—पापी अविनयी और क्रूर जीवों में मध्यस्थ भाव रखना अर्थात् न प्रीति और न द्वेष।

तीन शल्य।

यह पांच व्रत उसके पलते हैं जिस में शल्य नहीं होता है। माया, मिथ्या और निदान यह तीन शल्य हैं। मन वचन काय की क्रिया का एक समान न होना अर्थात्

मन में कुछ और बचन में कुछ और काय की क्रिया कुछ अर्थात् कपट को माया कहते हैं। तत्वार्थ श्रद्धान का न होना मिथ्या शल्य है। आगामी के वास्ते संसार के किसी प्रकार के सुख की बांछा रखना निदान शल्य है।

इस प्रकार मोटे रूप मुनि चारित्र का बर्णन किया।

श्रावक धर्म।

पंचम गुण स्थानी श्रावक के ११ भेद हैं जिनको ग्यारह प्रतिमा कहते हैं परन्तु श्रावक धर्म के ११ भेद न करके समुच्चय रूप इनके चारित्र का इस प्रकार कथन है।

अहिंसा आदि पांच व्रतों का अणु रूप अर्थात् कमती एक देश पालना श्रावक का चारित्र है। वह अणु ब्रत इस प्रकार हैं।

अहिंसा—स्थावर जीवों की हिंसा का त्यागी न होकर त्रस जीवों की हिंसा का त्याग।

सत्य—स्नेह बैर और मोह आदि के बश झूठ बोलने का त्याग।

अचौर्य—पराई बस्तु के इस प्रकार ग्रहण का त्याग जो राज्य आज्ञा के विरुद्ध हो वा जिस से किसी जीव को पीड़ा होती हो।

ब्रह्मचर्य—अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त अन्य सब स्त्रियों से काम भाव का त्याग।

अपरिग्रह—संसारीक बस्तुओं का परिमाण करना कि इतनी से अधिक नहीं रक्खेंगे। इसही कारण इसको परिग्रह परिमाण ब्रत भी कहते हैं।

इन पांचो ब्रतों के पृथक २ पांच २ अतीचार वर्णन किये गये हैं। यद्यपि अतीचार के होते हुवे भी ब्रत होता है परन्तु निर्दोष नहीं होता है। अतीचारों के टालने से ब्रत निर्दोष होजाता है।

अहिंसा अनुब्रत के अतीचार—१ पशु आदिक जीव का बांधना वा पिंजरे में बन्द करना २ बंध अर्थात् लाठी चाबुक आदि से जीव को मारना ३ छेदन अर्थात् जीव का कान आदिक काटना वा बींधना ४ अतिभारारोपण अर्थात् किसी जीव पर अधिक बोझ लादना ५ अन्नपान निरोध अर्थात् किसी जीव को भूखा प्यासा रखना।

सत्य अणुब्रत के अतीचार—१ मिथ्या उपदेश अर्थात् जीव के अहित का उपदेश देना २ रहोभ्याख्यान अर्थात् स्त्री पुरुष की गुप्त वार्त्ता वा गुप्त आचरण को प्रगट करना ३ कूट लेख क्रिया अर्थात् झूठी बात लिखना जालसाज़ी करना ४ न्यासा पहार अर्थात् धरोहर के सम्बन्ध में कोई असली बात भूल कर अपने बिरुद्ध कहने लगे

तो असली बात प्रगट न करना और चुप होकर उसकी भूली हुई बात के अनुसार व्यवहार करना जैसे किसी ने ५००) धरोहर रक्खे परन्तु बहुत दिन पीछे जब लेने आया तब उसको यह ही याद रहा कि मैंने ४००) रक्खे थे सो चारसौ ही मांगने लगा। जिस के पास रक्खे थे उसको मालूम है कि ५००) रख गया था परन्तु उसके ४००) मांगनें पर चार सौ ही देदेना और उसकी भूल प्रगट न करना यह न्यासापहार नाम झूठ का अतिचार है ५ साकार मंत्र भेद अर्थात् किसी की चेष्टा से उसके मन की गुप्तबात जान कर प्रगट कर देना।

अचौर्य अणुव्रत के अतीचार—१ स्तेन प्रयोग अर्थात् चोरी करने की विधि बताना २ चौरार्थदान अर्थात् चोरी की बस्तु लेना ३ विरुद्ध राज्याति क्रम अर्थात् राज्य आज्ञा के विरुद्ध क्रिया करना ४ हीनाधिक मानोनमान अर्थात् मापने तोलने आदिक के बाट आदिक कमती बढ़ती रखना ५ प्रति रूपकव्यवहार। अर्थात् बहु मूल्य की बस्तु में घटिया बस्तु मिलाकर बढ़िया बस्तु में चलाना जैसे दूध में पानी मिला कर असली के तौर पर बेचना।

ब्रह्मचर्य्य व्रत के अतीचार—१ पर विवाह करण अर्थात् दूसरे के बेटा बेटी का विवाह करना वा करादेना २ परिग्रहीतत्वरिका गमन अर्थात् दूसरे की विवाहिता व्यभिचारणी स्त्री के पास जाना आना और उस से व्यवहार रखना ३ अपरिग्रहीतत्वरिका गमन अर्थात् बिना पतिवाली भावार्थ गणिका स्त्री के पास जाना आना उससे बार्तालाप वा किसी प्रकार का व्यवहार रखना। ४ अनंग क्रीड़ा अर्थात काम सेवन के अंगों को छोड़ कर अन्य अंगों से काम क्रीड़ा करना ५ कामतीव्राभिनिवेश अर्थात् काम सेवन मे अत्यंत अभिलाषा रखना चाहे अपनी ही स्त्री के साथ हो।

परिग्रह परिमाण अनुव्रत के अतीचार १ खेत और मकान आदिक २ रुपया पैसा सोना चांदी आदिक ३ गौ बैल और अनाज आदिक ४ नौकर चाकर चाहे वह स्त्री हो वा पुरुष ५ बस्त्र और वर्तन आदिक, इन पांच प्रकार की वस्तु में परिमाण का उलंघन करना।

पांच अनुव्रत धारण करने के पश्चात उन व्रतों को बढ़ाने अर्थात् चारित्र में उन्नति करने के वास्ते तीन गुण व्रत हैं दिग्विरति, देशविरति और अनर्थ दंडविरति इनका सरूप इस प्रकार हैः—

दिग्विरति—लोभ आरंभादिक को कम करने के अभिप्राय से यावज्जीव इस बात का नियम करना कि अमुक प्रसिद्ध नदी वा ग्राम वा पर्वतादि से बाहर नहीं

जाऊंगा इस व्रत का अभिप्राय यह है कि बांधी हुई सीमा से बाहर की भी क्रिया करने का विचार न हो —

देशविरति—कुछ नियमित समय के वास्ते इस बात का नियम करना कि दिग्विरति में जो क्षेत्र नियत किया है उसके अंदर भी अमुक नगर ग्राम वा मुहल्ले तक जाऊंगा इस से बाहर नहीं जाऊंगा।

अनर्थ दंडविरति—ऐसे पाप के कार्यों का त्याग करना जिससे अपना कोई अर्थ सिद्ध न होता हो ऐसे व्यर्थ पाप पांच प्रकार के हैं १ पापो पदेश २ हिंसादान ३ अपध्यान ४ दुःश्रुति और ५ प्रमादचर्या, ऐसे संसारीक कार्य के करने का उपदेश देना जिस में स्थावर वा त्रस जीवों की हिंसा होती हो और अपना कोई कार्य सिद्ध न होता हो वह **पापोदेश** है। हिंसा के औज़ार फावड़ा, कुदाल, शांकल, चाबुक, पींजरा, चूहेदान आदिक दूसरे को देना **हिंसादान** है यदि इस प्रकार की वस्तु अपने किसी कार्य के वासते रखना आवश्यक होतो रखो परन्तु दूसरे को दान करना तो व्यर्थ ही पाप कमाना है। अन्य जीवों के दोष ग्रहण करने के भाव, अन्य का धन ग्रहण करने की इच्छा, अन्य की स्त्री देखने की इच्छा, मनुष्य वा तिर्यंचोंकी लड़ाई देखने के भाव, अन्य की स्त्री पुत्र धन आजीविका आदिक नष्ट होने की चाह, पर का अपमान अपवाद होने की चाह आदिक **अपध्यान** हैं इन से कोई कार्य तो सिद्ध होता नहीं व्यर्थ का पाप बंधता है। राग, द्वेष, काम, क्रोध आदिक उत्पन्न करने वाला पुस्तक पढ़ना किस्सा सुन्ना **दुःख श्रुति** है। बिना प्रयोजन जल खिंड़ाना, अग्नि जलाना, बनस्पति छेदना, भूमि खोदना और इसही प्रकार का अन्य कोई कार्य करना जिसमें हिंसा होती हो वा बिना सावधानी के व्यर्थ इस प्रकार प्रवर्तना जिससे जीव हिंसा हो प्रमाद चर्या है।

इन तीनों गुण व्रतों के भी पांच २ अतीचार बर्णन किये गये हैं। वह इस प्रकार हैं।

दिग्विरीत के अतीचार। १ **अर्द्धातिक्रम** अर्थात् ऊंचाई पर जाने की जितनी मर्यादा बांधी हो उससे अधिक ऊपर वृक्ष पर्वतादिक पर चढ़ना। **अधोऽतिक्रम** अर्थात् नीचाई का जितना परिमाण किया हो उससे अधिक नीचा कूपादिक में जाना। **तिर्यगतिक्रम** अर्थात् टेढ़ा जाकर मर्यादा से बाहर चले जाना। **क्षेत्रवृद्धि** अर्थात् परिमाणित क्षेत्र को बढ़ाना। **स्मृत्यंतराधान** अर्थात् दिशाओं की बांधी हुई मर्यादा को भूल जाना।

देशव्रत के अतीचार १ मर्यादा के बाहर से किसी चेतन वा अचेतन वस्तु को मंगाना वा बुलाना, २ मर्यादा से बाहर आपतो जाना नहीं परन्तु अपने किसी सेवकादि को भेजना ३ मर्यादा से बाहर होने में शब्द पहुंचाना अर्थात् खांसी, खंखारने

का शब्द करके वा टेलीफोन के द्वारा अपना अभिप्राय समझा देना ४ मर्यादा से बाहर के क्षेत्र में हाथ पैर आदिक का कोई इशारा करके काम कराना ५ कंकरी आदिक फेंकने से मर्यादा के बाहर क्षेत्र में इशारा पहुंचाना।

अनर्थदण्डत्याग व्रत के अतीचार-१हास्य को लिये हुए भण्ड बचन बोलना २ काय से भंड क्रिया करना ३ व्यर्थ बकवाद करना ४ प्रयोजन को बिना विचारे अधिकता से प्रवर्तन करना ५ ज़रूरत से ज्यादा भोग उपभोग की सामिग्री इकट्ठा करना।

गुण व्रतों के द्वारा अणु व्रतों को बढ़ा कर शिक्षा व्रत ग्रहण करने चाहियें। जिससे चारित्र में अधिक उन्नति हो। जिन व्रतों से मुनि धर्म की शिक्षा प्राप्त होती है अर्थात् अभ्यास होता है उन को शिक्षा व्रत कहते हैं। शिक्षा व्रत चार हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग परिभोग परिमाण, और अतिथि संविभाग। इनका स्वरूप इस प्रकार है:—

समायिक--समस्त पाप क्रियाओं से रहित होकर सब से रागद्वेष छोड़ साम्य भाव को प्राप्त हो कर आत्मस्वरूप में लीन होना।

प्रोषधोपवास—प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को पहले दिन के दोपहर से लगा अगले अर्थात् पारने के दिन के दोपहर तक अर्थात् १६ पहर समस्त आरम्भ छोड़ कर विषय कषाय और समस्त प्रकार के आहार को त्याग कर धर्म सेवन में व्यतीत करना

उप भोग परिभोग विरति—उप भोग और परिभोग की वस्तुओं की मर्यादा करके बाक़ी सब का त्याग करना। जो एक बार भोगने में आवै वह भोग और जो बार बार भोगने में आवे वह परि भोग है।

अतिथिसं विभाग—महा व्रती मुनि वा अणु व्रती श्रावक के अर्थ शुद्ध मन से आहार दान करना।

इन चार शिक्षा व्रतों के भी पांच २ अती चार वर्णन किये गये हैं जो इस प्रकार हैं।

सामायिक के अतीचार—१ मन को वा २ बचन को वा ३ काया को अन्यथा चलायमान होने देना ४ उत्साह रहित अनादर से सामायिक करना और ५ सामायिक करते हुए चित्त की चंचलता से पाठ भूल जाना।

प्रोषधोपवास के अतीचार—१ बिना देखी बिना शोधी भूमि पर मल मूत्र कफ आदिक डालना २ बिना देखे बिना शोधे उपकरण का उठाना वा रखना ३ बिना देखी बिना शोधी भूमि पर सांथरा आदिक बिछाना ४ धर्म क्रिया में उत्साह रहित प्रवर्तना ५ आवश्यकीय धर्म क्रियाओं को भूल जाना।

उपभोग परिभोग परिमाण व्रत के अतीचार—१ सचित अर्थात् ऐसे फलादिक का आहार करना जिस में जीव हो २ सचित वस्तु से स्पर्श की हुई वस्तु का आहार करना ३ पदार्थ से सचित मिली हुई वस्तु का आहार करना ४ पुष्टि कारक वस्तु का आहार करना ५ भले प्रकार न पकी हुई तथा देर से हज़म होने वाली वस्तु का आहार करना।

अतिथि सम्बि भाग व्रत के अतीचार—१ सचित्त वस्तु में अर्थात् हरे कमलपत्र आदि में रख कर आहार देना २ सचित्त से ढके हुए आहार औषधि का देना ३ दूसरे की वस्तु का दान करना ४ अनादर से वाईर्षा भाव से दान देना ५ योग्य समय को टाल कर आहार देना।

तीन गुण व्रत और चार शिक्षा व्रत यह सात शील कहलाते हैं अर्थात् अणु व्रत की रक्षा वा वृद्धि करने वाले हैं।

श्रावक को इन १२ व्रतों के अतिरिक्त छै कर्म प्रति दिन करते रहना चाहिये जो षट् आवश्यक् कर्म कहलाते हैं पूजा, उपासना, दान, स्वाध्याय, तप और संयम।

पूजा—भक्ति करने आदर और बड़ाई मानने को पूजा कहते हैं। अपने में वैराग्य भाव उत्पन्न करने के वास्ते बीतरागियों और उन कारणों की जिन से बीतरागता प्राप्त होती है भक्ति करना।

उपासना—निकट जाने पास बैठने को उपासना कहते हैं। साधु और धर्मात्मा पुरुषों के पास जाना और पास जाना न हो तो उसके गुणों का चिंतवन करना।

दान--देने का नाम दान नहीं है। किसी भय से वा लोकाचार से वा अपने किसी संसारिक प्रयोजन के अर्थ देना दान नहीं है। दान वह है जो करुणा उत्पन्न होने पर किसी के दुख दूर करने को वा ज्ञान और धर्म की वृद्धि के अर्थ दिया जावै जिससे अपने को भी पुन्य बन्ध हो और दूसरे का भी हित सधता हो।

स्वाध्याय—श्री जैन शास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना चर्चा वार्ता करना।

तप—इन्द्रियों को बश करने और कषायों को मन्द करने के अर्थ किसी प्रकार का कष्ट उठाना तप है।

संयम—पापों से बचने के वास्ते अपनी क्रियाओं का प्रबन्ध करना अर्थात् नियम बांधना संयम है।

श्रावक का यह भी धर्म है कि जब मृत्यु का निश्चय होजावै तो धर्म ध्यान के साथ प्राणों को त्याग करै। इसको सन्यास मरण वा समाधि मरण वा सल्लेखना कहते हैं। आहिस्ता २ सब प्रकार की क्रिया और चिन्ता और खाना पीना आदिक को छोड़

कर आत्म ध्यान में लग जाना इस का उपाय है।

सन्यासमरण के भी पांच अतीचार बर्णन किये गये हैं १ जीने की इच्छा करना २ शीघ्र मरने की इच्छा करना ३ अपने मित्रों में अनुराग रखना और उन को याद करना ४ पूर्व भोगों को चिंतवन करना ५ आगामी के भोगों की बांछा रखना।

इस प्रकार समुच्चय रूप श्रावक धर्म का बर्णन किया गया। अब इसके भेदों का बर्णन करते हैं।

हम पहले लिख आये हैं कि चौथे गुणस्थानी सम्यक् दृष्टि में चारित्र बिल्कुल नहीं होता है एक तो श्रावक का यह दर्जा है इस में भी यद्यपि कोई चारित्र नहीं है परन्तु मांस का भोजन तो इस दर्जे वाला भी नहीं करता है और मदिरा, शहद, और बड़, पीपल, पीलू आदिक पांच उदम्बर फल जिन में साक्षात त्रस जीवों का घात होता है और त्रस जीव दिखाई देते हैं नहीं खाता है। अर्थात् उपर्युक्त आठ चीजों का त्यागी होता है इसी का नाम श्रावक के आठ मूल गुण हैं बिना इन आठ बस्तु के त्याग के जैनी अर्थात् पाक्षिक श्रावक ही नहीं कहला सक्ता है।

पंचम गुणस्थानी श्रावक जिसको देश ब्रती कहते हैं उसके ११ दर्जे हैं जो ११ प्रतिमा कहाती हैं। उन्नति करते हुवे एक से दूसरी और दूसरी से तीसरी आदिक ग्यारह प्रतिमा तक चढ़ना होता है और इन से भी ऊपर चढ़कर साधु होता है। अगली २ प्रतिमाओं में पूर्व २ की प्रतिमाओं की क्रिया का होना भी जरूरी है।

१ दर्शनप्रतिमा—सम्यगदर्शन सहित मद्यमांसादिक त्याग रूप अष्ट मूल गुण का निरतिचार पालने वाला दर्शनिक अर्थात् १ ली प्रतिमा का धारी कहलाता है। इस प्रतिमा में जूवा खेलना, मांस भक्षण करना, शराब पीना, वेश्यागमन, शिकारखेलना, चोरीकरना और पर स्त्री सेवन करना इन सात कुव्यसनों का भी त्याग होता है।

२ ब्रतप्रतिमा—१२ ब्रत का धरना। अर्थात् जब दर्शनिक १२ ब्रत का पालन करता है तब वह ब्रतिक कहलाता है।

३ सामायिक प्रतिमा—ब्रतिक का प्रभात काल, मध्याह्नकाल और अपराह्न-काल अर्थात् सुबह दोपहर और शाम को छै छै घड़ी बिधि पूर्बक सामायिक करना।

४ प्रोषधप्रतिमा—महीने के चारों प्रर्वदिनों में अर्थात् प्रत्येक अष्टमी, चतुर्दशी को १६ पहर का उपबास करना।

५ सचित त्याग प्रतिमा—हरी बनस्पति अर्थात् कच्चे फल फूल बीज आदिक न खाना।

६ रात्रिभोजन त्यागप्रतिमा—रात्रि को सर्व प्रकार के आहार का त्यागना।

७ **ब्रह्मचर्यप्रतिमा**—अपनी पराई किसी भी प्रकार की स्त्री से भोग न करना।

८ **आरम्भ बिरतिप्रतिमा**—गृहकार्य सम्बन्धी सर्व प्रकार की क्रिया का त्याग करना और दूसरों से भी प्रारम्भ नहीं कराना।

९ **परिग्रहत्याग प्रतिमा**—दस प्रकार के बाह्य परिग्रह से, ममता को त्याग कर सन्तोष धारण करना।

१० **अनुमोदन बिरतिप्रतिमा**-अन्य गृहस्थी के संसारीक कार्यों की अनुमोदना भी न करना जो कोई भोजन को बुलावे उसके यहां भोजन करआवे परन्तु यह न कहे कि मेरे वास्ते अमुक वस्तु बनावो।

११ उद्दिष्टविरति प्रतिमा—घर छोड़ बन तथा मठ आदिक में तपश्चरण करते हुए रहना, भिक्षा भोजन करना और खण्ड बस्त्र धारण करना। इस प्रतिमा धारी के दो भेद हैं १ क्षुल्लक और २ ऐलक। १ पहले दर्जे वाले अर्थात क्षुल्लक अपनी डाढी आदि के केश उस्तरे वा कैंची से कटवाते हैं, लंगोटी और उस के साथ चादर वा डुपट्टा धारण करते हैं, तथा बैठ कर अपने हाथ में वा किसी पात्र में भोजन करते हैं। और इस से ऊंचे दर्जे वाले अर्थात् ऐलक केशों का लोच करते हैं और केवल लंगोटी धारण करते हैं तथा मुनि की सदृश हाथ में पिच्छिका रखते हैं और अपने हाथ में ही भोजन करते हैं किसी बरतन में नहीं करते।

इस प्रकार पंचम गुणस्थानी श्रावक के ११ दर्जे हैं और चौथे गुणस्थानी सम्यक्ती को मिलाकर १२ दर्जे होते हैं।

इनका विस्तार वर्णन श्रावकाचार ग्रन्थों से जानना—

बहिरब्भतरकिरियारोहो भवकारणपणासट्ठं।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं ॥४६॥

अर्थ—ज्ञानी जीव के संसार के कारणों को नष्ट करने के वास्ते जो अन्तरङ्ग और बाह्य क्रियाओं का निरोध करना है वह श्रीजिनेन्द्र ने उत्कृष्ट सम्यक् चारित्र कहा है।

भावार्थ—पूर्वगाथा में जो चारित्र वर्णन किया गया है वह व्यवहार चारित्र है अर्थात् असली चारित्र का कारण है वास्तविक चारित्र समस्त क्रियाओं को रोक कर अपनी आत्मा में ही मग्न हो जाना है। इसही चारित्र से संसार पर्याय नष्ट होती है अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। ज्ञानी जनों को इसही चारित्र की प्राप्ति की कोशिश करनी चाहिये।

दुविहं पि मुखहेउं ज्भाणे पाऊणादि जं मुणी णियमा।
तह्मा पयत्तचित्ता जूयं ज्भाणं समब्भसह्ह ॥४७॥

अर्थ—ध्यान के करने से ही मुनि नियम से निश्चय और व्यवहार रूप मोक्षमार्ग को प्राप्त होता है इस हेतु हे भव्य जीवों तुम चित्त को एकाग्र करके ध्यान का अभ्यास करो।

भावार्थ—ध्यान से ही मोक्षमार्ग की सिद्ध है। चित्त को एकाग्र करना अर्थात् एक तरफ लगाना ध्यान है। ध्यान का अभ्यास मोक्ष अभिलाषी को अवश्य करना चाहिये।

मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह इट्ठानिट्ठअट्ठेसु।
थिरमिच्छहि जइ चित्त विचित्तज्झाणप्पासिद्धीए॥४८॥

अर्थ—यदि तुम नाना प्रकार के ध्यान तथा निर्विकल्प ध्यान की सिद्धि के वास्ते चित्त को स्थिर करना चाहते हो तो इष्ट तथा अनिष्ट रूप जो इंद्रियों के विषय हैं उन में राग, द्वेष और मोह को मत करो।

भावार्थ—ध्यान चार प्रकार का है। आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल।

आर्त्तध्यान—के चार भेद हैं।

अनिष्टयोगज— अनिष्ट अर्थात् अप्रिय और दुःखदाई वस्तु का संयोग होने पर उसके दूर करने के लिये बारम्बार चिन्तवन करना।

इष्टवियोगज—इष्ट अर्थात् प्रिय और सुखकारी वस्तु के वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिये बारम्बार चिन्तवन करना।

वेदना जनित—राग जनित पीड़ा का चिन्तवन करना अर्थात् सोच करना, अधीर होना आदि।

निदान-आगामी विषय भोग आदिक की बांछा करना और उसी के विचार में लीन हो जाना।

इन चार प्रकार के आर्त्त ध्यान में पहले तीन प्रकार के आर्त्त ध्यान तो १, २, ३, ४, ५, और छटे गुणस्थान तक हो सक्ते हैं परन्तु निदान आर्त्तध्यान छटे गुणस्थान में नहीं हो सक्ता है पांच गुणस्थान तक ही हो सक्ता है। आर्त्तध्यान खोटा ध्यान है इसको नहीं करना चाहिये।

रौद्रध्यान—के भी चार भेद हैं।

हिंसानन्द—हिंसा करके आनन्द मानना और हिंसा का चिन्तवन करते रहना।

मृषानन्द—झूठ बोलने में आनन्द मानना और झूठही का चिन्तवन करते रहना।

स्तेयानन्द-चोरी में आनन्द मानना और उसी का चिन्तवन करते रहना।

परिग्रहानन्द-परिग्रह और अपनी विषय सामिग्री की रक्षा करने में आनन्द मानना और उसी की चिन्ता में लगे रहना।

रौद्रध्यान-१, २, ३, ४, और पांचवें गुणस्थान तक हो सक्ता है। यह ध्यान आर्त्त ध्यान से भी अधिक खोटा है।

धर्मध्यान—भी चार प्रकार का है।

आज्ञाविचय—आगम की प्रमाणता से अर्थात् श्रीजिन वाणी के अनुसार पदार्थों के स्वरूप को चिन्तवन करना।

अपाय विचय—इस बात का चिन्तवन करना कि संसार के जीव सच्चे धर्म से अज्ञानी और अश्रद्धानी होकर संसार में ही घूमने का यत्न करते हैं. किस प्रकार से यह प्राणी खोटे मार्ग से फिरेंगे और किस प्रकार से जैनधर्म का प्रचार संसार के सब जीवों में होकर धर्म की प्रवृत्ति होगी, समचीन मार्ग तो प्रायः अभाव सा हो गया है इत्यादि सम्मार्ग के अभाव का चिन्तवन करना।

विपाक विचय-पापकर्मों से दुख और पुन्य कर्मों से संसारीक सुख और दोनों के अभाव से मोक्ष की प्राप्ति होती है इस प्रकार कर्म फल को चिन्तवन करना।

संस्थान विचय—लोक के स्वरूप और द्रव्यों के स्वभाव को चिन्तवन करना।

धर्म ध्यान पुन्यबन्ध का कारण है और परम्परा से मोक्ष का भी हेतु है। यह ध्यान चौथे, पांचवे, छठे और सातवें गुणस्थान में ही होता है।

शुक्लध्यान—भी चार प्रकार का है।

पृथक्त्ववितर्कवीचार-द्रव्य गुण पर्याय इनका जो जुदापना है उस को **पृथक्त्व** कहते हैं। श्रुतज्ञान तथा निज शुद्ध आत्मा का अनुभवन रूप भाव श्रुत अथवा जिन शुद्ध आत्मा को कहने वाला जो अन्तरंग बचन (सूक्ष्मशब्दकल्पन) है वह **वितर्क** कहलाता है। विना इच्छा किये अपने आप ही एक अर्थ से दूसरे अर्थ में, एक बचन से दूसरे बचन में और मन बचन काय इन तीनों योगों में एक योग से दूसरे योग में जो परिणमन (परिवर्त्तन) होता है उस को **बीचार** कहते हैं भावार्थ यद्यपि ध्यान करने वाला पुरुष निज शुद्धात्मा के ज्ञान को छोड़ कर बाह्य पदार्थों की चिन्ता नहीं करता अर्थात् निज आत्मा ही का ध्यान करता है तथापि जितने अंशों से उस पुरुष के अपनी आत्मा में स्थिरता नहीं है उतने अंशों से बिना इच्छा कियेही विकल्प

उत्पन्न होता है इस कारण से इस ध्यान को पृथक्त्व वितर्क वीचार कहते हैं। तर्क करना विचारना अर्थात् श्रुतिज्ञान वितर्क है। परिवर्त्तन को विचार कहते हैं। यह ध्यान ८, ९, १० और ग्यारहवें गुणस्थान में ही होता है और श्रुत केवली को ही होता है।

एकत्व वितर्क विचार—यह ध्यान तीनों योग में से किसी एक योग वाले के होता है और बारहवें गुणस्थान में श्रुतकेवली को ही होता है।

सूक्ष्म क्रिया प्रतिपति—यह ध्यान काय योग वालों को होता है और तेरहवें गुणस्थान में अर्थात् सयोगी केवली भगवान को ही होता है।

व्युपरत क्रिया निवर्त्ति—यह ध्यान चौदहवें गुणस्थान में अर्थात् अयोगी भगवान को होता है।

पणतीस सोलछप्पण चउदुगमेगं च जवहज्भाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण ॥४९॥

अर्थ—परमेष्ठी वाचक जो ३५, १६, ६, ५, ४, २, और एक अक्षर रूप मंत्र पद हैं उनका जाप्य करो और ध्यान करो। इनके सिवाय अन्य जो मंत्र पद हैं उनको भी गुरू के उपदेश के अनुसार जपो और ध्यावो।

भावार्थ—अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु यह पांच परमेष्टी हैं अर्थात् परम इष्ट हैं इन के ध्यान करने से भावों की शुद्धि और वैराग्य उत्पत्ति होती है।

३५ अक्षर का मंत्र—णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोएसव्वसाहूणं।

१६ अक्षर का मंत्र—अरिहंत सिद्ध आयरिय उवज्झाय साहू। अथवा "अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्वसाधुभ्यो नमः"।

६ अक्षर का मंत्र—अरिहंत सिद्ध, अथवा "नमोऽर्हत्सिद्धेभ्यः"।

५ अक्षर का मंत्र—असिआउसा। अर्थात् पांचों परमेष्टि का प्रथम अक्षर।

४ अक्षर का मंत्र-अरिहंत।

२ अक्षर का मंत्र—सिद्ध।

१ अक्षर का मंत्र—"अ"—अथवा—'ओं'।

अरिहंत का प्रथम अक्षर 'अ' सिद्ध को अशरीरी भी कहते हैं इसका भी प्रथम अक्षर 'अ' आचार्य का प्रथम अक्षर 'अ' उपाध्याय का प्रथम अक्षर 'उ' मुनि का प्रथम अक्षर 'म्' इस प्रकार अ+अ+आ+उ+म् इन पांचों अक्षरों की संधि होकर "ओम्" यह बन जाता है।

णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुह्णाणवीरियमईओ ।
सुह्देहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ॥५०॥

अर्थ—चार घातिया कर्मों को नष्ट करने वाला, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान अनन्त बीर्य का धारक, उत्तम देह में बिराजमान और शुद्ध ऐसा जो आत्मा है वह अरिहंत है उस का ध्यान करना उचित है।

भावार्थ—तेरहवें गुणस्थान वाले सयोग केवली भगवान को अरिहंत कहते हैं। आठ कर्मों में से ज्ञानावरणी, दर्शनाबरणी, मोहनी और अन्तराय यह चार घातिया कर्म हैं क्योंकि जीव के शुद्ध स्वभाव को भ्रष्ट करते हैं। श्री अरिहंत भगवान के यह चारों घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं और इन ही के नाश होने से अपने दर्शन, ज्ञान, सुख और बीर्य यह चार गुण प्रगट होते हैं। श्रीअरिहंत भगवान के चार कर्म बेदनी आयु, नाम और गोत्र अभी बाक़ी रहते हैं इस ही कारण श्री अरिहंत भगवान देहधारी होते हैं।

णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्य जाणओदट्ठा ।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो ज्झाएह लोयसिहरत्थो ॥५१॥

अर्थ—जिस का अष्ट कर्म रूपी देह नष्ट होगया है, जो लोक अलोक को जानने देखने वाला पुरुषाकार का धारक और लोक शिखर पर बिराजमान है वह आत्मा सिद्ध परमेष्ठी है। उसका ध्यान करो।

भावार्थ—श्री अरिहंत भगवान तेरहवें गुणस्थान से चौधवें गुणस्थान में जाकर चौधवें गुणस्थान के अन्त मे सर्व कर्मों का नाश कर देते हैं कोई कर्म बाकी नहीं रहता है। कर्मों के समूह को कार्माण शरीर कहते हैं। सर्व कर्मों के नाश होने से कार्माण शरीर भी उनके नहीं रहता है और किसी प्रकार का भी शरीर नहीं रहता है। अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञान प्राप्त होने से तेरवेंही गुणस्थान में अर्थात् अरिहंत अवस्थाही में सर्वज्ञ होकर वह लोक और अलोक की सर्व वस्तु को जानने लगे थे। सर्व कर्मों का नाश करके अर्थात् मुक्ति पाकर जिस देह से मुक्ति हुई है उस देह के आकार ऊर्ध्व गमन स्वभाव से लोक के अन्त तक ऊपर जाते हैं आगे धर्म द्रव्य न होने के कारण गमन नहीं है इस हेतु लोक शिखर पर ठहर जाते हैं वह सिद्ध भगवान हैं और ध्यान करने योग्य हैं।

दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे ।
अप्पं परं च जुंजइ सो आयरिओ मुणी ज्झेओ ॥५२॥

अर्थ—दर्श, ज्ञान, वीर्य चारित्र, और तप इन पांच आचारों में जो आप भी तत्पर होते हैं और अन्य शिष्यों को भी लगाते हैं वे आचार्यमुनि ध्यान करने योग्य हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन में परिणमन करना दर्शनाचार है। सम्यग्ज्ञान में लगना ज्ञानाचार है। वीतराग चारित्र में लगना चारित्राचार है। तप में लगना तपाचार है। इन चारों आचारों के करने में अपनी शक्ति का नहीं छिपाना वीर्याचार है। इन आचारों को जो आप पालते हैं और अपने शिष्यों को इन आचारों में लगाते हैं वे आचार्य परमेष्ठी हैं और ध्यान करने योग्य हैं।

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवदेसणेणिरदो।
सो उवज्झाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स॥५३॥

अर्थ—जो रत्न त्रय सहित है, निरन्तर धर्म का उपदेश देने में तत्पर है वह आत्मा मुनीश्वरों में प्रधान उपाध्याय परमेष्ठी कहलाता है उसको मैं नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र यह तीन रत्न हैं और रत्न त्रय कहलाते हैं जो रत्न त्रय के धारी हैं और सदा धर्म का उपदेश देते हैं अर्थात् मुनियों को पढ़ाते हैं वह उपाध्याय हैं और ध्यान करने योग्य हैं उनको नमस्कार होवे।

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जोहु चारित्तं।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स॥५४॥

अर्थ-जो दर्शन और ज्ञान से पूर्ण, मोक्ष का मार्ग भूत और सदा शुद्ध ऐसे चारित्र को प्रकट रूप से साधते हैं वे मुनी साधु परमेष्ठी हैं उनको मेरा नमस्कार हो।

भावार्थ—सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान के विना चारित्र कार्य कारी नहीं है। जो चारित्र सम्यग् दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक है वही मोक्ष का कारण है। ऐसे मोक्ष के कारण भूत और सदा शुद्ध अर्थात् रागद्वेषादि रहित चारित्र को जो मुनि साधन करते हैं वह साधु परमेष्ठी और ध्यान करने योग्य हैं ग्रंथकर्त्ता श्रीनेमिचंद्रा चार्य कहते हैं कि ऐसे साधु परमेष्ठी को मेरा नमस्कार होवे।

जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू ।
लद्धूणय एयत्तं तदाहुतं तस्स णिच्छयं ज्झाणं ॥५५॥

अर्थ—ध्येय पदार्थ में एकाग्रचित्त होकर जिस किसी पदार्थ को ध्याता हुआ साधु जब निस्पृह वृत्ति अर्थात् सर्व प्रकार की इच्छाओं से रहित होता है उस समय वह उसका ध्यान निश्चय ध्यान होता है ऐसा आचार्य कहते हैं।

भावार्थ--निस्पृह अर्थात् सब प्रकार की इच्छाओं से रहित होकर किसी वस्तु के ध्यान करने को निश्चय ध्यान कहते हैं।

माचिट्ठह माजंपह माचिन्तह किंवि जेण होइ थिरो ।
अप्पा अप्पम्मिरओ इणमेवं परं हवं ज्झाणं ॥५६॥

अर्थ—हे ज्ञानी पुरुषो ! तुम कुछ भी चेष्टा मत करो, कुछ भी मत बोलो और कुछ भी मत विचारो जिससे कि तुम्हारा आत्मा अपने आप में तल्लीन होकर स्थिर हो जावे यह आत्मा में तल्लीन होना ही परम ध्यान है।

भावार्थ—मन, वचन और काय की क्रिया को रोकने से शुद्ध आत्म ध्यान होता है, अपनी आत्मा में लीन होना ही उत्कृष्ट ध्यान है, पंच परमेष्ठी का ध्यान करना तो ध्यान का अभ्यास करने और वैराग्य की उत्पत्ति के अर्थ है, पंच परमेष्टी का ध्यान शुभ ध्यान है पुन्य बंध का कारण है परन्तु शुद्ध ध्यान नहीं है किन्तु शुद्ध ध्यान तक पहुंचने का मार्ग है और क्रम से उन्नति कर पंच परमेष्टी के भी ध्यान को छोड़ कर अपनी आत्मा ही में लीन होना परम ध्यान है साक्षात मोक्ष का कारण है और सर्व प्रकार के संकल्प विकल्पों को दूर करके आत्मा को स्थिर करना ही अपनी आत्मा में तल्लीन होना है यह स्थिरता मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को रोकने से ही प्राप्त होती है।

तवसुदवदवं चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा ।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह ॥५७॥

अर्थ—तप, श्रुत और व्रत का धारक जो आत्मा है वह ही ध्यान रूपी रथ की धुरी को धारण करने वाला होता है इस कारण हे भव्य पुरुषों ! तुम उस ध्यान की प्राप्ति के अर्थ निरन्तर तप, श्रुत और व्रत इन तीनों में तत्पर रहो।

भावार्थ—तप करने वाला, शास्त्र का अभ्यास करने वाला और व्रत पालने वाला ही शुभ वा शुद्ध ध्यान को कर सक्ता है इस हेतु ध्यान करने के अर्थ सदा ही तप करना शास्त्र पढ़ना और व्रत करना उचित है।

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुदपुण्णा।
सोधयंतुतणुसुत्तधरेण णेमिचन्दमुणिणाभणियंजं ॥५८॥

अर्थ—अल्पज्ञान के धारक मुझनेमिचन्द्रमुनि ने जो यह द्रव्य संग्रह कहा है इस को निर्दोष और पूर्णज्ञानी आचार्य शुद्ध करें।

भावार्थ—यद्यपि श्री नेमिचन्द्र आचार्य जो इस द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ के कर्ता हैं सिद्धान्त चक्रवर्त्ति और एक बड़े भारी विद्वान महर्षि हुए हैं तथापि वह अपनी लघुता प्रगट करते हुए उन श्रीआचार्यों से जो तत्व के जानने में संशयादि दोषों कर रहित हैं और पूर्णज्ञानी हैं प्रार्थना करते हैं कि यदि इस ग्रन्थ में कहीं भूल चूक हो तो शुद्ध कर देवें, सच है जो अधिक विद्वान और सज्जन तथा गुणी होते हैं उनकी ऐसी ही रीति है वह कदापि अपने ज्ञान का घमण्ड नहीं करते हैं।

इति तृतीयोऽधिकारः।

इति श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्त्ति विरचितः वृहद्द्रव्यसंग्रह समाप्तः ॥

श्री

परमात्मप्रकाश

प्राकृत ग्रन्थ

हिन्दी भाषा अर्थसहित ।

प्रकाशक-

बाबू सूर्य्यभानु वकील

देवबन्द, जिला सहारनपुर.

मूल्य छै आना

सन १९०९

शिवलाल गणेशीलाल ने

अपने "लक्ष्मीनारायण" यन्त्रालय

मुरादाबाद में छापा.

प्रस्तावना ।

श्रीपरमात्मप्रकाश,अध्यात्मकथनी का ग्रन्थ है-निश्चयनयकी अपेक्षा से ही इस ग्रन्थ के आशयको समझने की ज़रूरत है-निश्चय व्यवहार दोनोंही प्रकार की कथनी धर्मात्मा पुरुषों को जानने की आवश्यक्ता है इसही विचार से हमने यह ग्रन्थ छपाया है-लेखकों की असावधानी से श्रीजैनमंदिरों मैं ग्रन्थ बहुत ही अशुद्ध मिलते हैं इसकारण शुद्ध करने में बड़ी कठिनाई पड़ती है हमको एक प्राचीन शुद्धलिपि प्राकृत ग्रन्थ की मिलगई जिसके आधारपर हमको इस ग्रन्थ के छापने का साहस हुवा यादि वह प्राचीन पोथी हमको न मिलती तो हम जैनमंदिरों से बीस प्रति इकट्ठी करने परभी शुद्ध नहीं करसक्ते थे-अब भी कहीं कहीं अशुद्धि अवश्य रहगई होंगी जिसकी सूचना विद्वानों के द्वारा मिलनेपर आगामी शुद्धि करादीजावैगी ।

भाषाअनुवाद हमने एक भाषाटीका के आधार पर किया है-यादि कहीं भूल रहगई हो तो अवश्य हमको सूचना मिलनी चाहिये-अनुवाद बहुत संकोच रूप है जिसमें शब्दार्थ और भावार्थ दोनों आगया है आशा है कि हमारी इस अनुवाद की प्रणाली को सब पसन्द करैंगे ।

देवबन्द
जिला सहारनपुर
१२।२।०९
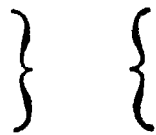
सब भाइयों का दास
सूरजभानु वकील

॥ श्रीवीतरागायनमः ॥

श्रीयोगेंद्रदेव विरचित ।

परमात्मप्रकाश

प्राकृत दोहा ।

जे जाया झाणग्गियए, कम्म कलंक डहेवि ।
णिच्च णिरंजण णाणमय, ते परमप्प णवेवि ॥ १ ॥

जो ध्यानरूपी अग्नि से कर्मकलंक को जलाकर नित्य. निरंजन (कर्म मलसे रहित) ज्ञानस्वरूप हुवेहैं ऐसे सिद्ध परमात्मा को नमस्कार होवे ॥

ते वंदउ सिरि सिद्धगण, होसहि जेवि अणंत ।
सिवमई णिरुवम णाणमई, परम समाहि भजंत ॥ २ ॥

जो अनन्तजीव आगामी काल में रागादि विकल्प रहित परम समाधिको पाकर शिवमई, निरूपम और ज्ञानमई सिद्ध होवेंगे उन को नमस्कार करता हूं ॥

तेहउ वंदउ सिद्धगण, अत्थहिं जे विह वंति ।
परम समाहि महिग्गयए, कम्मंधणइ हुणंति ॥ ३ ॥

कर्मरूप ईंधन को जलाकर जो श्रीसिद्धभगवान् इस समय विदेहक्षेत्र में विराजमान् हैं उनको मैं भक्ति सहित नमस्कारकरताहूं॥

तेपुण वंदउ सिद्धगण, जे णिव्वाणि वसंति ।
णाणे तिहु यणि गरुयावि, भवसायर न पडंति ॥ ४ ॥

उन सिद्धों को भी नमस्कार करताहूं जो निर्वाण भूमिमें अर्थात मोक्षस्थान में बसते हैं, तीर्थंकर अवस्था में जीवों को ज्ञान देनेके कारण हमारे तीनों भवके गुरु हैं परन्तु वे संसारमें नहीं पड़तेहैं ॥

तेपुणु वंदउं सिद्धगण, जे अप्पाणि वसंति ।
लोया लोउ विसय लुइहु, अच्छहिं विमलु णियंति ॥ ५ ॥

उन सिद्धों को नमस्कार करताहूं जो अपने आत्मस्वरूप में ही बसते हैं और लोक अलोक के समस्त पदार्थों को निर्मल प्रत्यक्ष ज्ञान से देखते हैं ॥

केवल दंसण णाण मय, केवल सुक्ख सुहाव ।
जिणवर वंदउं भत्तियए, जेहिं पयासिय भाव ॥ ६ ॥

श्रीजिनेंद्र देव को भक्तिभाव से नमस्कार करताहूं, केवल दर्शन, केवल ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीरज से मंडित हैं और जिन्होंने जीव अजीव आदिक पदार्थों के स्वरूप को प्रकाश कियाहै॥

जे परमप्प णियंति मुणि, परम समाहि धरेवि ।
परमाणंदह कारणण, तिण्णवि तेवि णवेवि ॥ ७ ॥

जिन मुनि महाराजोंने परमानन्द के देनेवाली परम समाधि को लगाकर परम पद प्राप्त किया है उन तीनों को मेरा नमस्कार हो— अर्थात् आचार्य, उपाध्याय और साधु को ॥

भावं पणविवि पंच गुरु, सिरि जोइंदु जि णाव ।
भट्ट पहायरि विण्णविउ, विमलुकरे विणुभाव ॥ ८ ॥

अपने मनको निर्मल करके और पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करके श्रीजोगेंद्राचार्य से प्रभाकर भट्ट विनती करताहै॥

गउ संसार वसंतिहं, सामिय कालु अनंतु ।
परमइं किंपिण पत्त सुहु, दुक्खुजिपत्तु महंतु ॥ ९ ॥

हेस्वामी! इस संसार में भ्रमतेहुवे मुझको अनन्तकाल बीते परन्तु मैंने सुख कुछभी न पाया महान् दुःखही उठाया॥

चउगइ दुक्खहिं तत्त यह, जो परमप्पउ कोइ ।
चउगइ दुक्ख विनासयरु, कहहु पसायं सोइ ॥ १० ॥

जो चारगतिकेदुःखोंमें तप्तायमान होरहाहै और चारगतिकेदुःखों को विनाश कर परमपद प्राप्त करताहै हे स्वामी उसका वर्णन करो

पुणुपुणु पणविवि पंचगुरू, भावें चित्ति धरेवि ।
भट्टपहायर निसुणि तुहुं, अप्पातिविहु कहेवि ॥ ११ ॥

(आचार्य कहतेहैं, हे प्रभाकर! तू निश्चयके साथ सुन मैं भक्ति का भाव मनमें रखकर पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करके तीनप्रकार की आत्माका वर्णन करता हूं॥

अप्पा तिविहु मुणेव लहु, मूढउ मेल्लहि भाउ ।
मुणि संणाणे णाणमउ, जो परमप्प सहाउ ॥ १२ ॥

आत्माको तीन प्रकार जानकर प्रथम बहिरात्मभावको छोड़

और अंतरात्मा होकर केवल ज्ञानपूर्ण परमात्मा का ध्यान कर॥

मूढ़ वियक्खणु वंभुपरु, अप्पा तिविहु हवेइ ।
देहु जिअप्पा जो मुणाइं, सो जणु मूढ हवेइ॥१३॥

बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा तीन प्रकारकी आत्मा है जो अपने शरीर को ही आपा मानता है वह मूर्ख अर्थात् बहिरात्मा है ॥

देहहं भिण्णउ णाणमउ, जो परमप्पु णिएइ ।
परम समाहि परिट्ठियउ, पंडिय सो जिहवेइ॥ १४॥

जो आत्मा को देहसे भिन्न शुद्ध ज्ञानस्वरूप परमसमाधि में स्थित जानता है वह अन्तर आत्मा है ॥

अप्पा लद्धउ णाणमउ, कम्मवि मुक्के जेण ।
मिल्लिवि सयलुवि दब्बु तुहुं,सो परु मुणाहि मणेण॥१५॥

जो अपने आप को प्राप्तहुवाहै ज्ञानमई है कर्मोंसे रहितहै उसको तू अपने मनको तीनप्रकार की शल्यसे शुद्धकरके परमात्माजान॥

तिहुयणा वंदिउ सिद्धिगउ, हरिहर झायहिं जोजि ।
लक्खु अलक्खे धरिवि थिरु, मुणि परमप्पउ सोजि ॥ १६ ॥

तीनलोक जिसकी वंदना करताहै हरिहर आदिक जिसका ध्यान करते हैं वह सिद्ध भगवान् परमात्माहै ॥

णिच्च णिरंजणु णाण मउ, परमाणंद सहाउ ।
जो एहउ सो संतु सिउ, तासु मुणिज्जहि भाव ॥ १७ ॥

नित्यहै, निरंजन है अर्थात् रागादिक मलसे रहितहै, ज्ञानस्वरूप है, परमानन्द स्वरूपहै जो ऐसाहै वहही शांतिहै शिवहै ऐसा जान कर तू अपने स्वरूप को अनुभवकर॥

जो णियभाउ ण परिहरइ, जो परभाउ ण लेइ ।
जाइण सयलुवि णिच्चुपर, सो सिव संत हवेइ ॥ १८ ॥

जो अपने स्वभाव को नहीं छोड़ताहै और परवस्तुके भावको नहीं ग्रहण करताहै और निजको और परको अर्थात् तीन लोकके त्रिकालवर्ती सर्व पदार्थों को जानताहै वहही शांति शिव है॥

जासु ण वण्णु ण गंधु रसु, जासु ण सद्दु ण फास ।
जासु ण जम्मणु मरणु ण, विणाउ णिरंजण तासु ॥ १९ ॥
जासु ण कोहु ण मोहमउ, जासु ण माया माण ।

जासु ण ठाणु ण झाणु जिय, सोजि णिरंजण जाण॥ २० ॥

अत्थि ण पुण्ण ण पाउ जसु,अत्थि ण हरसु विसाउ।

अत्थि ण एक्कुवि दोसु जसु, सोजि णिरंजण भाउ ॥ ११ ॥

जिसमें वरण, गंध, रस, शब्द, स्पर्शन नहींहै अर्थात देहधारी नहींहै जिसका जन्म नहीं, मरण नहीं वही निरंजनहै ॥

जिसको क्रोध नहीं मोहनहीं मद नहीं माया नहीं और मान नहीं है जिसमें ध्यान और ध्यानस्थान भी नहीं है उसही को तू निरंजन जान ॥

जिसके पुण्य पाप नहींहै हर्ष विषाद नहीं है जिसमें किसी प्रकार का भी दोष नहींहै ऐसे जीव को निरंजन अनुभव कर ॥

जासु ण धारणु धेउ णवि, जासु ण तंतु ण मंतु ।

जासु ण मंडल मंडलु मुद्द णवि, सो मुणिदेउ अणंतु ॥ २२ ॥

धारण, ध्येय, जंत्र, मंत्र, मंडल और मुद्रादिक जिस में नहीं हैं वहही देव अनन्तहै ॥

वेयहि सत्थहि इंदियहिं, जो जिय मुणहु ण जाइ ।

णिम्मल झाईहिं जो विसउ, सो परमप्प अणाइ ॥ ११ ॥

वह परमात्मा वेद शास्त्र और इन्द्रियों से नहीं जाना जाता है.वह निर्मल ध्यानसे ही जाना जासक्ता है ॥

केवल दंसण णाणमणउ, केवल सुक्ख सहाउ ।

केवल वीरिउ सो मुणहिं, जोजि परावरु भाउ ॥ २४ ॥

केवल दर्शन केवल ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीरज रूप ही को तू परमात्मा जान ॥

एयहिं जुत्तउ लक्खणहि, जोपर णिक्कल देव ।

सो तहिं णिवसइ परमपइ, जो तिल्लोयहिं झेउ ॥२५॥

जो इस प्रकार के लक्षणों वालाहै और तीनलोक जिसकी वंदना करताहै जो सर्वोत्कृष्ट है,शरीररहितहै,वहपरमात्मा लोकके अन्त पर तिष्टै है ॥

जेहउ णिम्मलु णाणमउ, सिद्धिहिं णिवसइ देउ ।

तेहउ णिवसइ बंभुपरु, देहहं मं करि भेउ ॥ २६ ॥

जैसा निर्मल और ज्ञानमई परमात्मा सिद्ध अवस्था मेंहै वह

ही परमब्रह्म संसार अवस्था में शरीर में रहता है–अर्थात् यह देह-धारी संसारी जीवही सिद्ध पदको प्राप्त होता है॥

जें दिट्ठें तुट्टंति लहु, कम्मइं पुव्व कियाइं।
सो परु जाणहि जोइया, देहि वसंतु ण काइं॥ २७॥

जिस परमात्मा के ध्यानसे पूर्व उपार्जित कर्म नाश होते हैं वह परम उत्कृष्ट जानने योग्य तेरी देहही में बसता है अन्यकहींनहींहै

जित्थु ण इंदिय सुह दुहइं, जित्थु ण मण वावारु।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुं, अण्णु परे अवहारु॥ २८॥

जिसको इन्द्रियों का सुख दुःख नहीं है और जिसमें मनका व्यापार अर्थात् संकल्प विकल्प नहींहै उसही को तू आत्मा जान अन्य जो कुछ है वह पर है उसको तू छोड़दे॥

देहा देहहं जो वसइ, भेया भेय णएण।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुं, किं अण्णं वहुएण॥ २९॥

देह के साथ एकमेक होकर जो देह में बसताहै और नय कथन से भेदाभेद रूप है अर्थात् देहसे जुदा है, हे जीव तू उसको आत्मा जान अन्य जो अनेक पदार्थहैं उनसे क्या प्रयोजनहै॥

जीवाजीव म एक्कु करि, लक्खण भेए भेउ।
जो परु सो परु भावि मुणि, अप्पा अप्पु अभेउ॥ ३०॥

जीव और अजीव को तू एक मतकर यह दोनों अपने अपने लक्षण से जुदे जुदे हैं जो परहैं उनको पर जान और आत्माको आत्मा जान॥

अमणु अणिंदिउ णाणमउ, मुत्ति रहिउ चिम्मत्तु।
अप्पा इंदिय विसउ णवि, लक्खणु एहु णिरुत्तु॥ ३१॥

मन रहित है इन्द्रियरहित है ज्ञानमई है मूर्तिरहित है चेतन मात्र है इन्द्रियों से नहीं जाना जासक्ता है निश्चय से आत्मा के यह लक्षण हैं॥

भवतणु भोय विरत्त मण, जो अप्पा झाएइ।
तासु गुरुक्की वेल्लडी, संसारिणि तुट्टेइ॥ ३२॥

संसार शरीर भोगमें जो मन लगा हुवा था उस मन को जो आत्मीक ध्यान में लगाता है उसकी संसार के बढ़ाने वाली बेल टूट जातीहै अर्थात् संसार परिभ्रमण बंद होजाता है॥

देहा देउलि जो वसइ, देव अणाइ अणंतु ।
केवल णाण फुरंत तणु, सो परमप्पु भणंतु ॥ ३३ ॥

संसारी जीवके शरीर रूपी चैत्यालय में जो बसता है वहही देवहै अनादि अनन्त है उसहीको केवल ज्ञानकी शक्तिहै उसहीको परमात्मा कहतेहैं ॥

देहि वसंतुवि णवि छिवई, नियमे देहुवि जोजि ।
देहें छिप्पइ जोजि णवि, मुणि परमप्पउ सोजि ॥ ३४ ॥

जो देहमें रहते हुवाभी देह को नहीं छूताहै अर्थात् देह रूप नहीं होजाताहै और देहभी उस रूप नहीं होजातीहै वहही परमात्माहै ॥

जो समभाव परिट्ठियहं, जो इहिं कोवि फुरेइ ।
परमाणंदु जणंतु फुडु, सो परमप्पु हवेइ ॥ ३५ ॥

समता भाव अवस्थामें अर्थात् सुखदुःख जीवन मरण शत्रु मित्र आदिक को बराबर समझ कर निर्विकल्प समाधिमें स्थिर होकर जिसको परम आनन्द प्राप्त होताहै वहही परमात्माहै ॥

कम्मणि बद्धुवि जोइया, देह वसंतुवि जोजि ।
होइ णसयलु कयावि फुडु, मुणि परमप्पउ सोजि॥३६॥

यद्यपि कर्मोंसे बंधाहुवा शरीरमें बसताहै परन्तु कभीभी शरीर रूप नहीं हो जाताहै वहही परमात्माहै उसको तू जान ॥

जो परमत्थें निकलुवि, कम्मवि भिण्णउ जोजि ।
मूढासयलु भणंति फुडु, मुणि परमप्पउ सोजि ॥३७॥

जो निश्चय नयसे अर्थात् असली स्वभाव की अपेक्षा शरीर रहित और कर्म रहितहै अर्थात् शरीर में रहना और कर्म बंधन में पड़ना जिसका असली स्वभाव नहींहै मूढ़मिथ्या दृष्टिलोग जिसको शरीररूप जानतेहैं अर्थात् देहधारी होना उसका असली स्वभाव समझतेहैं वही परमात्मा है ॥

गयणि अणंतु जि एक्कु उडु, जेहउ भुवणु विहाइ ।
मुक्कहं जसु पए विंबिय, सो परमप्पु अणाइ ॥ ३८ ॥

जिसके अनन्तानन्तज्ञान में तीनलोक ऐसा है जैसे अनन्त आकाश में एक नक्षत्र अर्थात् एक तारा वही ही परमात्मा है ॥

जोइय विंदहिं णाणमउ, जो झाइज्झइ झेउ ।

मोक्खं कारणु अणवरउ, सो परमप्पउ देव ॥ ३९ ॥

श्रीमुनिमोक्ष प्राप्त होने के हेतु जिस ज्ञानमई आत्मा का ध्यान करते हैं अर्थात् अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं वहही आत्मा परमात्मा है और देवहै ॥

जो जिउ हेउलहेवि विहि, जगु बहुविहउ जणेइ ।

लिंगत्तय परिमंडियउ, सो परमप्पु हवेइ ॥ ४० ॥

जो ज्ञानावरणादिक कर्मोंका निमित्त पाकर अर्थात् कर्मों के वश होकर त्रस स्थावर स्त्री पुरुष आदिक अनेक रूप संसार को उपजावैहै अर्थात् संसार में अनेक पर्याय धारण करता है उसही को तू परमात्मा जान ॥

जसु अब्भंतरि जगु वसइ, जग अब्भंतर जोजि ।

जगवि वसंतुवि जगु जिणवि, मुणि परमप्पउ सोजि ॥ ४१ ॥

जिसके केवल ज्ञान में सारा जगत् बसताहै अर्थात् सारा जगत् जिसको प्रतिभासता है और वह जगत्को जानने वाला जगत् में बसैहै परन्तु वह जानने वाला जगत् रूप नहीं होजाता है वह ही परमात्मा है। भावार्थ-जैसे किसी वस्तु को देखकर कहदेते हैं कि वह वस्तु हमारी आंख में है और यह भी कहते हैं कि हमारी आंख उस वस्तुमें है परन्तु आंख अलगहै और देखने योग्य वस्तु अलगहै इसही प्रकार संसारके पदार्थों को देखने वाला जीवहै ॥

देह वसंतुवि हरि हरवि, जे अज्झवि ण मुणंति ।

परम समाहि भवेण विणु, सो परमप्पु भणंति ॥ ४२ ॥

शरीर के अन्दर जो आत्मा बसता है उसको परम समाधि के भावसे रहित हरिहर आदिक नहीं पहचानसक्ते हैं-वह ही परमात्मा है ॥

भावाभावहि संजवउ, भावाभावहिं जोजि ।

देहिजि दिट्ठउ जिणवरहिं,मुणि परमप्पउसोजि ॥ ४१ ॥

जो निजभाव से संयुक्त और परभाव से रहित है उसको परभाव से रहित और निजभाव से संयुक्त होकर श्रीजिनेंद्र देवने देहमें देखाहै उसको तू परमात्मा जान ॥

देह वसंते जेण पर, इंदिय गाउ वसेइ ।

उव्वसु होइ गएगा फुडुं,सो परमप्पु हवेइ ॥ ४४ ॥

जिसके देहमें बसने से इन्द्रियों वाला ग्राम बसताहै और जिसके निकलजानेसे उजड़जाताहै उसको तू परमात्मा जान। भावार्थ-जब तक जीव देहमें रहताहै तबही तक आंख नाक आदिक इन्द्रियां अपना २ काम करती हैं और जब जीव निकलजाता है तब कोई भी इन्द्रिय नहीं रहती है ॥

जो गिाय करणहिं पंचहिं विं, पंचवि विसय मुणेइ ।
मुणिउं ण पंचहि पंचहिंवि, सो परमप्पु हवेइ ॥ ४५ ॥

जो पांचों इन्द्रियों के विषय को जानता है और इन्द्रियां इंद्रियों के विषय को नहीं जानती हैं उसही को तू परमात्मा जान। भावार्थ-पांचों इन्द्रियां आंख नाक कान, जिह्वा और त्वचा यह सब जड़ हैं इनमें जानने की शक्ति नहींहै संसारी जीव इन इन्द्रियों के द्वारा इस प्रकार जानता है जैसाकि जिसकी आंख कमजोर होगई है वह ऐनक (चशमे) के द्वारा देखता है परन्तु ऐनकमें देखनेकी शक्ति नहींहै यह देखने जानने वाला जीवहै वहही परमात्मा है॥

जसु परमत्थें बंधु णवि, जोइय णवि संसारु ।
सो परमप्पउ झाणितुंहु,मुणि मेल्लवि ववहारु ॥ ४६ ॥

जिसका असली स्वभाव कर्मोंके बंधसे और संसारसे अर्थात् अनेकरूप घूमनेसे रहितहै। भावार्थ-कर्मबंध और संसारमें घूमना जिसका असली स्वभाव नहींहै वह परमात्मा है उसका तू ध्यानकर और व्यवहार को त्यागने योग्य समझ ॥

णेया भावें वल्लि जिवि, थक्कइ णाण वलेवि ।
मुक्कहं जसु पए विंवयउ, परम सहाउ भणेवि॥ ४७ ॥

जैसे किसी मकानमें कोई बेल बोईजावै तो वह उगकर और बढ़कर मकानके अन्दर फैलजावैगी परन्तु यदि मकान बड़ा होता तो और भी लंबी फैलती इसही प्रकार केवल ज्ञान सर्व पदार्थोंको जानता है यदि इससे अधिक पदार्थ होते तो उनको भी जानता-मोक्ष पानेपर जिसमें ऐसा ज्ञान है वहही परमात्मा है ॥

कम्मई जासुजणंत एवि,णउ णउ कज्ज सयावि ।
कंपि ण जणियउ हरिउणवि, सोपरमप्पउ भावि ॥ ४८ ॥

कर्म सुख दुःखरूप अपने२ कारज को उत्पन्न करतेहैं परन्तु जीव के स्वभाव को नाश नहीं करसक्ते हैं और जीवमें कोई नवीन स्वभाव उत्पन्न नहीं करसक्ते हैं वह जीव परमात्मा है उस को तू अनुभव कर ॥

कम्मणि बंधवि होइ णवि, जो फुडुकम्म कयावि ।
कम्मवि जोण कयावि फुडु, सो परमप्पउ भावि ॥ ४९ ॥

कर्मोंसे बंधाहुवा भी जो कर्मरूप नहीं होताहै और कर्मभी जिस रूप नहीं होजाते हैं वही परमात्मा है उसको तू अनुभवकर। भावार्थ–कर्म जड़हैं जीव चैतन्यहै–जड़ बदलकर चेतन नहीं होता और चेतन बदलकर जड़ नहीं होसक्ता है–कर्म जीवके स्वरूप से भिन्न ही हैं ॥

किवि भणंति जिउ सव्वगउ, जिउ जडु केवि भणंति ।
कोवि भणंति जिउ देहसमु, सुण्णवि कोवि भणंति ॥ ५० ॥

कोई जीवको सर्वव्यापी कहते हैं कोई जीवको जड़ बताते हैं कोई जीव को देह परिमाण कहते हैं और कोई जीवको शून्य कहते हैं ॥

अप्पा जोइय सव्वगउ, अप्पा जडुवि वियाणि ।
अप्पा देह समाणु मुणि, अप्पा सुण्णु वियाणि ॥ ५१ ॥

आत्मा सर्वव्यापी भी है जड़ भी है देह परिमाणभी है और शून्यभी है ॥

अप्पा कम्मवि विज्जियउ, केवल णाणे जेण ।
णेयालोउ मुणेइ जिय, सव्वगु वुच्चइ तेण ॥ ५२ ॥

जीवात्मा कर्मों से रहितहोकर केवल ज्ञान के द्वारा लोक अलोक अर्थात् सर्व को जानता है इस हेतु सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापी कहा है ॥

जोणिय वोहि परिट्ठियहं, जीवहं तुट्टइ णाणु ।
इंदिय जणियउ जोइया, तेजिउ जडुवि वियाणु ॥ ५३ ॥

जब जीवको अतिन्द्रिय ज्ञान होता है तब इन्द्रियज्ञान कुछ नहीं रहता है इस कारण उस समय इन्द्रियज्ञान से रहित होताहै इसही हेतु जड़ कहा है। भावार्थ। इन्द्रियां जड़हैं व्यवहार में इन्द्रियोंके ही द्वारा ज्ञान होता है परन्तु आत्मीक परमशक्तिके प्रकट होनेपर

इन्द्रियों से भिन्न अतिन्द्रियज्ञान प्राप्त होने की अवस्थामें इन्द्रियां जड़ रूप रहजाती हैं ॥

कारण विरहिउ सुद्ध जिउ, वड्ढइ खिरइ ण जेण ।
चरम सरीर पमाणु जिउ, जिणवर बोल्लहि तेण ॥ ५४ ॥

कर्मरूप कारणके अभाव से सिद्धजीव घटता बढ़ता नहींहै जिस शरीर से मुक्ति होती है उस शरीरके परिमाण रहता है ऐसा श्री-जिनेंद्र देवने कहा है ॥

अट्ठवि कम्मइं बहुविहइं, णव णव दोसवि जेण ।
सुद्धहं एक्कुवि अत्थिणवि, सुण्णुवि वुच्चइ तेण ॥ ५५ ॥

सिद्धजीव में आठ कर्मोंसे वा इनके भेदाभेद में से कोईभीकर्म नहीं है और १८ दोषोंमें से कोई भी दोष नहीं है इस कारण जीवको शून्य भी कहा है ॥

अप्पा जणियउ केण णवि, अप्पें जणिउ ण कोइ ।
दव्व सहावें णिच्चु मुणि, पज्जउ विणसइ होइ ॥ ५६ ॥

आत्मा को न किसीने उपजाया है और न आत्माने किसी द्रव्य को उपजाया है—यह आत्मा द्रव्य सुभाव कर नित्य है परन्तु पर्याय की अपेक्षा उपजता भी है और विनाशभी होता है अर्थात् आत्म द्रव्य तो अनादि नित्य है न पैदा होता है और न विनाश होता है परन्तु पर्याय अर्थात् अवस्था सदा बदलती रहतीहै अर्थात् पर्याय उत्पन्न भी होती है और विनाशभी होती है ॥

तं परियाणहिं दव्वु तुहुं, जंगुण पज्जय जुत्तु ।
सहभुय जाणहिं ताहि गुण, कमभुय पज्जउवुत्तु ॥ ५७ ॥

द्रव्य उसको जानो जिसमें गुण और पर्यायहों—जो सहभावी हो अर्थात द्रव्य के साथ सदा रहे अर्थात् द्रव्य का सुभावहो उस को गुण कहते हैं और जो क्रमवर्ती हो अर्थात् कभी कोई दशाहो कभी कोई उसको पर्याय कहते हैं ॥

अप्पा बुज्झहिं दव्व तुहुं, गुण पुणु दंसणु णाणु ।
पज्जय चउगइ भाव तणु, कम्म विणिम्मिउ जाणु ॥ ५८ ॥

आत्मा को द्रव्यजान, दर्शन औरज्ञान उसका गुणजान और चतुरगति परिभ्रमण रूपपरिणमन को कर्मकृत विभावपर्याय जान॥

जीवहि कम्मु अणाइ जिय, जणियउ कम्मण तेण ।

कम्मेंं जीउवि जगिउ णवि, दोहिंवि आइण जेण ॥ ५९ ॥

जीव और कर्म दोनों अनादिहैं न तो जीवने कर्मोंको पैदा किया है और न कर्मों ने जीवको पैदा कियाहै दोनों वस्तु अनादिही से चली आतीहैं आदि कोई नहींहै ॥

इहु ववहारिं जीव झउ, हे उलहेविणु कम्म ।
वहुविह भावइ परिणवइ, तेणजिधम्म अहम्म ॥ ६० ॥

यह व्यवहारी जीव अपने किये कर्मों के निमित्तसे अनेकभाव रूप परिणमताहै अर्थात् पुण्यरूप और पाप रूप होताहै ॥

तेपुण जीवहि जोइया, अट्ठवि कम्म भणंति ।
जेंहिजि झंपिय जीवणवि, अप्प सहाउ लहंति॥ ६१ ॥

वेकर्म आठ प्रकारकेहैं जिन से ढका जाकर जीव अपने आत्मीक स्वभाव को नहीं पाताहै ॥

विसय कसायहिं रंजियहं, जे अणु आलग्गंति ।
जीव पएसहिं मोहियहं, ते जिण कम्म भणंति ॥ ६२ ॥

विषय कषाय और मोहके कारण जो पुद्गल परमाणु जीवके प्रदेशों से लगतेहैं श्रीजिनेंद्र भागवान्ने उनहींको कर्म कहाहै ॥

पंचवि इंदिय अण्णु मणु, अण्णुवि सयल विभाव ।
जीवहिं कम्मइं जणिय जिय, अण्णुवि चउगइ भाव ॥ ६३ ॥

पांच इन्द्रिय, मन, समस्त विभाव परिणाम और चारगति सम्बंधी दुःख यह सब जीवको कर्मों ने उपजायेहैं ॥

दुक्खवि सुक्खवि वहुविहउ, जीवहिं कम्म जणेइ ।
अप्पा देखइ मुणइ पर, णिच्छउ एउ भणेइ ॥ ६४ ॥

जीवोंको सर्व प्रकारके सुखदुःख कर्मोंनेही उपजायेहैं--परन्तु निश्चयनयसे अर्थात् असली स्वभाव से तो जीवात्मा देखने और जानने वालाहीहै ॥

वंधुवि मोक्खवि सयलु जिय, जीवह कम्म जणेइ ।
अप्पा किंपिवि कुणइ णवि, णिच्छउ एउ भणेइ ॥ ६५ ॥

हे जीव बंध और मोक्षको कर्मों नेही उत्पन्न कियाहै निश्चय नयसे जीव बंध और मोक्षका पैदा करनेवाला नहीं है। भावार्थ-यदि कर्म न होते तो बंधऔर मोक्ष यह दो नामही नहोते कर्मोंसे

ही बंध होताहै और कर्मों हीके दूर होनेसे मोक्ष अर्थात् बंधन से छूटना होताहै जीवका असली स्वभाव न बंधन में पड़नाहै और न छूटनाहै बंधना और छूटना यह दोनों बात कर्मों ही के कारण पैदा होती हैं ॥

अप्पा पंगुहु अणुहवइ, अप्पुणु जाइ णएइ ।
भुवणत्तयहं विमज्झि जिय, विहि आणाइ विहि णेइ ॥ ६६ ॥

पांगुले मनुष्य की समान जीवात्मा अपने आप न कहीं आता है और न कहीं जाता है-कर्म ही इसजीवको तीनलोक में लिये फिरते हैं ॥

अप्पा अप्पुजि परुजिपरु,अप्पा परुजि ण होइ ।
परुजि कयावि ण अप्पुणावि,णियमें पभणहिंजोइ ॥ ६७ ॥

आत्मा आत्माही है और पर पदार्थ परही हैं-नतो आत्मा अन्यकोईपदार्थ बनसक्ती है और न अन्यकोईपदार्थ आत्मा बनसक्ता है ऐसा जोगीश्वर कहते हैं ॥

णवि उपजइ णवि मरइ,बंधु ण मोक्खु करेइ ।
जिउ परमत्थें जोइया, जिणवरु एउभणेइ ॥ ६८ ॥

निश्चय नयसे अर्थात् असली स्वभाव से जीवात्मा न पैदाहोता है और न मरता है न बंधरूप है और न मुक्तिरूप है श्रीजिनेंद्र ऐसा कहते हैं ॥

अत्थिणउप्पजउ जर मरण,रोयवि लिंगवि वण्ण ।
णियमें अप्पु वियाणि तुहुं, जीवह एक्कुवि सण्ण ॥ ६९ ॥
देहहि उप्पजउ जर मरण, देहहि वण्ण विचित्त ।
देहहिं रोय वियाण तुहुं, देहहिं लिंग विचित्त ॥ ७० ॥

निश्चय नयसे पैदाहोना, जरा अर्थात् बुढ़ापा, मरना, रोग, लिंग अर्थात स्त्रीरूप वा पुरुषरूपहोना, और वर्ण आदिक जीवमें नहीं है यह सब बातें देहही में हैं देहही उत्पन्न होताहै देहही बूढा होता है देहहीका मरण होताहै देहहीमें विचित्ररंगहैं देहही में रोगहै देहही में स्त्री पुरुष आदिक लिंग हैं ॥

देहहि पिक्खवि जर मरण, मा भउ जीवकरोहि ।
जोअजरामरु बंभुपरु, सो अप्पाणु मुणेहि ॥ ७१ ॥
छिज्जउ भिज्जउ जाउखउ, जोइय एहु सरीर ।

अप्पा भावहि णिम्मलउ, जं पावहि भवतीर ॥ ७२ ॥

हे जीव तू देहमें बुढ़ापा और मरना देखकर भय मतकर अजर अमर जो परब्रह्म है उसही को तू अपनी आत्माजान-चाहे शरीर का छेदहो भेदहो वा क्षयहो अर्थात् शरीर चाहे कटे टूटे वा नाश होजावे तू उसकी तरफ कुछ ध्यान मत दे तू तो अपनी शुद्धआत्मा का अनुभवकर जिससे तू संसार समुद्र से पार होजावै ॥

कम्मह केरउ भावडउ, अण्णु अचेयण दव्व ।
जीव सहावहिं भिण्णुजिय, णियमें बुज्झहि सव्व ॥ ७३ ॥

अशुद्ध चेतनारूप कर्मों से उत्पन्न हुवे राग द्वेष आदिक भाव और शरीर आदिक अचेतन द्रव्य यह सब शुद्ध आत्मा से भिन्नहैं यह बात सब जानते हैं ॥

अप्पा मिल्लिवि णाणमउ,अण्ण परायउ भाउ ।
से छंडेविणु जीव तुहुं, भावहि अप्प सहाउ ॥ ७४ ॥

ज्ञानमई जो आत्मा है उससे जो भिन्नभाव हैं उन सबको छोड़ कर तू अपनी शुद्ध आत्माका अनुभव कर ॥

अट्ठहिं कम्महिं वाहिरउ, सयलहिं दोसहंचत्तु ।
दंसण णाण चरित्तमउ, अप्पा भावि णिरुत्त ॥ ७५ ॥

आठ कर्म और १८ दोषोंसे रहित यह जीव दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूपहै तू ऐसा अनुभव कर ॥

अप्पइ अप्पु मुणउ जिउ, सम्मा दिट्ठि हवेइ ।
सम्मादिट्ठिउ जीवडउ, लहु कम्मइ मुचेइ ॥ ७६ ॥

जो जीव आत्मा को आत्मा मानता है वह सम्यक्दृष्टि है सम्यक्दृष्टि ही कर्म्मों के बन्धन से छूटता है ॥

पज्जय रत्तउ जीवडउ, मिच्छादिट्ठि हवेइ ।
वंधइ वहुविह कम्मडा, जिणि संसारु भमेइ ॥ ७७ ॥

जो जीवपर्याय में रागी होकर पर्वर्त्ता है वह मिथ्यादृष्टि है वह ही नानाप्रकारके कर्मों का वंधकरके संसार में रुलता फिरता है ॥

कम्मइ दिढ घण चिक्कणइ, गुरुयं मेरु समाइ ।
णाण वियक्खणु जीवडउ, उप्पहि पाडहिताइ ॥ ७८ ॥

कर्म बहुत ज़ोरावर और चिकने हैं मेरुकी समान बड़े हैं कर्म

ही ज्ञानवान् जीवात्मा को कुमार्ग में डालते हैं ॥

जिउ मित्थते परिणमिउ विवरिउ तच्चु मुणेइ ।
कम्मवि णिम्मिय भावडा, ते अप्पाणु भणेइ ॥ ७९ ॥

मिथ्यात्वरूप परिणमताहुवा जीव तत्वों को अन्यथारूप जानता है और कर्मों के द्वारा उत्पन्नहुवे भावको ही आपा मानताहै॥

हउं गोरउ हउं सांवलउ, हउंजि विभिण्णउ वण्णु ।
हउं तणु अंगउ थूल हउं, एहउ मूढउ मण्णु ॥ ८० ॥
हउं वरु बंभणु वइसु हउं, हउं खत्तिउ हउं सेसु ।
पुरिसु णउंसउ इत्थिहउं, मुणणइ मूढ विसेसु ॥ ८१ ॥
तरुणउ बूढउ रूवडउ, सूरउ पंडिउ दिव्वु ।
खवणउ वंदउ सेवडउ, मूढउ मण्णइ सव्वु ॥ ८२ ॥

मैं गोराहूं मैं सांवलाहूं वा नाना प्रकारके वर्णवालाहूं मैं मोटाहूं मैं पतलाहूं इत्यादिक जिनके परिणामहैं उनको मिथ्यादृष्टि जानना॥ मैं ब्राह्मण हूं मैं वैश्यहूं मैं क्षत्रीहूं अथवा शूद्र आदिकहूं मैं पुरुष हूं वास्त्रीहूं वा नपुंसक हूं यह परिणाम मिथ्यादृष्टि के होतेहैं ॥ मैं जवानहूं मैं बूढाहूं मैं रूपवानहूं मैं सूर्माहूं मैं पण्डितहूं मैं उत्तमहूं मैं दिगम्बरहूं बौधगुरुहूं वा श्वेताम्बर साधूहूं जिनके ऐसे परिणामहैं वह मिथ्यादृष्टिजानने ॥

जणणी जणणुवि कंत घरु, पुत्तुवि मित्तुवि दव्व ।
माया जालुवि अप्पणउ, मूढउ मण्णइ सव्व ॥ ८३ ॥

माता पिता पति स्त्री पुत्र मित्र धनदौलत यह सब माया जालहैं इन सबको मिथ्यादृष्टि जीव अपने मानताहै ॥

दुक्खहि कारणु जे विसय, ते सुह हेउ रमेइ ॥
मिच्छादिट्ठी जीवडउ, एत्थु न काइं करेइ ॥ ८४ ॥

इन्द्रियों के विषय जो दुःखके कारणहैं मिथ्यादृष्टि उनही को सुखका कारण जानकर उनमें रमताहै तो वह अन्य कौनसा अकारज न करैगा ॥

कालु लहेविणु जोइया, जिम जिम मोह गलेइ ।
तिम तिम दंसणु लहइ जिउ, णियमे अप्पु मुणेइ ॥ ८५ ॥

काल लब्धिकोपाकर ज्यों ज्यों साधुके मोहका नाशहोता है त्यों

त्यों इस जीवको शुद्धआत्मरूप सम्यक् दर्शनकी प्राप्तिहोतीहै और निश्चयरूप आत्मा का वर्णन करने लगताहै ॥

अप्पा गोरउ किण्हुणवि, अप्पा रत्तुणहोइ ।
अप्पा सुहुमुवि थूलुणवि, णाणिउ णाणं जोइ ॥ ८६ ॥

आत्मा न गोरा है न कालाहै न सूक्ष्महै न स्थूलहै आत्मा ज्ञानस्वरूप है यहबात ज्ञानीही जानताहै ॥

अप्पा बंभणु वइसु णवि,णवि खत्तिउ णवि सेसु ।
पुरिसु णउंसउ इत्थिणवि, णाणिउ मुणइ असेसु ॥ ८७ ॥

आत्मा न ब्राह्मण है न वैश्यहै न क्षत्रीहै न शूद्रहै न पुरुषहै न स्त्री है न नपुंसक है आत्मा ज्ञानस्वरूपहीहै और ज्ञान से सब कुछ जानताहै ॥

अप्पा वंदउ खवणु णवि, अप्पा गुरउ णहोइ ।
अप्पा लिंगिउ एक्कु णवि,णाणिउ जाणइ जोइ ॥ ८८ ॥

आत्मा यति गुरु सन्यासी उदासी दंडीआदिक भेषधारी भी नहीं है आत्मा ज्ञानस्वरूपहीहै ज्ञानीही आत्मा को पहचानताहै॥

अप्पा गुरु णवि सिस्सु णवि, णवि सामिउ णवि भिच्चु ।
सूरउ कायरु होइ णवि, णवि उत्तम णवि णिच्चु ॥ ८९ ॥

आत्मा न गुरुहै न शिष्य है न राजा है न रंकहै न शूरवीर है न कायर है न उच्च है न नीच है आत्मा ज्ञानस्वरूप है उस को ज्ञानी ही जानता है ॥

अप्पा माणुस देउ णवि, अप्पा तिरिउ ण होइ ।
अप्पा नारउ कहवि णवि, णाणिउ जाणइजोइ॥ ९० ॥

आत्मा न मनुष्य है न देव है न तिर्यंच है न नारकी है आत्मा ज्ञानस्वरूप है उसको ज्ञानी ही जानता है ॥

अप्पा पंडिउ मुक्खु णवि, णवि ईसरु णवि णीसु ।
तरुणउबूढउ बालु णवि, अण्णुवि कम्म विसेसु ॥९१॥

आत्मा न पण्डितहै न मूर्ख है न विभूतिवान है न दरिद्री है न बूढा है न बालक है न जवान है यह सर्व प्रकारकी अवस्था कर्मों ही से उत्पन्न होती हैं ॥

पुण्णावि पाउवि कालु णहु, धम्माहम्म विकाउ ।
एक्कुवि अप्पा होइ णवि, मिल्लिवि चेयण भाउ ॥ ९१ ॥

आत्मा न पुण्य पदार्थ है न पाप पदार्थ है आत्माकाल द्रव्यभी नहीं है आकाश भी नहीं है धर्म वा अधर्म द्रव्य भी नहीं है शरीर आदिक पुद्गल द्रव्यभी नहीं है आत्मा चैतन्यस्वरूप है और अपने चेतनास्वभाव को छोड़कर अन्य नहीं होताहै ॥

अप्पा संजम सीलतउ, अप्पा दंसण णाण ।
अप्पा सासय सुक्ख पउ, जाणंतउ अप्पाण ॥ ९३ ॥

आत्मा संयम, शील, तप, दर्शन, ज्ञानरूप है और अविनाशी मोक्षस्वरूप है आत्माही आत्माको जानता है ॥

अण्णुजि दंसण अत्थिणवि, अण्णुजि अत्थि ण णाण ।
अण्णुजि चरणु ण अत्थिजिय, मिल्लवि अप्पा जाण ॥ ९४ ॥

हे जीव ! आत्मा से भिन्न अन्य कोई दर्शन, ज्ञान और चरित्र नहीं है रत्नत्रय के समूहको ही आत्मा जान ॥

अण्णुजि तित्थ म जाहि जिय, अण्णुजि गुरउ म सेव ।
अण्णुजि देव म चिंत तुहुं अप्पा विमल मुणवि ॥ ९५ ॥

हे जीव शुद्ध आत्मा से भिन्न अन्य कोई तीर्थ मत मान कोई गुरु मत सेव और कोई देव मत जान तू निर्मल आत्मा को ही अनुभव कर ॥

अप्पा दंसणु केवलुवि, अण्णु सव्व ववहारु ।
एक्कुजि जोइय झाइयइ, जोतियलोकहिं सारु ॥ ९६ ॥

आत्मा एकमात्र (खालिस) सम्यग्दर्शनस्वरूप है तीन लोक में सारभूत पदार्थ जो आत्मा है वहही ध्यावने योग्य है ॥ अन्य सब व्यवहार है अर्थात् आत्मध्यानके सिवाय धर्म के अन्यसब साधन व्यवहार रूपहीहैं ॥

अप्पा झायहि णिम्मलउ, किं बहुएं अण्णेण ।
जो झायंतहिं परमपउ, लब्भइ एक्कु खणेण ॥ ९७ ॥

तू अपनी निर्मल आत्माका ध्यानकर जिसके ध्यानमें एक अन्तर मुहूर्त स्थिर होनेसे मुक्ति प्राप्त होजातीहै अन्य बहुत प्रकार के साधनों से क्याकाम ॥

अप्पा णियमणि णिम्मलउ, णिय में वसइ ण जासु ।
सत्थ पुराणइ तवयरण, मुक्खुजि करहिं कितासु । ९८ ॥

जिसके मनमें निर्मल अपना आत्मा नहीं वसताहै उसको शास्त्र पुराण और तपश्चरण मोक्ष नहीं देसक्ते हैं ॥

जोइय अप्पे जाणिएण, जग जाणिय हवेइ ।
अप्पहिं केरइ भावडइ, बिंबिउ जेण वसेइ ॥ ९९ ॥

हे योगी अर्थात् हे साधु जो आत्मा को जानता है वह सब कुछ जानता है क्योंकि आत्मा के ज्ञान में समस्त जगत् झलकरहा है॥

अप्प सहावि परिट्ठियहिं, एहउ होइ विसेस ।
दीसइ अप्प सहावि लहु, लोया लोय असेस ॥ १०० ॥

जो जीव आत्मस्वभाव में तिष्ठता है अर्थात् लीनहै उस को शीघ्रही आत्मा दिखाई देजाता है अर्थात् केवल ज्ञान प्राप्त होजाता है और लोकालोक दिखाई देने लगता है ॥

अप्प पयासइ अप्पु परु, जिम अंबर रवि राउ ।
जोइय एत्थुम भंति करि, एहउ वत्थु सहाउ ॥ १०१ ॥

जैसे आकाश में सूरज आपको और पर पदार्थों को प्रकाश करता है इसही प्रकार आत्माभी अपने आपको और लोकालोक को देखताहै इसमें संशय मतकर यह वस्तुस्वभाव है ॥

तारायणु जलि बिंबियउ, णिम्मलि दीसइ जेम ।
अप्पइ णिम्मलि बिंबियउ, लोयालोउवि तेम ॥ १०२ ॥

जैसे निर्मल जलमें तारे प्रतिबिंबित होतेहैं ऐसेही आत्मा के निर्मल स्वभाव में लोकालोक प्रतिबिंबित होते हैं ॥

अप्पुवि परुवि वियाणियइं, जं अप्पें मुणिएण ।
सो णिय अप्पा जाणितुहुं, जोइय णाण बलेण ॥ १०३ ॥

जिस आत्मा के जानने से अपने आप को और अन्य सर्व पदार्थों को जान सकते हैं उस ही शुद्ध आत्मा को तू अपने ज्ञान के बल से जान ॥

णाणु पयासहि परम मुहुं, किं अण्णे बहुएण ।
जेण णियप्पा जाणियइ, सामिय एक्क खणेण ॥ १०४ ॥

(प्रश्न) हे स्वामी मुझको वह ज्ञान बताओ जिस ज्ञानसे एक क्षणमें शुद्ध आत्माको जान जावैं और जिस ज्ञानके सिवाय और कोई वस्तु कार्यकारी नहीं है ॥

अप्पा णाण मुणेहि तुहुं, जो जाणइ अप्पाण ।
जीव पएसहि तेत्तडउ, णाणिणयणपमाण ॥१०५॥

(उत्तर) आत्मा को तू ज्ञानमईमान वह आत्मा आपही अपने आपको जानता है निश्चय नयसे अर्थात् असलियत में उस आत्मा के प्रदेश लोक के बराबर हैं और व्यवहार में शरीर के बराबर हैं और ज्ञानकी अपेक्षा लोकालोकके बराबर हैं ॥

अप्पहिं जेवि विभिण्ण बढ़, तेजिहविं ण णाण ।
ते तुहुं तिण्णवि परिहरिवि, णियमें अप्पुवियाण ॥ १०६ ॥

आत्मासे भिन्न जो पदार्थ हैं वह ज्ञान नही हैं अर्थात् उनमें ज्ञान नहीं है इस कारण तू सर्व पदार्थों को छोड़कर निश्चयके साथ आत्मा ही को जान ॥

अप्पा णाणहिं गम्मु पर, णाण वियाणइ जेण ।
तिण्णवि मिल्लिवि जाणि तुहुं, अप्पा णाणे तेण ॥ १०७ ॥

आत्माज्ञान में आने योग्य है ज्ञानसेही आत्माजानी जातीहै इस कारण तू और सब बात छोड़कर आत्माको ज्ञानके द्वाराजान ॥

णाणिय णाणिउं णाणएण, णाणिउ जा ण मुणेहि ।
ता अण्णाणें णाणमउ किं, परबंभु लहेहि ॥ १०८ ॥

ज्ञानीजीव जितने काल तक ज्ञानमई आत्माको नहीं जानता है उतने कालतक अज्ञानीहुवा परब्रह्मको नहीं पाता है अर्थात् जब तक रागद्वेष में फंसारहता है तब तक परमब्रह्म अर्थात् परमात्मा को नहीं पाता है ॥

जो इज्जइ तिम बंभुपरु, जाणिज्जइ तम सोइ ।
बंभु मुणेविणु जेणलहु, गम्मिज्जइ परलोइ ॥ १०९ ॥

आत्मा के जानने से परलोक सम्बन्धी परमात्मा जानाजाताहै वहही परमब्रह्म है आत्माही के देखने और जाननेसे वह देखाजाना जाताहै—भावार्थ आत्माही परमब्रह्म परमात्मा है ॥

मुणिवर विंदहिंहरिहरहिं, जो मण णिवसइ देव ।
परहंजि परतरु णाणमउ, सो वुच्चइ परलोउ ॥ ११० ॥

मुनीश्वर और हरिहरादिकके मनमें जो देव बसताहै वह उत्कृष्टहै ज्ञानमई है उसही को परलोक कहतेहैं ॥

सो पर वुच्चइ लोउपर, जसु मइ तित्थव सेइ ।
जहिं मइ तहिं गइ जीवहवि, णियमेंजेण हवेइ ॥ १११ ॥

जिसके मनमें वह बसताहै जिसको परलोक कहते हैं अर्थात् शुद्ध आत्मा, भावार्थ-परमात्मा का जिसको ध्यान है वह अवश्य परमात्म पदको प्राप्त होगा-क्यूंकि जैसी मति वैसीही गति॥

जहिं मइ तहिं गइ जीव तुहुं, मरणवि जेण लहेहि ।
तें परबंभु मुएवि मइ, मा पर दव्वि करेहि ॥ ११२ ॥

जैसे तेरी बुद्धि है मरकर तैसी ही गतिको तू प्राप्त होगा इस कारण परमब्रह्म से बुद्धि को हटाकर अन्य किसी द्रव्य में अपनी बुद्धि को मत लगा-अर्थात् अन्य सर्व पदार्थों से रागद्वेष को छोड़ कर शुद्ध आत्मा का ध्यानकर ॥

जोणिय दव्वहिं भिण्णु जडु, तें परदव्व वियाणि ।
पोग्गल धम्मअहम्म णहु, कालवि पंचमु जाणि ॥ ११३ ॥

जो आत्मा से पर पदार्थ हैं अचेतन हैं उनही को तू परद्रव्य जान, वह पांच हैं पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल ॥

जइणवि सद्धुवि कुवि करइ, परमप्पइ अणुराउ ।
अग्गि कणी जिम कट्ठगिरि, डहइ असेसुविपाउ॥ ११४ ॥

जो कोई सम्यक् दृष्टि एक क्षण अर्थात् बहुत थोड़े काल भी आत्मा में अनुराग करता है लीन होता है वह बहुत कर्मों का नाश करता है जैसे अग्नि का एक कण ईंधन के बहुत बड़े समूह को शीघ्रही भस्म करदेता है ॥

मेल्लिवि सयल अवक्खडी, जिय णिच्चिंतिउ होइ ।
चित्तु णिवेसिवि परमपइ, देउ णिरंजणु जोइ ॥ ११५ ॥

हे जीव तू समस्त बखेड़ा अर्थात् चिंता को त्यागकर निश्चिंत हो जा और मन को परमात्मस्वरूप में लगाकर निरंजन देव अर्थात् शुद्ध निर्मल आत्मा को देख ॥

जं सिव दंसणि परम सुहु, पावहिं झाणु करंतु ।
तं सुहु भुवणिवि अत्थिणवि, मेल्लिवि देउ अणंतु॥ ११६ ॥

अनन्त देवोंको छोड़कर ध्यान के द्वारा शिव अर्थात् परम आत्मा को देखने से जो परम आनन्द प्राप्त होता है वह आनन्द तीन लोक में अन्य कहीं भी नहीं है ॥

जं मुणि लहइ अणंतु सुहु, णिय अप्पा झायंतु ।
तं सुहु इंदुवि णवि लहइ, देविहिं कोडि रमंतु ॥ ११७ ॥

अपनी शुद्ध आत्मा के ध्यानसे जो आनन्द साधु को मिलता है वह आनन्द इन्द्रको भी प्राप्त नहींहै जो करोड़ों देवांगनाओं से रमता है ॥

अप्पा दंसण जिणवरहिं, जं सुहु होइ अणंतु ।
तं सुहु लहइ विराउ जिउ, जा णंतउ सिउसंत ॥ ११८ ॥

अपनी निज आत्मा के देखने से जो अनंत सुख श्री जिनेंद्र को होताहै वही सुख वीतरागी पुरुष शिवसंत अर्थात अपनी शुद्धआत्माके अनुभव से पाताहै ॥

जो इय णियमणि णिम्मलइ, परदीसइ सिवसंत ।
अंबर णिम्मल घण रहिए, भाणुजि जेम फुरंत ॥ ११९ ॥

शुद्ध निर्मल मनमेंही शिव संत अर्थात् शुद्ध आत्मा नज़रआताहै जैसे बादलों से रहित साफ़ आकाश में ही सूरज का प्रकाश प्रकट होताहै ॥

राएं रंगिए हियवडइ, देउ ण दीसइ संतु ।
दप्पणि मइलइ विंबु जिम, एहउजाणि णिभंतु॥ १२० ॥

जिसका मन राग अर्थात् मोह में रंगा हुवाहै उसको संतदेव अर्थात् परमात्मा नजर नहीं आताहै जैसे मैले दर्पण में प्रतिविम्बनहीं पड़ताहै—हे शिष्य तू ऐसा जान इसमें संदेह नहीं है ॥

जसु हरिणच्छी हियवडइ, तसुणवि बंभुवियारि ।
एक्कहिं केम समंति वढ, वेखंडा परियारि ॥ १२१ ॥

जिसके मनमें स्त्री बसती है उसके मनमें ब्रह्मअर्थात् शुद्धपरमात्मा नहीं बसताहै क्यूंकि एक मयानमें दो तलवार नहीं समासक्तीहैं

णिय मणि णिम्मलि णाणियंह,णिवसइ देउ अणाइ ।
हंसा सरवर लीण जिम, महु एहउ पडिहाइ ॥ १२२ ॥

ज्ञानी जीवके निर्मल मनमें अनादि अनन्त देव निवास करता

है जैसे हंस पक्षी सरोवर में निवास करता है हे शिष्य हमको यहही बात सूझतीहै ॥

देउ ण देवलि णवि सिलइ, णवि लिप्पइ णवि चित्त ।
अखउ णिरंजण णाणमउ, सिउ संठिउ समचित्त ॥ १२३ ॥

देव अर्थात् परमात्मा जो अविनाशी है कर्मों से रहित है और ज्ञानमई है वह देवालय अर्थात् मन्दिर में नहींहै पाषाणकी प्रतिमा में नहीं है पुस्तक में नहीं है और चित्राम में नहींहै वह समभाव रूप मन में बसता है ॥

मणु मिलियउ परमेसरहिं, परमेसरुवि मणस्स ।
बीहिमि समरस हूयाहिं, पुज्ज चडावउं कस्स ॥ १२४ ॥

मन परमेश्वर से मिलगया और परमेश्वर मनसे मिलगय अर्थात् दोनों एक होगये अब पूजा किसकी करिये ॥

जेण णिरंजण मणु धरिउ, विसय कसायहिं जंतु ।
मोक्खहिं कारणु एत्तडउ, अण्णु ण तंतु ण मंतु ॥ १२५ ॥

जिसने मन को विषय कषाय से रोककर परम निरंजन अर्थात् शुद्ध आत्मा में लगाया है वह ही मोक्षके मार्गपर है क्यूंकि मंत्र तंत्र आदिक अन्य कोई भी उपाय मोक्षमार्ग नहीं है ॥

सिरिगुरु अक्खहि मोक्ख महुं, मोक्खहि कारण तत्थ ।
मोक्खहिं केरउ अण्णु फल, जिम जाणउं परमत्थ ॥ १२६ ॥

हे गुरु मुझको मोक्ष मोक्ष का मार्ग और मोक्षका फल बताओ जिससे मैं परमार्थको जानूं ॥

जोइया मोक्खुवि मोक्ख फल, पुच्छहु मोक्खहिं हेउ ।
सो जिणभासिउ णिसुणि तुहुं, जेण वियाणहिं भेउ ॥ १२७ ॥

हे शिष्य तू मोक्ष, मोक्ष का फल,और मोक्षका कारण पूछता है सो हम जिन वाणीके अनुसार कहतेहैं तू निश्चल होकर सुन॥

धम्महिं अत्थहिं कामहिं, एयहं सयलहं मोक्खु ।
उत्तमु पभणहिं णाणि जिय, अण्णे जेण ण सोक्खु ॥ १२८ ॥

धर्म, अर्थ और काम इनतीनोंमे ज्ञान के पक्षमे मोक्ष उत्तमहै क्यूंकि इन तीनोंमें ज्ञानका आनन्द नहींहै, भावार्थ-धर्म अर्थ काम और मोक्ष यह चार पुरुषार्थ जगत्‌में प्रसिद्ध हैं परन्तु ज्ञान का परम

आनन्द मोक्षहीमें है इस हेतु इन सब में मोक्षही सबसे उत्तम ॥

जइ जिय उत्तमु होइ णवि, एयहं सयलहं सोइ।
तो किं तिण्णवि परिहरिवि, जि वच्चहिं परलोइ॥ १२९॥

यदि मोक्ष उत्तम नहोता तो धर्म अर्थ और कामको छोड़कर श्रीतीर्थंकर भगवान् परलोक में क्यूं ठहरते ॥

उत्तमु सोक्खु ण देइ जइ, उत्तमु मोक्खु ण होइ।
ता किं इच्छहिं बंधणहिं, बद्धा पसुयवि सोइ॥ १३०॥

यदि मोक्ष में उत्तम सुख नहोता तो मोक्ष उत्तम क्यूं कहाजाता जो मोक्ष अर्थात् छूटना उत्तम नहोता तो पशुजो बंधन में बंधे रहते हैं वह क्यूं छूटना चाहते ॥

अणुजि जगहजि अहियरु, गुणगणु तासु ण होइ।
तो तइलोउवि किं धरइ, णियसिर उप्परि सोइ॥ १३१॥

जो मोक्ष में जगत् से अति विशेष गुण नहोते तो तीन लोक मोक्षको अपने सिरपर क्यूं धरता अर्थात् लोक शिखरपर मोक्ष स्थान इसही हेतु है कि उसमें तीनलोकसे अधिकगुण हैं ॥

उत्तमु सोक्खु ण दइ जइ, उत्तमु मोक्खु ण होइ।
ता किं सयलुवि कालु जिय, सिद्धवि सेवहिं सोइ॥ १३२॥

यादि मोक्षमें अति उत्तम सुख नहोता तो सिद्ध भगवान् सदा काल मोक्ष में क्यूं रहते ॥

हरिहर बंभवि जिणवरावि, मुनिवरविंदावि भव्व।
परमणिरंजणि मणु धरिवि, मोक्खु जि जायहिं सव्व॥ १३३॥

हरिहर, ब्रह्मा, जिनेश्वर और सर्व मुनि और भव्य पुरुषों ने परम निरंजन परमात्माको मन में धारण करके मोक्षकाही साधन किया है ॥

तिहुवणि जीवहिं अत्थि णवि, सोक्खहिं कारण कोइ।
मुक्खु मुएवि ण एक्कु पर, तेणवि चिंतहिं सोइ॥ १३४॥

सब जीव मोक्ष को इस कारण चाहते हैं कि तीनलोक में सिवाय मोक्ष के और कोई सुखका कारण ही नहीं है ॥

जीवहिं सो पर मोक्खु मुणि, जो परमप्पय लाहु।
कम्म कलंक विमुक्काहं, णाणिय बोल्लहिं साहु॥ १३५॥

कर्म कलंक से रहित होकर परमात्मा स्वरूपकी प्राप्ति को ही ज्ञानी लोग मोक्ष कहतेहैं ऐसा तू जान ॥

दंसण णाण अनन्त सुहु, समउ ण तुट्टइ जासु ।
सो परसासउ मोक्ख फलु, विज्जउ अत्थिण तासु ॥ १३६ ॥

केवल दर्शन केवल ज्ञान अनन्त सुख अनन्त वीर्य आदिक परम गुण मोक्षके फलहैं और यह फल कभी अलग नहीं होतेहैं अर्थात् नित्य रहतेहैं और इनके सिवाय और कोई फलनहींहै ॥

जीवहिं मोक्खहिं हेउ वरु, दंसण णाण चरित्तु ।
ते पुण तिण्णवि अप्पु मुणि, णिच्छइ एहउ वुत्तु ॥ १३७ ॥

व्यवहार में सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान सम्यक् चारित्र यहतीन मोक्षके कारणहैं और निश्चय में शुद्ध आत्माही मोक्षका कारणहै ॥

पिच्छइ जाणइ अणुचरइ, अप्पें अप्पउ जोजि ।
दंसण णाण चरित्त जिउ, मोक्खहिं कारण सोजि ॥ १३८ ॥

जीव आपही अपनी आत्मा को देखताहै जानताहै और अनुभवन करताहै इस हेतु एक आत्माही जो दर्शन ज्ञान और चारित्र रूपहै मोक्षका कारणहै ॥

जं बोलइ ववहारु णउ, दंसण णाण चरित्तु ।
तं परिमाणहिं जीव तुहुं, जें परु होहि पवित्त ॥ १३९ ॥

व्यवहार नयका यह कथनहै कि सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र इनतीनों को तू अच्छी तरह जान जिससे तू पवित्र होजावै ॥

दव्वइँ जाणइँ जहं ठियइँ, तहिं जगि मण्णइ जोजि ।
अप्पहिं केरउ भावडउ, अविचलु दंसणु सोजि ॥ १४० ॥

जिस प्रकार जगत् में द्रव्यस्थिते हैं उनको उसही प्रकार यथावत् जान कर अपनी शुद्ध आत्मा में निश्चल स्थिति होना सम्यक् दर्शनहै ॥

दव्वइँ जाणइ ताइ छह, तिहुयणु भरियउ जेहिं ।
आइ विणासवि विज्जियहिं, णाणिहिं पभणिय एहिं ॥ १४१ ॥

द्रव्य जो तीन लोक में भरे हुवेहैं वह छै ६ हैंउनका आदि और

अन्त अर्थात् उत्पत्ति और बिनाश नहींहै-ज्ञानी पुरुषोंने ऐसा कहाहै

जीव सचेयण दव्वु मुणि, पंच अचेयण अण्ण ।
पोग्गलु धम्माहम्मु णहु, कालिं सहिया भिण्ण ॥ १४२ ॥

एक जीव द्रव्य चेतनहै और पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह पांच द्रव्य अचेतनहैं यह सब द्रव्य भिन्न भिन्नहैं ॥

मुत्तिविहीणउ णाणमउ, परमाणंद सहाउ ।
णियमें जोइय अप्पु मुणि, णिच्चु णिरंजण भाउ॥ १४३ ॥

अमूर्तीकहै ज्ञानमईहै परमानन्द स्वरूपहै आत्मा अर्थात् जीव को तू ऐसा जान वह अविनाशी और निरंजनहै ॥

पुग्गल छव्विहु मुत्तवउ, इयर अमुत्त वियाणि ।
धम्माधम्मुवि गइ ठिएहिं, कारणु पभणहिं णाणि॥ १४४ ॥

पुद्गल छै प्रकारकाहै और मूर्तीकहै-पुद्गल के सिवाय अन्य पांच द्रव्य अमूर्तीकहैं अर्थात् एक पुद्गल ही मूर्तीकहै-औरधर्म द्रव्य चलने को सहकारीहै और अधर्म द्रव्य ठहरने को सहकारी है-ऐसा सर्वज्ञ देवने कहाहै ॥

दव्वइं सयलइं वरिठियइं, णियमें जासु वसंति ।
तं णह दव्व वियाणि तुहुं, जिणवर एउ भणंति ॥ १४५ ॥

जिसके पेट में सब द्रव्य बसतेहैं अर्थात् सर्व पदार्थों को अवकाश अर्थात् ठिकाना देताहै उसको तू आकाश जान श्रीजिनेंद्रदेवने ऐसा कहाहै ॥

कालु मुणिज्जहि दव्वु तुहुं, वट्टण लक्खण एउ ।
रयणहिं रासि विभिण्ण जिम, तसु अणुयाहिं तिहिं भेउ ॥ १४६ ॥

तू काल द्रव्य उसको जान जिसका वर्तना लक्षणहै अर्थात्सर्व पदार्थों के परिणमनको जो सहकारी कारणहै काल के अणु भिन्न २ हैंजैसे रत्नों के ढेर में रत्न भिन्न२ रहते हैं आपसमें जुड़ते नहींहैं॥

जीउवि पुग्गलु कालु जिय, एमिल्लेविणु दव्व ।
इयर अखंड वियाणि तुहुं, अप्प पएसहिं सव्व ॥ १४७ ॥

जीव पुद्गल और काल इन तीनों के सिवाय जो द्रव्यहैं अर्थात् धर्म अधर्म और आकाश यह तीनों एक एक और अखंडित द्रव्यहैं

भावार्थ–जीव भी बहुत हैं और ईंट पत्थर लोहा लकड़ी आदिक पुद्गल भी बहुत हैं और कालके भी अणु बहुत हैं परन्तु आकाश एकही है और उसके टुकड़े भी नहीं होसक्ते हैं ऐसेही धर्मद्रव्य भी एकही है और अधर्मद्रव्यभी एकही है और इनके टुकड़े भी नहीं होसक्ते हैं ॥

दव्व चयारिवि इयर जिय, गमणागमण विहीण ।
जीउवि पुग्गलु परिहरिवि, प भणहिं णाणि पवीण ॥ १४८ ॥

जीव और पुद्गल के सिवाय जो चार द्रव्यहैं अर्थात् धर्म अधर्म आकाश और काल इनचारोंमें हिलना चिलना अर्थात् क्रिया नहीं है ज्ञानवान् पुरुषोंने ऐसा कहाहै ॥

धम्माहम्मुवि एक्कु जियउ, एजि असंख पएस ।
गयणु अणंत पएसु मुणि, बहुविहि पुग्गल देस ॥ १४९ ॥

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य यह दोनों असंख्यात प्रदेशी हैं और एक एक जीव असंख्यात प्रदेशी है आकाश अनन्त प्रदेशी है पुद्गल बहुत भांतिहै और कालका एक एक अणु एकप्रदेशी है ॥

लोयायासु धरेवि जिय, कहियइं दव्वइं जाइं ।
एक्कहिं मिलयइं एत्थ जगि, सगुणहि णिवसहिं ताइं॥ १५० ॥

पांचों द्रव्य लोकाकाश के अन्दर हैं और आकाश द्रव्यलोक के अन्दरभी है और लोकके बाहरभी है–अर्थात् छहों द्रव्य एक ही स्थान में रहते हैं परन्तु कोईभी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यसे मिल कर दूसरे द्रव्यरूप नहीं होजाताहै सब द्रव्य अपने २ ही गुणों में ठहरे रहते हैं ॥

एयइं दव्वइं देहियहिं, णिय णिय कज्जु जणंति ।
चउगइ दुक्ख सहंति जिय, तें संसारु भमंति ॥ १५१ ॥

जीव से पृथक् जो पांच द्रव्य हैं वह अपने २ गुणके अनुसार अपना अपना कारज करते हैं इनहींके उपकार को मानकर जीव चतुर्गति रूप संसार के दुःखों को भोगता हुवा भ्रमतारहताहै ॥

दुक्खहि कारण मुणि वि जिय, दव्वहिं एउ सहाउ ।
होइवि मोक्खहिं मग्गिलहु, गमिज्जइ परलोउ ॥ १५२ ॥

हे जीव तू इन पांचोंही द्रव्यों को दुःखका कारण जान और

इनको छोड़कर मोक्षमार्ग को ग्रहणकर जिससे मोक्षकी प्राप्तिहो॥

णियमें कहिया एह मइं, ववहारे ण विदिट्ठि।
एवहि णाणु चरित्तु सुणि, जं पावहि परमेट्ठि॥ १५३॥

व्यवहार नयसे मैंने सम्यक् दृष्टिका स्वरूप कहाहै इसही प्रकार सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र का स्वरूप सुन जिस से तू परमेष्ठी को पावै॥

जंजह थक्कहु दव्व जिय, तं तहिं जाणइ जोजि।
अप्पहिं करउ भावडउ, णाणु मुणिज्जहु सोजि॥ १५४॥

जो द्रव्यों को जैसे वहहैं तैसाही जानताहै और आत्माको पहचानता है वह सम्यक् ज्ञानीहै॥

जाणिवि मण्णिवि अप्पु परू, जो परभाउ चएइ।
सो णिय सुद्धउ भावडउ, णाणिहिं चरणु हवेइ॥ १५५॥

जो आपको और परको जानकर और मानकर परभाव से बचताहै वहही अपनी शुद्ध आत्मा में स्थिर होताहै जानों कि उसको सम्यक् चारित्र है॥

जो भत्तउ रयणत्तयहं, तसु मुणि लक्खणु एउ।
अप्पा मिल्लिवि गुण णिलउ, अण्णु ण झियवइ देउ॥ १५६॥

जो रत्नत्रय अर्थात् सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की सेवा करताहै उसके लक्षण तू इस प्रकार जान कि अनेकगुण मंडित जो एक शुद्ध आत्माहै उसके सिवाय अन्य किसी पदार्थ का वह ध्यान नहीं करताहै॥

जो रयणत्तउ णिम्मलउ, णाणिय अप्पु भणंति।
ते आराहय सिव पयहिं, णिय अप्पा झायंति॥ १५७॥

जो कोई आत्मा को अभेद रत्नत्रय स्वरूप निर्मल ज्ञानमई कहताहै वह पुरुष शिवपद अर्थात् मोक्षका आराधक होकर अपनी शुद्ध आत्माही को ध्यावै है॥

अप्पा गुणमउ णिम्मलउ, अणुदिणु जे झायंति।
ते परणिय मे परम मुणि, लहु णिव्वाणु लहंति॥ १५८॥

जो अपनी गुणमई और निर्मल आत्मा को अनुभव करके ध्यान करतेहैं वे महामुनि अवश्य थोड़े ही काल में मोक्षपद को प्राप्त होतेहैं॥

सयलहिं अत्थिहि जं गहगु, जीवहिं अग्गिमु होइ ।
वत्थुवि सेसुवि वज्जियउ, तं गिय दंसग जोइ ॥ १५९ ॥

विशेष अर्थात् भेदाभेद रूप जानने को छोड़कर जो सर्व वस्तुका सत्तामात्र जानना जीवको सबसे प्रथम होताहै वह दर्शनहै॥

दंसग पुव्व हवेइ फुडु, जं जीवहिं विगणाग ।
वत्थु विसेसु मुगंतु जिय, तं मुगि अविचलु गाग ॥ १६० ॥

दर्शन पहले होताहै और ज्ञान पीछे होताहै जिससे वस्तु विशेषरूप अर्थात् भेदाभेद रूप जानी जातीहै वह ज्ञानहै ॥

दुक्खवि सुक्ख सहंतु जिय, गागी झाग तल्लीगु ।
कम्महिं गिज्जर हेउ तउ, वुच्चइ संग विहीगु ॥ १६१ ॥

परिग्रहरहित ज्ञानी ध्यानमें तल्लीन होकर सुख और दुःख दोनों को समभाव कर सहताहै अर्थात् सुख में हर्ष और दुःखमें रंज नहीं मानताहै दोनों को बराबर समझताहै इससे उसके कर्मों की निर्जरा होतीहै ॥

विगगावि जेग सहांति मुगि, मागि समभाउ करेइ ।
पुगगहं पावहं तेग जिय, संवर हेउ हवेइ ॥ १६२ ॥

जो मुनि सुख और दुःख दोनों को मन में समभाव करके सहताहै उसको पुण्य और पाप दोनों का संवर होताहै अर्थात् न पुण्य का बंध होताहै और न पापका, भावार्थ-कर्मों का आस्रव उसको नहीं होताहै ॥

अत्थइ जित्तिउ कालु मुगि, अप्प सरूवगि लीगु ।
संवर गिज्जर जागि तुहुं, सयल वियप्प विहीगु ॥ १६३ ॥

समस्त विकल्प से रहित होकर जितने कालतक मुनि अपने स्वरूप में तल्लीन रहताहै उतने कालतक उसके संवर और निर्जरा रहतीहै अर्थात् नवीन कर्मोंकी उत्पत्ति नहीं होती और पूर्वकर्मों का नाश होता रहताहै ॥

कम्मु पुरक्किउ सोखवइ, अहिगव पेसु गदेइ ।
संगु मुएविगु जोसयलु, उवसम भाउ करेइ ॥ १६४ ॥

जो मुनि समस्त परिग्रह को त्यागकर समभाव धारण करता है वह पूर्वकृत कर्मों का नाश करताहै और नवीन कर्मों का पैदा होना बन्द करताहै ॥

दंसणु गाणु चरित्तु तसु, जो समभाउ करेइ ।
इयरहिं इक्कुवि अत्थि णवि, जिणवर एम भणेइ ।। १६५ ।।

जो समभाव करताहै उसके दर्शन ज्ञान और चरित्र तीनों हैं और जो इससे अर्थात् समभाव से रहित है उसके इन तीनोंमें से एक भी नहीं होताहै श्रीजिनेंद्र देवने ऐसा कहाहै ॥

जावइ णाणिउ उवसमई, तावइ संजदु होइ ।
होइ कसायहिं वसि गयउ, जीव असंजदु होइ ।। १६६ ।।

जबतक ज्ञानी पुरुष समभावी रहता है तबतक वह संयमी है और जब कषाय के वश होताहै तब असंयमी होताहै ॥

जेण कसाय हवंति मणि, सो जिय मल्लहि मोह ।
मोह कसाय विवज्जियउ, पर पावहि समबोह ।। १६७ ।।

जिससे मनमें कषाय उत्पन्न होतीहै वह त्यागने योग्य मोहहै मोह और कषायके त्याग से समभाव प्राप्त होताहै ॥

तत्तातत्तु मुणेवि मुणि, जे थक्का समभाव ।
ते पर सुहिया इत्थु जगि, जहँरइ अप्प सहावि ।। १६८ ।।

जो मुणि तत्व अतत्व को जानकर और समभाव धारण करके अपनी शुद्ध आत्मामें लीनहैं इस जगत् में वहही सुखी हैं ॥

विण्णिवि दोस हवंति तसु, जो समभाउ करेइ ।
बंध जु निहणइ अप्पणउ, अणु जगु गहिलु करेइ ।। १६९ ।।

(निंदा स्तुति) जो समभाव करताहै वह दो दोषोंका भागी होता है एक तो यह कि वह अपने बंधका अर्थात् कर्मबन्धन का नाश करताहै और संसार की रीति से विपरीत प्रवर्तने के कारण जगत् के जन उसको बावला समझतेहैं-अर्थात् जगत्के लोग उसकी बाबत उल्टी समझ धारण करतेहैं, भावार्थ-जगत्के लोग बावले होजातेहैं ॥

अण्णु जि दोसु हवेइ तसु, जो समभाव करेइ ।
सत्तुवि मिल्लवि अप्पणऊ, परिहणि लीन हवेइ ।। १७० ।।

(निंदा स्तुति) जो समभाव करताहै उसको और भी दो दोष होते हैं वह मिले हुवे अपने शत्रुको छोड़ताहै और लीन होकर पराधीन होताहै भावार्थ-कर्मशत्रु को त्यागना है और अपनी

आत्मा में लीनहोताहै अर्थात् अपनी आत्माके आधीनहोजाताहै॥

अण्णु जि दोस हवेइ तसु, जो समभाउ करेइ।
वियलु हवेइ पुण इक्कलउ, उप्परि जगह चडेइ ॥ १७१ ॥

(निंदा स्तुति) जो समभाव करता है उसको अन्यभी दो दोष होते हैं वह विकल अर्थात् शरीर से रहित होकर अकेला जगत् के ऊपर चढ़ता है अर्थात् मोक्षको जाता है ॥

जा णिसि सयलहिं देहियहिं, जोग्गि उतहि जगोइ।
जहिं पुण जग्गइ सयलु जगु, सा णिसि मणिवि सुवेइ॥ १७२ ॥

रात्रि में जगत्के सर्व जीव सोजाते हैं परन्तु जोगी अर्थात् मुनि महाराज जागते रहते हैं अर्थात् धर्म ध्यान में सावधान रहते हैं और जब सारा जगत् जाग उठताहै अर्थात् जगत् के लोग अपने कार्य व्यवहार में लगते हैं उसको जोगी लोग कहतेहैं कि अंधकार हो रहाहै और जगत् के जीव सो रहे हैं—क्यूंकि जगत् के जीवों का संसार व्यवहार में लगना उनकी अज्ञानता के ही कारण होता है, भावार्थ-मुनि महाराजकी यहभी निंदा स्तुति कीगई है कि वह उल्टी चाल चलते हैं रातको तो जागते हैं और दिन को रात बताते हैं ॥

णाणि मुएप्पिणु भावसम, केत्थु वि जाइ णराउ ।
जेण लहेसइ णाणमउ, तेण जि अप्प सहाउ ॥ १७३ ॥

ज्ञानी पुरुष सम भाव को छोड़कर किसी वस्तु में राग नहीं करता है जिस ज्ञानमई को वह प्राप्त होना चाहताहै वह आत्माकाही स्वभाव है ॥

भणई भणावइ णवि थुणइ, णिंदइ णाणि ण कोइ।
सिद्धि हिं कारण भाव सम, जाणंतउ परसोइ॥ १७४ ॥

ज्ञानी पुरुष न किसी वस्तु की वार्ता करता है न वार्ता करताहै न किसीकी स्तुति करता है और न निंदा करता है वह जानता है कि सिद्ध अर्थात् मोक्षका कारण समभावहीहै।

गंथहिं उप्परि परम मुणि, देसुवि करइ ण राउ ।
गंथहिं जेण वियाणियउ, भिण्णउ अप्प सहाउ ॥ १७५ ॥

परम मुनि परिग्रह से न राग करते हैं और न द्वेष करते हैं वह

जानते हैं कि आत्मा का स्वभाव परिग्रह से भिन्न है ॥

विसयहिं उप्परि परम मुणि देसुवि करइ ण राउ ।
विसयहिं जेण वियाणियउ, भिएणउ अप्प सहाउ ॥ १७६ ॥

परम मुनि विषयों के ऊपर राग द्वेष नहीं करते हैं वह जानते हैं कि आत्मा का स्वभाव विषयों से भिन्न है ।

देहहिं उप्परि परम मुणि, देसुवि करइ ण राउ ।
देहहिं जेण वियाणियउ, भिएणउ अप्प सहाउ ॥ १७७ ॥

परम मुनि देहसे भी राग द्वेष नहीं करते हैं वह जानतेहैं कि आत्मा का स्वभाव देहसे भिन्न है ॥

विति णिविति हि परम मुणि,देसुवि करइ ण राउ ।
बंधहि हेउ वियाणियउ, एयहिं जेण सहाउ ॥ १७८ ॥

व्रत अव्रत में भी परममुनि राग द्वेष नहीं करतेहैं वह इनको बंधका हेतु समझतेहैं यहही इनका स्वभावहै अर्थात् व्रतसे पुण्य और अव्रतसे पाप होता है ॥

बंधहि मोक्खहि हेउ णिउ, जो णवि जाणइ कोइ ।
सो पर मोहें करइ जिय, पुराणवि पाउवि दोइ ॥ १७९ ॥

जो कोई बंध और मोक्ष का हेतु नहीं जानता है वह मिथ्यात्व के उदयसे पुण्य और पापको दो भेदरूपजानता है अर्थात् पुण्यको अच्छा समझता है और पापको बुरा-भावार्थ ज्ञानी पुरुष पुण्य और पापदोनों को त्यागता है ॥

दंसण णाण चरित्तमउ, जो णवि अप्प मुणेइ ।
सिद्धिहिं कारण भणिवि जिय, सो पर ताई करेइ ॥ १८० ॥

मोक्षके जोकारण कहे गये हैं अर्थात दर्शन ज्ञान और चारित्र को जो कोई आत्मा का स्वरूप नहीं जानताहै वह इसमेंभेदकरताहै॥

जो णवि मरणइ जीउसम, पुराणवि पाउवि दोइ ।
सो चिर दुक्ख सहंतु जिय,मोहें हिंडइ लोइ ॥ १८१ ॥

जो कोई पुण्य और पापदोनों को बराबर नहीं मानताहै अर्थात दोनों कोही मोक्षके विपरीत बंध नहीं समझता है वरण पुण्य को अच्छा जानताहै वह मोहके वशहोकर संसारमें रुलताहै और चिरकालतक दुःख भोगता है ॥

वर जिय पावइ सुंदरइ, णाणिय ताइ भणंति ।

जीवहिं दुक्खइं जणिवि लहु, सिवगइ जाइ कुणंति ॥ १८२ ॥

ज्ञानी लोग ऐसा कहते हैं कि वह पापभी श्रेष्ठ और सुंदरहै जिसके कारण जीव दुःखको जानकर मोक्ष मार्ग में लगजावे ॥

मं पुणु पुण्णइं भल्लाइं, णाणिय ताइं भणंति ।

जीवहिं रज्जइं देवि लहु, दुक्खइं जाइं जणंति ॥ १८३ ॥

ज्ञानी पुरुष ऐसा कहतेहैं कि वह पुण्यभी भला नहीं है जो जीव को राजा आदिक की विभूति देकर अर्थात् विषय कषाय में लगाकर दुःख उत्पन्न करताहै ॥

वर णिय दंसण अहि मुहउ, मरणुवि जीव लहीस ।

मा णिय दंसण विम्मुहउ, पुण्णवि जीव करीस ॥ १८४ ॥

निःसंदेह मुझको सम्यक् दर्शन श्रेष्ठ है चाहे उसके होने से मरणही प्राप्त होताहो निःसंदेह मुझको दर्शनकी विमुखता अर्थात् मिथ्यात्व पसन्द नहीं है चाहे उस मिथ्यात्व के होते हुवे पुण्यही प्राप्त होताहो ॥

जे णिय दंसण अहि मुहा, सुक्ख अणंतु लहंति ।

ते विण पुण्णु करंताहि, दुक्खु अणंतु सहंति ॥ १८५ ॥

जो जीव सम्यक् दर्शन के सन्मुखहैं वह निःसंदेह अनन्त सुख पाते हैं अर्थात् मोक्ष में जाते हैं और जो इसके विनाहैं अर्थात् मिथ्या दृष्टिहैं वह पुण्य करते हुवे भी अनन्त दुःख भोगतेहैं भावार्थ अनन्त दुःख रूप संसार में रुलते हैं ॥

देवहिं सच्छहिं मुणि वरहिं, भत्तिए पुण्ण हवेइ ।

कम्मक्खउ पुणुहोइ णवि, अज्जउ संति भणेइ ॥ १८६ ॥

देव शास्त्र और मुनि की भक्तिसे पुण्य होता है परन्तु कर्मोंका क्षय अर्थात् मोक्ष नहीं होता है संत लोग ऐसा कहते हैं ॥

देवहिं सच्छहिं मुणि वरहिं, जोविद्देसु करेइ ।

णिय में पाउ हवइ तसु, जि संसार भमेइ ॥ १८७ ॥

जो कोई देव गुरु शास्त्र से द्वेष करताहै उसको अवश्य पाप होताहै जिससे वह संसार में रुलताहै अर्थात् इनकी भक्ति करने से पुण्य और इनकी निंदा करने से पाप होताहै पाप और पुण्य दोनोंहीसे संसार परिभ्रमण है ॥

पावें गारउ गिरिउ जिउ, पुगणें अमरु वियाणु ।
मिस्सें माणुस गइ लहइ, दोहिवि खइ णिव्वाणु ॥ १८८ ॥

पाप से जीव नरक और तिर्यंच गतिको पाता है और पुण्य से देव गति मिलता है और पाप पुण्य दोनों मिलकर मिश्रसे मनुष्य गति पाताहै और पाप पुण्य दोनोंके क्षय होनेमे मोक्षकोप्राप्तहोताहै।

वंदणु णिंदणु पडिकमणु पुगणहि कारण जेण ।
करइ करावइ अणुमणइ, एक्कुवि णाणि ण तेण ॥ १८९ ॥
वंदणु णिंदणु पडिकमणु, णाणिणहि एउण वत्तु ।
एक्कुवि मेल्लिवि णाणमउ, सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥ १९० ॥
वंदउ णिंदउ पडिकमउ, भाउ असुद्धउ जासु ।
परतसु संजम अत्थिणवि, जं मण सुद्धि ण तासु ॥ १९१ ॥

वंदनाअर्थात् देवगुरु शास्त्रकी पूजनिंदा अर्थात् अपनी निंदाकरना पश्चाताप करना और प्रतिक्रमण यह तीनों क्रिया जो पुण्य के उपजाने वाली हैं इनमें से एक को भी ज्ञानी पुरुष अर्थात् मोक्षकी सिद्धिकरने वाला नहीं करता है न कराता है और न इनकी अनुमोदना करताहै एक ज्ञानमई और शुद्ध आत्मा के ध्यान को छोड़ कर पवित्र भाव का धारक ज्ञानवान् वंदना आलोचना और प्रतिक्रमण नहीं करता है-वंदना आलोचना और प्रतिक्रमण वहही करताहै जिसकाभाव अशुद्धहै और जिसका मन शुद्ध नहीं उसके संयम नहींहै-भावार्थ मोक्षकी सिद्धि करने वालातो शुद्ध आत्मध्यान में लगताहै और पुण्य क्रियाओं को अर्थात् शुभोपयोग को भी त्यागताहै--क्यूंकि शुभोपयोग से शुद्ध और पवित्र भाव नहीं होतेहैं-पुण्य बंधही होता है और मोक्ष होता है शुद्धभावसे इसकारण पुण्य बंधके कार्य भी वह नहीं करताहै-बंदना आदिक शुद्ध भाव नहींहै इसहेतु अशुद्धहीहैं और जब भाव शुद्ध नहीं तब संयमनहीं अर्थात् मोक्षकी सिद्धि करनेवालेका संयम शुद्धात्मस्वरूप में लीन होनाही है ॥

सुद्धहि संजम सील तउ, सुद्धहि दंसण णाण ।
सुद्धहि कम्मक्खउ हवइ, सुद्धउ तेण पहाण ॥ १९२ ॥

उसकाही अर्थात् शुद्धोपयोगी काही संयम शुद्ध है उसही का शील शुद्धहै उसही का दर्शन ज्ञान शुद्धहै उसहीका कर्मोंका

क्षय करना शुद्ध है उसहीका प्रधानपना अर्थात् परमात्मा होना शुद्ध है ॥

भाउ विसुद्धउ अप्पणउ, धम्म भणेविणु लेहु ।
चउगइ दुक्खहिं जो धरइ, जीउ पडंतहु एहु ॥ १६३ ॥

चतुरगति रूप दुःखसागर में पड़े हुवे जीवका जो उद्धार करता है वह अपना विशुद्धभाव है जिसको धर्म कहते हैं इस कारण शुद्ध भाव ग्रहण करना चाहिये ॥

सिद्धिहिं केरा पंथडा, भाउ विसुद्धउ एक्कु ।
जो तसु भावहिं मुणि चलइ, सो किम होइ विमुक्कु ॥ १९४ ॥

मुक्ति प्राप्तिका मार्ग एक विशुद्धभाव ही है और कोई मार्ग नहीं है जो मुनि शुद्ध भावों से गिरता है उस को मुक्ति कैसे हो सक्ती है ॥

जहि भावहिं तहिं जाहि जिय, जंभावइ करि तं जि ।
केमइ मोक्ख ण अत्थि पर, चित्तहिं सुद्धि ण जं जि ॥ १९५ ॥

जहां चाहे जावै जो चाहै क्रिया करै परन्तु जिसका मन शुद्ध नहीं है उसको मोक्ष नहीं प्राप्त हो सक्ता है ॥

सुहपरिणामें धम्मु पर, असुहें होइ अहम्मु ।
दोहिवि एहिवि वज्जियउ, सुद्ध ण बंधइ कम्मु ॥ १९६ ॥

शुभ परिणामों से धर्म अर्थात् पुण्य होता है और अशुभ परिणामों से अधर्म अर्थात पाप होता है और इन दोनों से रहित हो कर शुद्ध परिणामों से कर्म्म बंध ही नहीं होता है भावार्थ न पुण्य होता है और न पाप ॥

दाणें लब्भइ भोउ पर, इंदत्तणु जितवेण ।
जम्मण मरण विवज्जियउ, पउ लब्भइ णाणेण ॥ १९७ ॥

दान करने से भोगों की प्राप्ति होती है इन्द्रयों को जीतने अर्थात् तप करने से स्वर्ग का इन्द्र होता है और ज्ञान से जन्म मरण से रहित अवस्था अर्थात् परमपदको प्राप्त होता है ॥

देउ णिरंजणु एउ भणइँ, णाणें मोक्खु णभंति ।
णाण विहूणउ जीवडा, चिरु संसार भमंति ॥ १९८ ॥

श्री वीतराग देवने ऐसा कहा है कि ज्ञान से ही मोक्ष होती है

जो जीव ज्ञान विहीन है वह चिरकाल तक संसार में रुलता है ॥

णाण विहीणह मोक्खपउ, जीव म कासु विजोइ।
बहुयइ सलिलु विरोलियइ, करु चोप्पडउ ण होइ ॥ १९९ ॥

ज्ञान विहीन होकर जीव किसी प्रकार भी मोक्ष पद प्राप्त नहीं कर सक्ता है जैसे कि कितना ही पानी विलोया जावे परन्तु हाथ चीकना नहीं होगा ॥

जं णिय बोहहिं बाहिरउ, णाणुजि कज्जु ण तेण,।
दुक्खहिं कारण जेण तउ, जीवहिं होइ खणेण ॥ २०० ॥

निज शुद्ध आत्मा के बोध से रहित जो ज्ञान है वह कुछ कार्य कारी नहीं है वह दुःख काही कारण है ॥

तं णिय णाणुजि होइ णवि, जेण पवट्टइ राउ।
दिणयर किरणहिं पुरउ जिय, किं विलसइ तमराउ ॥ २०१ ॥

वह ज्ञान नहीं है जिस से राग द्वेष उत्पन्न हो ज्ञान के सूर्य की किरणों के प्रकाश होने पर यह जीव राग रूप अंधकर को किस प्रकार भोग सक्ता है अर्थात् जैसे सूर्य के उदय में अंधेरा नहीं रहता इसही प्रकार ज्ञान प्राप्त होने पर राग द्वेष नहीं रहता है ॥

अप्पा मिल्लिवि णाणियहिं, अण्णु ण सुंदरु वत्थु।
जेण ण विसयहिं मणु रमइं, जाणं तहिं परमत्थु ॥ २०२ ॥

ज्ञानी पुरुषको आत्म स्वरूप के सिवाय अन्य कोई वस्तु सुंदर नहीं है जिन का मन विषयों में नहीं रमता है वह ही परमार्थ को जानते हैं ॥

अप्पा मिल्लिवि णाणमउ, चित्ति ण लागइ अण्णु।
मरगउ जेण वियाणियउ, तहिं कच्चि कउ गण्णु ॥ २०३ ॥

ज्ञानी का चित्त आत्मा के सिवाय और किसी वस्तु में नहीं लगता है जिसने मरकट मणि को जानलिया है वह कांच को क्या गिनता है ॥

भुंजंतहिं णिय कम्मु फलु, जो तहिं राउ ण जाइ।
सो णवि बंधइ कम्मु पुणु, संचिउ जेण विलाइ ॥ २०४ ॥

कर्मों के फल के भोगने में जिस का राग दूर नहीं हुआ है अर्थात्

जो सुख दुःख मानता है वह फिर नवीन कर्म बांधताहै कर्मों का उदय आना और फलदेना तो संचित कर्मों का नाशहोनाहै परन्तु जो सुख दुःख मानताहै वह आगामी को फिर कर्म बांधलेताहै ॥

भुंजंतुवि गिय कम्म फलु, मोहें जोजि करेइ ।
भाउ असुंदरु सुंदरुवि, सो परु कम्मु जगोइ ॥ २०५ ॥

कर्मों के फल भोगने में जो जीव मोहके कारण शुभ अशुभ भाव करता है वह नवीन कर्मों को उत्पन्न करता है ॥

जो अणुमित्तुवि राउ मणि, जाम ण मेल्लइ एत्थु ।
सोवि ण मुंचइ ताम जिय, जाणंतुवि परमत्थु ॥ २०६ ॥

जिसके मन में रंच मात्रभी राग रहगया है वह यदि परमार्थ को जानताभी है तौ भी वह कर्मों के बंधन से नहीं छूटताहै ॥

बुज्झइ सत्थइ तउ चरइ, पर परमत्थु ण वेइ ।
ताव ण मुच्चइ जाम णवि, एहु परमत्थुण वेइ ॥ २०७ ॥

जो पुरुष शास्त्रको समझताहै और तपश्चरण करताहै परन्तु परमार्थ को नहीं जानताहै वह कर्मों का नाश नहीं करसक्ता है और परमार्थअर्थात् मोक्षको नहीं पासक्ताहै ॥

सत्थु पढंतुवि होइ जडु, जो ण हणेइ वियप्पु ।
देहिवसंतुवि णिम्मलउ, णवि मण्णइ परमप्पु॥ २०८ ॥

शास्त्र को पढकर भी जो कोई विकल्प को दूर नहीं करताहै वह मूर्खहै और वह निर्मल शुद्ध परमात्मा को जो सांसारीक जीवों के देहमें बसताहै नहीं जानताहै ॥

बोहि णिमित्तें सत्थुकिल, लोए पढिज्जइ एत्थु ।
तेणवि बोहुण जासु वरु, सो किं मूढ़ ण तत्थु ॥ २०९ ॥

लोकमें सर्व शास्त्र बोध होनेके निमित्तही पढेजातेहैं—शास्त्रोंके पढने से भी जिसको श्रेष्ठ बोध नहीं हुवा अर्थात् परमार्थ का नहीं जाना वह किस हेतु से मूर्ख नहीं है अर्थात् अवश्य वह अत्यन्त मूर्ख है ॥

अक्खरडा जोयंतु ठिउ, अप्पि ण दिण्णउ चित्तु ।
कणवि रहियउ पयालु जिम, पर संगहिउ वहुत्तु ॥ २१० ॥

जो कोई अक्षरों कोही ढूंढताहै और आत्मा में चित्त नहीं देता

है वह ऐसाहै जैसा कोई मनुष्य बहुत सी पराल अर्थात् भूसी को जिसमें अनाज बिलकुलनहो इकट्ठी करताहो ॥

तित्थें तित्थ भमंताहिं, मूढहिं मोक्खु ण होइ ।
णाण विवज्जिउ जेण जिय, मुणिवरु होइ ण सोइ॥ २११ ॥

तीर्थ स्थानों में भ्रमणे से मूढ मति को मोक्ष नहीं होसक्ती है इसही प्रकार ज्ञान रहित जीव मुनि नहीं होसक्ता है ॥

णाणिहिं मूढहिं मुणिवरहिं, अंतरु होइ महंतु।
देहुजि मिल्लइ णाणियउ, जीवहिं भिण्णु मुणंतु॥ २१२ ॥

ज्ञानी और मूर्ख मुनि में बड़ा भारी अंतर है ज्ञानी तो जीव को शरीर से भिन्नजान कर देहको भी छोड़ना चाहताहै ॥

लेणहिं इच्छइ मूढ पर, भुवणावि एहु असेसु ।
बहु विहि धम्म मिसेण जिय, दोहावि एहु विसेसु॥ २१३ ॥

और जो मूर्ख है वह अनेक प्रकार धर्म के मिस अर्थात् बहाने से सारे जगत् को ग्रहण करना चाहताहै दोनों में अर्थात् ज्ञानी और मूर्ख साधुमें यह भेद है ॥

चेल्ला चेल्ली पोत्थियहिं, तूसइ मूढ णिभंतु ।
एयहिं लज्जइ णाणियउ, बंधहिं हेउ मुणंतु ॥ २१४ ॥

चेला चेली और शास्त्र में मूर्ख साधु निःसंदेह हर्ष मानताहै परन्तु ज्ञानी पुरुष इसको बंधका कारण जानकर लज्जा करताहै ॥

चट्टइ पट्टइ कुंडियइं, चिल्ला चिल्लियएहिं ।
मोह जणेवणु मुणिवरहं, उप्पहि पाडिय तेहिं ॥ २१५ ॥

चट्टी पट्टी औ कुंडा अर्थात् क़लम दावात काग़ज तख़्ती आदिक और चेला चेली यह सब मुनि को मोह पैदा करके नीचे गिराते हैं

केणवि अप्पउ वंचियउ, सिरु लुंचिवि छारेण ।
सयलावि संग ण परिहरिय, जिणवर लिंग धरेण ॥ २१६ ॥

जिसने सिरके बालों का लोच करके दिगम्बर रूप धारण किया है परन्तु सर्व परिग्रह को नहीं छोड़ा है अर्थात् रागद्वेष जिस में विद्यमान है उसने अपने आप को ठगा है ॥

जे जिण लिंगु धरेवि मुणि, इट्ठ परिग्गह लिंति ।
छदि करेविणु तेजि जिय, सा पुणु छदि गिलंति ॥ २१७ ॥

जो मुनि दिगम्बर लिंग धारण कर के फिर इष्ट वस्तु को अर्थात् जो वस्तु अच्छी मालूम हो उस का ग्रहण करता है वह वमन अर्थात् कै की हुई वस्तु को फिर खाता है ॥

लाहहं कित्तिहि कारणिण, जे सिव संगु चयंति ।
खीला लग्गिवि तेजि मुणि, देउलु देउ डहंति ॥ ११८ ॥

लोभ वा यशकीर्ति के वास्ते जो मुनि शिवसंग को छोड़ता है अर्थात् शुद्ध आत्म ध्यान से डिगता है वह एक कील के वास्ते देव मंदिर को जलाता है वा ढाता है ॥

अप्पउ मण्णइ जो जि मुणि, गरुयइं गंथहिं तित्थु ।
सो परमत्थें जिणुभणइं, णउ बुज्झइ परमत्थु ॥ २१९ ॥

जो मुनि परिग्रह से ही अपने को बड़ा मानता है वह परमार्थ को नहीं पहचानता है परमार्थ कथन में श्रीजिनेंद्रदेव ने ऐसा कहा है ।

बुज्झतहं परमत्थु जिय, गुरु लहु अत्थि ण कोइ ।
जीवा सयलावि बंभुपरु, जेण वियाणइं सोइ ॥ २२० ॥

जो परमार्थ को पहचानते हैं वह ऐसा कहते हैं कि जीव में छोटा बड़ा कोई नहीं है सबही जीव परमब्रह्म हैं ॥

जो भत्तउ रयणत्तयहं, तसु मुणि लक्खण एउ ।
अत्थउ कहिं मि कुडिल्लियइं, सो तसु करइ ण भेउ॥ २२१ ॥

जो मुनि रत्नत्रय की भक्ति करता है उसका यह लक्षण अर्थात् पहचान है कि वह सब जीवों को समान मानता है जीव किसी ही प्रकार का शरीरधारी हो वह उस में किसी प्रकार का भेद नहीं करता है-अर्थात् यह नहीं कहताहै कि यह तिर्यंच है यह मनुष्य है यह गधा है यह घोड़ा है ॥

जीवहं तिहुयणि संठियहं, मूढा भेउ करंति ।
केवल णाणइं णाणि फुडु, सयलुवि एक्कु मुणंति॥ २२२ ॥

तीनों लोक में बास करने वाले जीवों में मूर्ख लोग भेदकरते हैं अर्थात् उनको नारकी, देव, मनुष्य आदिक समझतेहैं परन्तु ज्ञानी पुरुष सर्व जीवों को ज्ञानमयी अर्थात् एकही प्रकारके समझतेहैं

जीवा सयलवि णाणमय, जम्मण मरण विमुक्क ।
जीव पएसहिं सयल सम, सयलवि सगुणहिं एक्क ॥ २२३ ॥

सबही जीव ज्ञानमयी हैं और जन्म मरण से रहित हैं अर्थात् किसी जीवका आदिअन्त नहीं है सब जीव सदासे हैं और सदा रहैंगे और जीवके प्रदेश की अपेक्षा भी सब जीव समान हैं और शुद्धगुण अर्थात् अनन्त दर्शन अनन्तज्ञान अनन्त सुख आदिक गुणों की अपेक्षा भी सब जीव एकही हैं ॥

जीवहं लक्खणु जिणवरहिं, भासिउ दंसण णाण ।
तेण ण किज्जइ भेउ तहँ, जइ मणि जाउ विहाणु ॥ २२४ ॥

श्रीजिनेंद्रदेवने जीवका लक्षण दर्शन और ज्ञान वर्णन किया है जिसके मनमें प्रभात हुई है अर्थात् ज्ञानका प्रकाश हुवाहै वह जीवों में भेद नहीं करता है अर्थात् सब को दर्शन और ज्ञानकी शक्ति वाला मानता है ॥

बम्ह हु भुवणि वसंताहं, जे णवि भेउ करंति ।
ते परमप्प पयासयर, जोइय विमलु मुणंति ॥ २२५ ॥

तीन लोक में बसतेहुवे परब्रह्म स्वरूप आत्माओं में जो कोई भेद नहीं करते हैं वह परमात्मा का प्रकाश करने वाले योगी सर्व जीवों को निर्मल और शुद्ध मानते हैं ॥

राय दोसवे परिहरिवि, जे सम जीव णियंति ।
ते समभाव परिट्ठिया, लहु णिव्वाणु लहंति ॥ २२६ ॥

जो मुनि राग द्वेष आदिक विपरीत भावों को दूर करके सर्व जीवोंको समान जानतेहैं वह समभाव में स्थिर होकर शीघ्र निर्वाण पदको प्राप्त करते हैं ॥

जीवहं दंसणु णाणु जिय, लक्खणु जाणइ जोजि ।
देह विभेएं भेउ तहँ, णाणिकि मण्णइं सोजि ॥ २२७ ॥

जो कोई दर्शन और ज्ञान को जीवका लक्षण जानताहै वह शरीर के भेदमे जीवोंमें कैसे भेदकर सक्ता है अर्थात् भेद नहीं करता है ॥

देहवि भेयइं जो कुणइं, जीवहिं भेउ विचित्र ।
सो णवि लक्खणु मुणइ तहं, दंसण णाण चरित्तु ॥ २२८ ॥

जो कोई शरीर के भेदसे जीवों में भेद करते हैं वह दर्शन ज्ञान और चारित्र को जो आत्मा के लक्षणहैं नहीं जानतेहैं ॥

अंगइं सुहुमइं बादरइं, विहिवसि हुंति जि बाल।
जिय पुणु सयलवि तित्तडा, सव्वत्थवि सय काल ॥ १२९ ॥

शरीर का छोटा बड़ा और बालक और वृद्ध आदिक होना यह सब कर्मों के बशसे है परन्तु निश्चयरूप अर्थात् असलियत में सर्व जीव सर्वथा सर्वकाल में एक समानहीहैं ॥

सत्तुवि मित्तुवि अप्पु परु, जीव असेसुवि एइ।
एक्कु करेविणु जो मुणइ, सो अप्पा जाणेइ ॥ २३० ॥

शत्रु मित्र आपा पर और अन्य सब जीवोंको जो एकसमान मानताहै वहही आत्मा को जानताहै ॥

जो णवि मरणइ जीव जिय, सयलवि एक्क सहाव।
तासु ण थक्कइ भाउ सम, भवसायर जो णाव ॥ २३१ ॥

जो सब जीवों को एक स्वभावरूप नहीं मानताहै उसको सम भाव नहीं होताहै समभाव भवसागर से तिरनेके वास्ते नाव के समान है ॥

जीवहं भेउ जि कम्म किउ, कम्मुवि जीउ ण होइ।
जेण विभिण्णउ होइ तहं, कालु लहेविणु कोइ ॥ १३२ ॥

जीवों में जो भेद है वह कर्मों का किया हुवा है परन्तु कर्म जीव नहीं होजाते हैं अर्थात् जीवसे भिन्न हैं क्यूंकि काल लब्धि पाकर कर्म जीवसे अलग होजातेहैं ॥

एक्कु जिकरि मणविण्ण करि, मं करि वण्ण विसेसु।
एक्कें देवें जिं वसइ, तिहुयणु एहु असेसु ॥ १३३ ॥

तू सब जीवों को एक समान ही मान यह मनुष्य है यह तिर्यंच है इत्यादि भेद मतकर एकही देव अर्थात् एक शुद्धआत्मा जिस प्रकारकी है तीन लोकके जीवों को तू वैसाही जान ॥

परु जाणंतुवि परम मुणि, पर संसग्गु चयंति।
पर संसग्गइं पर पयहं, लक्खहं जेण चलंति ॥ २३४ ॥

परममुनि परवस्तु को जान कर परवस्तु का संसर्ग छोड़ते हैं-और जो परवस्तु से संसर्ग करते हैं वह निशाना चूक जाते हैं

अर्थात् शुद्धआत्मध्यान से गिरजाते हैं ॥

जो समभावहं बाहिरउ, ते सहु मं कर संग ।
चिंता सायरि पडहि पर, अएणुवि दुज्झइ अंग ॥ २३५ ॥

जो कोई समभाव से रहित है उसके साथ संग अर्थात् मेल मत कर क्यूंकि उनका संग करने से तू चिंता के समुद्र में पड़जावैगा और व्याकुलता प्राप्त होकर तेरा शरीरभी जलैगा ॥

भल्ला हवि ण संति गुण, जहुं संसग्गु खलेण ।
वइसाणरु लोहहं मिलिउ, तें पिट्टियइ घणेण ॥ २३६ ॥

दुष्ट की संगति से उत्तम गुणभी नाश होजाते हैं जैसे अग्नि भी लोहे की संगति से घण से पीटी जाती है ॥

जोइय मोहु परिचयहि, मोहु ण भल्ला होइ ।
मोहासत्तउ सयलु जगु, दुक्ख सहंतउ जोइ ॥ २३७ ॥

यह मोह त्यागने ही योग्य है मोह किसी प्रकार भी भला नहीं है सर्व ही संसार मोहमें आसक्त हुवा दुःख उठारहा है ॥

जे सरसें संतुट्ठ मण, विरसि कसाउ वहंति ।
ते मुणि भोयण घार मुणि, णवि परमत्थु मुणंति ॥ २३८ ॥

जो स्वादिष्ट भोजन में संतुष्ट हैं और अस्वादु भोजन में द्वेष करते हैं अर्थात् पसन्द नहीं करते ऐसे मुनिको तू भोजन गृद्धि समझ वह परमार्थ को नहीं जानते हैं ॥

रूवि पयंगा सद्दि मय, गयफासें णासंति ।
उलिउल गंधें मच्छ रासि, तिम अणुराउ करंति ॥ २३९ ॥

रूप में आसक्त हुवा पतंग और शब्द अर्थात् करण इंद्रिय में आसक्त हुवा हिरण और स्पर्श इंद्रिय में आसक्त हुवा हाथी और गंध में आसक्त हुवा भौंरा और रस में आसक्त हुवा मच्छ नाश को प्राप्त होता है ॥

जो इय लोहु परिच्चयहि, लोहु ण भल्ला होइ ।
लोहा सत्तउ सयलु जगु, दुक्ख सहंतउ जोइ ॥ २४० ॥

तू इस लोभ का त्याग कर लोभ भला नहीं है-लोभ में ही आसक्त हुवा सारा जगत् दुःख उठा रहा है ॥

तालि अहिरणि वरि घण वडगु, संडस्सय लुंचोडु ।
लोहहं लग्गिवि हुयवहहं, पिक्खु पडंतउ तोडु ॥ २४१ ॥

लोहे के साथ लगनेसे अर्थात् लोहे का लोभ करके अग्निकी यह अवस्था होतीहै कि नीचे अहरण है ऊपर से घण पड़ता है बीचमें से संडासी ने पकड़ रक्खा है और टूट टूट कर चिंगारी अलग पड़रही हैं ॥

जोइय णेहु परिच्चयहि, णेहु ण भल्ला होइ ।
णेहा सत्तउ सयलु जगु, दुक्ख सहंतउ जोइ ॥ २४२ ॥

तू इस स्नेह (प्यार मुहब्बत) का त्यागकर स्नेह भला नहीं होता है सारा जगत् नेह ही में आसक्तहुवा दुःख उठारहा है ॥

जल सिंचणु पयणिद्दलणु, पुणु पुणु पीलण दुक्ख ।
णेहहं लग्गिवि तिलणियरु, जंति सहंतउ पिक्खु ॥ २४३ ॥

तिलको तेल के साथ नेहलगानेसे इतने दुःख उठाने पड़ते हैं कि वह पानी में भिगोया जाताहै पैरों से दल मलाजाताहै अर्थात् इस प्रकार उसका छिलका उतारा जाताहै फिर कोल्हू में डालकर बार बार पीला जाताहै ॥

तेच्चिय धण्णा तेच्चिय सउरिसा, तेजियंतु जियलोए ।
वोद्दहदहम्मि पडिया, तरंति जे चेव लीलाए ॥ २४४ ॥

वह जीव धन्य हैं वह जीव सत्पुरुष हैं वहही इस जीव लोक में जीते हैं जो योवनरूपी द्रह में पडकर लीला करते हुवे निकलते हैं अर्थात् सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को प्रकाशते हैं ॥

मोक्खुजी साहिउ जिणवरहिं, छंडिवि वहु विह रज्जु ।
भिक्ख भरोडा जीव तुहुं, करहि ण अप्पउ कज्जु ॥ २४५ ॥

श्रीजिनेंद्र भगवान्ने मोक्षका साधन करने के वास्ते बहुत प्रकार का राजपाट छोड़ा तू भिक्षा से पेट भरने वाला अर्थात् कंगाल होकरभी अपना कार्य अर्थात् मोक्ष का साधन क्यूं नहीं करता है ॥

पावहि दुक्खु महंत तुहुं, जिय संसार भमंतु ।
अट्ठवि कम्मइं णिद्दलिवि, वच्चहि मोक्खु महंतु ॥ २४६ ॥

तूने संसार में भ्रमण करके महान् दुःख उठाये हैं अब तू आठकर्मों का नाश करके परमपद अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कर ॥

जिय अणु मित्तुवि दुक्खडा, सहण ण सक्कहि जोइ ।
चउगइ दुक्खहं कारणइ, कम्मइ कुणहिं कि तोइ ॥ २४७ ॥

जो तू थोड़ासा दुःख भी नहीं सह सक्ता है तो तू कर्मों को क्यों करताहै जो चारों गति के दुःखों के कारण हैं ॥

धंधइ पडियउ सयलु जगु, कम्मइं करइ अयाणु ।
मोक्खहिं करणु एक्कु खणु, णवि चिंतइ अप्पाणु ॥ २४८ ॥

मूर्ख जीव सारे जगत् के धंधों में पड़कर कर्म उपार्जन करताहै परन्तु अपनी आत्मा का ध्यान एक क्षणमात्र के वास्तेभी नहीं करता है जो मोक्षका कारण है ॥

जो णिहिं लक्खइ परिभमइ, अप्पा दुक्ख सहंतु ।
पुत्त कलत्तइ मोहियउ, जावण णाणु फुरंतु ॥ १४९ ॥

जो अपनी आत्मा को नहीं पहचानता है वह दुःख उठाता हुवा भ्रमता रहताहै-जिसका ज्ञान प्रकाश नहीं हुवाहै वह पुत्र और कलत्र में मोहित रहताहै अर्थात् आत्मा को नहीं पहचान सक्ता है ॥

जीव म जाणहिं अप्पणउ, घरु परियणु तणु इट्ठु ।
कम्मायत्तउ कारिमउ, आगमि जो इहि दिट्ठु ॥ १५० ॥

हे जीव तू घर परिवार शरीर और मित्रको अपना मत जान यह सब कर्मों के उपजाये हुवे हैं शास्त्र के जाननेवालोंने इसही प्रकार देखा है ॥

मोक्खु ण पावहिं जीव तुहुं, घरु परियणु चिंतंतु ।
तो वरि चिंतहि तउ जितउ, पावहिं मोक्खु महंतु॥ १९१ ॥

हे जीव घर परिवार की चिंता में तुझको मोक्ष प्राप्त नहीं होसक्ता है इस कारण तू तपकी चिंताकर जिससे महान् मोक्षकी प्राप्तिहो

मारिवि जीवहं लक्खडा, जं जिय पाउ करीसि ।
पुत्त कलत्तहं कारणिण, तं तुहुं एक्कु सहीस ॥ ॥ २५२ ॥

पुत्र कलत्र के वास्ते जो तू लाखों जीवों को मारता है और पाप कमाताहै उसका फल तुझको अकेलाही भोगना पड़ैगा ॥

मारिवि चूरिवि जीवड़ा, जं तुहु, दुक्ख करीसि ।
तं तहं पासि अणंत गुण, अवसइं जीव लहीसि ॥ २५३ ॥

हे जीव जीवों को मारकर और चूरकर जो तू दुःख देताहै उससे अनन्त गुणा दुःख तुझको अवश्य सहना पड़ैगा ॥

जीव वहं तहं णरयगइ, अभय पदाणें सग्गु ।
वे पह जवला दरिसिया, जहिं भावइ तहिं लग्गु॥ २५४ ॥

जीव की हिंसा करने से नरकगति होतीहै और अभयदान देनेसे अर्थात् अहिंसा व्रत धारण करने से स्वर्ग होताहै-दोनों पंथ प्रकट रूप दीखतेहैं जो अच्छा लगै उसही में लग ॥

मूढा सयलुवि कारिमउ, भुल्लउ मा तुस कंडि ।
सिवपय णिम्मलि करहि रइ,घरु परियलु लहु छंडि॥ २५५ ॥

हे मूर्ख तू सब कामों में भूलाहुवा है तुस अर्थात् छिलका इकट्ठा मतकरतू निर्मल शिवपद में अनुरागकर और घर परिवारको छोड़दे

जाइये सयलुवि कारिमउ,णिक्कारिमउ ण कोइ ।
जीवें जंतें कुडिण गयइ, उपाडिच्छंदा जोइ ॥ २५६ ॥

संसार के सब कामों में अविनाशी अर्थात् सदारहने वाला कोई कार्य्य नहीं है दृष्टान्त रूप देखो कि मरणेपर यह शरीर भी जीव के साथ नहीं जाता है ॥

देउलु देउवि सत्थ गुरु, तित्थुवि वेउवि कव्बु ।
बत्थु जु दीसइ कुसुमियउं, इंधणु होसइ सव्व ॥ २५७ ॥

मंदिर, प्रतिमा, शास्त्र, गुरु, तीर्थ, वेद, काव्य और जो कुछ फल फूल इस संसार में दीखता है वह सब ईंधन होजायगा अर्थात् नाशको प्राप्तहोजायगा भावार्थ नित्य कोई वस्तु नहींरहैगी ॥

इक्कु जि मिल्लिवि बंभुपरु, भुवणुवि एहु असेसु ।
पुहमिहि णिम्मिउ भंगुरउ, एहउ बुज्झवि सेसु ॥ २५८ ॥

एक परब्रह्म अर्थात् शुद्ध आत्मा के सिवाय जगत में अन्य जो जो दशा देखने में आतीहै वह सब बिनाशीक है तू इस प्रकार समझ ॥

जे दिट्ठा सू रुग्गमणि, ते अथवणि ण दिट्ठ ।
तिं कारणि वढ धम्मु करि,धणि जोव्वणिका तिह ॥ २५९ ॥

सूर्य्य के उदय समय जो प्रकाश होताहै वह अन्त में अर्थात् संध्या समय नहीं रहता है इस कारण तू उत्तम धर्म का सेवन कर धन यौवन में क्या रक्खा है ॥

धम्मु ण संचिउ तउ ण किउ, रुक्खें चम्म मएण ।
खज्जवि जरउदेहियए, णरइ पडिव्वउ तेण ॥ २६० ॥

जो कोई धर्म संचय नहीं करता है और तप नहीं करता है उसके शरीर का चमड़ा वृक्षकी समान है अथवा वह चमड़े का वृक्ष है वह अभक्ष भक्षण करके निशंक प्रवरतता है और नरक में पड़ता है ॥

अरि जिय जिणपए भत्ति करि, सुहि सज्जणु अवहेरि ।
तें वप्पेणवि कज्जणवि, जो पाडइ संसारि ॥ २६१ ॥

अरे जीव तू जिनेंद्र के चरणोंकी भक्ति कर और मित्र कलत्र आदिक को छोड़दे इन मित्र आदिक से कुछभी प्राप्ति नहीं ह वह संसार में ही डुबोने वाले हैं ॥

विसयहं कारणि सव्वु जणु, जिम अनुराउ करेइ ।
तिम जिण भासिए धम्म जइ, णउ संसारि पडेइ ॥ २६१ ॥

संसार के सर्व जीव विषयों के कारणों में जैसा अनुराग करते हैं यदि ऐसा अनुराग श्रीजिनेंद्र भाषित धर्म में करें तो संसार में न पड़ें ॥

जेण ण विएणउ तवयरणु, णिम्मलु चित्त करेवि ।
अप्पा वंचिउ तेण पर, माणुस जम्मु लहेवि ॥ २६३ ॥

जिसने निर्मलचित्त होकर तपश्चरण नहीं किया उसने मनुष्य जन्म पाकर अपने आपको ठगा है ॥

ए पंचिंदिय करहड़ा, जिय मोक्कला मचारि ।
चरिवि असेसुवि विषय वणु, पुणु पाडहिं संसारि ॥ २६४ ॥

हेजीव तू इन पंच इन्द्रिय रूप ऊंटों को स्वच्छन्द मतचरा अर्थात् इन्द्रियोंको स्वछन्द होकर विषय भोग मत भोगने दे वह इन्द्रियां विषयों को भोगकर तुझको संसार में गिरादेंगी ॥

जोइय विसमी जोयगइ, मणु संठवण ण जाइ ।
इंदिय विसय जि सुक्खड़ा, वलि वलि तित्थु जि जाइ ॥ २६५ ॥

हे जोगी जोगकी गति बहुत कठिन है मन स्थिर नहीं होताहै-मन इन्द्रियों के विषय सुखों पर बल वल जाता है अर्थात् मोहित होता है ॥

विसय सुहइ वेदिवहडा, पुणु दुक्खहं परिवाडि ।
भुल्लउ जीव मवावि तुहुं, अप्पुणु खंधि कुहाडि ॥ २६६ ॥

विषय सुख भोगने से फिर दुःखके परिवार को पालनाहै अर्थात् विषय सुख भोगने का फल बारबार दुःख उठानाहै हे मूर्ख जीव तू अपने कंधेपर आप कुहाड़ा मतमार ॥

संता विसय जु परिहरइ, वलि किज्जउं हउं तासु ।
सो दइवेण जि मुंडियउ, सीसु खुडिल्लउ जासु ॥ २६७ ॥

जो संत पुरुष विषयों को छोडतेहैं मैं उनपर किसप्रकार बलबल जाऊं अर्थात् वह धन्य हैं-जिसके शिरपर बालनहीं होतेहैं वह तो आपसे आपही मुंडा हुवा है इसही प्रकार चौथे काल में श्री अरिहंत देवोंके उपदेशसे विषय कषायों को छोड़कर जो मुनि होतेहैं उनका तो सहज ही मुनि होनाहै परन्तु जो इस पंचम कालमें विषयों को त्यागते हैं उनका आश्चर्य है वह धन्यहैं ॥

पंचहं णायकु वसि करहु, जेण हुंति वसि अण्ण ।
मूलवि णट्ठइं तरुवरहं, अवसइ सुक्कहिं पण्ण ॥ २६८ ॥

पांच इन्द्रियों का जो नायकहै अर्थात् मन उसको तू बशकर जिसके बश होने से सब इन्द्रियां बश में होजाती हैं जैसे कि वृक्ष की जड़ काटनेसे सारा वृक्ष सूख जाताहै ॥

विसयासत्तउ जीव तुहुं, कित्तिउ कालु गमीस ।
सिवसंगमु करि णिच्चलउ, अवसइं मोक्खु लहीस ॥ २६९ ॥

हे जीव विषय भोगों में आसक्त हुवे तुझ को बहुत काल व्यतीत होगये हैं अबतू निश्चल होकर शिव संगमकर अर्थात् शुद्ध आत्मा का ध्यान कर जिससे तुझको अवश्य मोक्ष की प्राप्तिहो ॥

इह शिवसंगमु परिहरिवि, गुरुवड कहिवि मजाहि ।
जे सिवसंगमि लीणणवि, दुक्खु सहंता वाहि ॥ २७० ॥

शिव संगम अर्थात् शुद्ध आत्मध्यान को छोड़कर हे शिष्य

तू और कहीं मतजा अर्थात् अन्यकिसी बात में चित्त मत लगा क्यूंकि जो आत्मध्यान में लीन नहीं होतेहैं वह दुःखही सहते हैं ॥

कालु अणाइ अणाइ जिउ, भवसायरुवि अणंतु ।
जीवें विरिणग पत्ताइं, जिणुसामिउं सम्मत्तु ॥ २७१ ॥

काल भी अनादि से है और जीव भी अनादि से है और संसारसागर अनन्त है परन्तु श्रीजिनेंद्र देव और सम्यक्त्व का पता जीवके बिना और कहीं न लगा अर्थात् सारे जगत् को ढूंढ मारो परमात्मा और सम्यक्त्व यह दोबातें जीवकेही लक्षण में मिलैंगी अन्य कहीं भी नहीं मिलैंगी इसकारण आत्मध्यानही में लगना चाहिये ॥

घर वासउ मा जाणि जिय, दुक्किय वासउ एहु ।
पासु कयंतें मंडियउ, अविचलु णीसंदेहु ॥ २७२ ॥

हे जीव घरकावास अर्थ तू स्त्री पुत्र आदिक में रहकर घर बसाना जोहै इस को तू इस के सिवाय और कुछ मत जान कि यह निःसंदेह एक अचल फांसी तेरे टांगने को गाड़ी गई है इस वास्ते घर बास छोड़ना योग्य है ॥

देहुवि जेत्थु ण अप्पणउ, तहिं अप्पणउ किं अण्णु ।
परकारणि म गणरुव तुहुं, सिव संगमु अवगण्णु ॥ २७३ ॥

जब देही अर्थात् शरीर भी अपना नहीं है तब अन्य कौन पदार्थ अपना हो सक्ताहै अर्थात् कोई पदार्थ अपना नहीं है इस कारण हे उत्कृष्टजीव तू परके कारण शिव संगम अर्थात् शुद्ध आत्मध्यान का निरादर मतकर अर्थात् आत्मध्यानको मतछोड़ ॥

करि सिव संगमु एक्कुपर, जहिं पा विज्जइ सोक्खु ।
जो इय अण्णु म चिंति तुहुं, जेण ण लब्भइ मोक्खु ॥ २७४ ॥

तू एक ही से शिव संगम कर अर्थात् एक शुद्ध आत्मा का ही ध्यान रख जिसमे तुझको सुखकी प्राप्तिहो अन्य किसी वस्तु की चिंता मतकर क्यूंकि अन्य पदार्थकी चिंता करने से तुझको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी ॥

वलि किउ माणुस जम्मडा, देक्खं तहं पर सारु ।
जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ, अह डज्झइ तोच्छारु ॥ २७५ ॥

मनुष्य शरीर के बलहारी, जो देखने में अति सुंदरहै परन्तु यदि इसका ढकाढोल खोलदिया जावे तौ अति घिणावना है और यदि इसको आग लगजावै तो राख होजातीहै ॥

उच्चलि चोप्पडि चेट्ठकारि, दोहि सु मिट्ठा हार ।
देहह सयल णिरत्थ गय, जह दुज्जणि उवयार ॥ २७६ ॥

देहको धोना अर्थात् कुरला करना हाथ धोना और चोपड़ना अर्थात् तेल फुलेल लगाना और कुंकुमआदिक लगाना मीठा भोजन देना यह सब निरर्थक है जैसा कि दुर्जन का उपकार करना व्यर्थ होताहै ॥

जेहउ जज्झरु णरयघरु, तेहउ जोइय काउ ।
णरय णिरंतरु पूरियउ, किम किज्जइ अणुराउ ॥ २७७ ॥

जैसे झाजरा अर्थात् छिद्र सहित बिष्टा का पात्रहै, जिसमें से बिष्टा गिरता रहै एसाही यह शरीर है जिसमें से मलमूत्र आदिक निकलता रहताहै-ऐसे शरीर के साथ कैसे अनुरागकियाजावै ॥

दुक्खइं पावइं असुचियइं, तिहुयणि सयलइं लेवि ।
एयहि देहु विणिम्मियउ, विहिण वइरु मुणेवि ॥ २७८ ॥

बिधना अर्थात् कर्मोंने जीव के साथ बैर करके समस्त दुःख तथा समस्त पाप और समस्त अशुचि पदार्थ इकट्ठे करके यह शरीर बनाया है ॥

जो इय देहु घिणावणउ, लज्जहि किएण रमंतु ।
णाणिय धम्म हरइ करहि, अप्पा विमलु करंतु ॥ २७९ ॥

हे ज्ञानी ऐसी घिणावणी देहके साथ प्रीति करने में लज्जाकर तू इससे क्यूं रमताहै इसको छोड़ और अपनी आत्माको निर्मल करने के अर्थ धर्मकर ॥

जो इय देहु परिच्चयहि, देहु ण भल्ला होइ ।
देह विभिण्णउ णाणमउ, सो तुहुं अप्पा जोइ ॥ २८० ॥

यह जो देह है इस का तू त्याग कर, देह भली नहीं है देह से भिन्न जो ज्ञानमयी आत्मा है उसही की तू खोज कर ॥

दुक्खहं कारणु मुणिवि मणि, देहुवि एहु चयंति ।

जित्थु ण पावहिं परम सुहु,तित्थु कि संतवसंति ॥ १८१ ॥

सत्पुरुष देह को दुःख का कारण जानकर देहकी ममत्व को छोड़ते हैं जिसमें परमसुख की प्राप्ति न हो उसमें सत्पुरुष कैसे रमैं अर्थात् नहीं रमते हैं ॥

अप्पा यत्तउ जं जि सुहु, तेण जि करि संतोसु ।

पर सुहु वढ चिंततयहं, हियइ ण फिट्टइ सोसु ॥ १८२ ॥

तू अपने आत्मीक सुख में संतोषकर पर पदार्थ से जो सुख उत्पन्न होता है उस से तृष्णा दूर नहीं होती है ॥

अप्पहं णाणु परिच्चइवि, अएणु ण अत्थि सहाउ ।

एहु जाणेविणु जोइयहो, परह म बंधहु राउ ॥ १८३ ॥

आत्मा ज्ञान स्वभाव है सिवाय इसके उसका और कोई स्वभाव नहींहै ऐसा जानकर हे योगी अन्य किसी पदार्थ से तू रागमतकर॥

विसय कसायहिं मण सालिलु,णावि डहुलिज्जइ जासु ।

अप्पा णिम्मलु होइ लहु, वढ पच्चक्खु वि तासु ॥ १८४ ॥

जिसका मन विषय कषाय में नहीं डोलता है अर्थात् संकल्प विकल्प से रहित है उसको सम्यक्तरूप नेत्रों से अपना शुद्धआत्मा प्रत्यक्ष नजर आता है॥

अप्पा परहं ण मेलविउ, मणु मारिवि सहसात्ति ।

सो वढ जोएं किं करइ, जासु ण एही सत्ति ॥१८५॥

अपनी आत्मा को परपदार्थ में न लगाना और समाधि रूप हथियार से मनको मारना यह काम जिससे नहीं होसक्ते हैं वह योगी बनकर क्या करेगा अर्थात् उसका योग वृथाहै ॥

अप्पा मिल्लिवि णाणमउ, अएणुजि झायहिं झाणु ।

वढ अएणाण वियंभि यहं, कउ तहं केवल णाणु ॥ १८६ ॥

अपनी ज्ञानमयी आत्मा को छोड़कर जो अज्ञानी पर पदार्थ का अवलम्वन करके ध्यान करता है अर्थात् पर पदार्थ में ध्यान लगाताहै उसको केवल ज्ञान कैसे प्राप्त होगा भावार्थ जोअपनी शुद्ध आत्मा का ध्यान नहीं करता उसको केवल ज्ञान प्राप्त नहीं हो सक्ता है ॥

सुएणउ पउ झायंताहं, वालिवलि जोइयडाहं ।

समरस भाउ परेण सहु, पुरणु ण पाउवि जाहिं ॥ ॥ १८७ ॥

जो योगी पुण्य पापसे रहित है और शुद्ध आत्माका ध्यान शुभ अशुभ विचार से रहित होकर करते हैं वह धन्य हैं मैं उनपर बलिहारा जाऊं ॥

उव्वासि वसिया जो करइ, वसिया करइ जो सुरणु ।
वलि किज्जउ तसु जोइयहं, जासु ण पाउ ण पुरणु ॥ १८८ ॥

जो उजड़े हुवे को बसाता है और बसे हुवे को उजाड़ताहै अर्थात् अपनी आत्मामें शुद्ध स्वभाव को प्राप्तकरता है और राग-द्वेषादिक भावों को दूरकरता है और जिसके पापहै न पुण्य है ऐसे योगीपर मैं कैसे बलिहार जाऊं अर्थात् वह योगी धन्यहैं ।

तुट्टइ मोहु तडत्ति जहिं, मणु अत्थवणु होजाइं ।
सो सामिय उवएसु कहि, अरणें देवें काइं ॥ १८९ ॥

हे स्वामी ऐसा उपदेश कह जिससे तुरंत मोह टूटजावै और मन स्थिर होजावै अन्य किसी देव आदिक से क्या प्रयोजन है अर्थात् हमारा प्रयोजन जो मुक्ति प्राप्त करने का है वह किसी देव आदिक से पूरा नहीं होसक्ता है मुक्ति तो मोह के दूरहोने और मन के स्थिरहोने से ही प्राप्तहोसक्ती है इसकारण उस ही का उपदेश कर।

णासत्रि णिग्गउ सासडा, अंबरि जित्थु विलाइ ।
तुट्टइ मोहु तडत्ति तहिं, मणु अत्थवण होजाइ ॥ १९० ॥

जहां अर्थात् जिस ध्यान में नाक से निकलनेवाला सांस तालूरंध्र (दशवां द्वार) से निकलने लगता है उस ध्यान में मोह तुरंत ही दूर होजाता है और मन स्थिर होजाता है-(ध्यान का विषय अन्य ग्रन्थों से पढ़ना चाहिये तब यह कथन समझ में आवैगा)

मोहु विलिज्जइ मणु मरइ, तुट्टइ सासुणि सासु ।
केवलणाणुवि परिणवइ , अंबरि जाहं णिवासु ॥ १९१ ॥

जिसका निज शुद्ध आत्मा में निवास है अर्थात् जो कोई अपनी आत्मा के ही ध्यान में मग्न है उसका मोह नाश होजाता है,मन मरजाता है अर्थात् स्थिर होजाताहै और नाक से सांस लेना भी टूटजाता है अर्थात् सांस तालूरंध्र से निकलता है उस ही को केवल ज्ञानहोता है-और मुक्ति प्राप्तहोती है॥

जो आयासहिं मणु धरइ, लोयालोय पमाणु ।
तुट्टइ मोहु तडत्ति तसु, पावइ परहं पवाणु ॥ २९१ ॥

जो कोई आत्मा को आकाश के समान लोक और अलोक के बराबर अपने मनमें धारण करता है उसका मोह तुरंत टूटजाता है और परमपद प्राप्तहोता है-भावार्थ जिस प्रकार आकाश स्वच्छ है पर द्रव्य से भिन्नहै और लोकालोक में व्याप्तहै इसही प्रकार आत्मा भी स्वच्छ और निर्मल है और सर्वज्ञ होने के कारण उसका ज्ञान लोकालोक में फैलता है इस हेतु जो कोई आकाश के समान अपनी जीवात्मा का विचार करताहै वह मोहका नाश करताहै ॥

देहि वसंतुवि णवि मुणिउ, अप्पा देउ अणंतु ।
अंवरि समरासि मणु धरिवि, सामिय णट्ठु णिभंतु॥ २९३॥

हे स्वामी मैंने वृथा काल गंवाया और अपनी देहमें बसती हुई अनन्तशक्तिवान् आत्मा को न जाना और आकाश के समान समता भाव मनमें धारण न किया ॥

सयलवि संग ण मेल्लिया, णवि किउ उवसम भाउ ।
सिवपय मग्गुवि मुणिउ णवि, जहिं जोएइं अणुराउ ॥ २९४ ॥
घोरुण चिण्णउ तवयरणु, जंणिय वोहहंसारु ।
पुण्णावि पाउवि दट्ठु णवि, किम छिज्जइ संसारु ॥ २९५ ॥

सर्वप्रकारके परिग्रह को दूरनहीं किया और न उपसमभाव धारण किया और मोक्ष और मोक्ष के मार्ग को जिससे योगी जन अनुराग करते हैं नहीं जाना और वह तपश्चरण नहीं किया दुर्द्धरपरीसह काजीतना जिसका चिह्न है और जो सारभूत है अर्थात् मोक्ष प्राप्तिका असली कारण है-और पुण्य और पाप को नष्ट नहीं किया तब यह संसार परिभ्रमण कैसे दूरहो ॥

दाणु ण दिण्णउ मुणिवरहं, णवि पुज्जिउ जिणणाहु ।
पंच ण वंदिय परमगुरु, किम होसइ सिवलाहु ॥ २९६ ॥

मुनिको दान नहीं दिया और श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा नहीं की और पंचपरमेष्ठी की वंदना नहीं की तब मोक्ष सुखका लाभ कैसे होगा ॥

अद्धुम्मीलिय लोयणइ, जोउ किज्झं पियएहिं ।

एमइ लब्भइ परमगइ, णिच्चिंताहि ठियएहिं ॥ २९७ ॥

आधी आंख खुले रखने से वा आंख बिल्कुल बंदकरलेने से परम पदकी प्राप्ति नहीं होती है वह तो चिन्ता के दूर होने से ही प्राप्तहोता है-भावार्थ ध्यान करने के समय आधी आंख उघाड़कर वा सारी आंख मूंदकर बैठजाने से क्याहोता है-जबतक चिन्ता दूर नहीं हुई है ॥

जोइय मेल्लहि चिंत जइ, तो तुट्टइ संसारु ।
चिंता सत्तउ जिणवरुवि, लहइ ण हंसाचारु ॥ १९८ ॥

यदि तू चिन्ता को छोड़देगा तो तेरा संसारपरिभ्रमण दूर होजायगा श्रीजिनेंद्रभगवान् कोभी संसार अवस्था में जबतक चिंताका सद्भाव रहा तबतक आत्मस्वरूप को प्राप्त न होसके ॥

जोइय दुम्मइ कवण तुहुं, भव कारणि ववहारि ।
बंभु पवंचहि जो रहिउ, सो जाणिवि मणु मारि ॥ २९९ ॥

हे जीव तुझ में कैसी मूर्खताई है कि संसार में परिभ्रमण करने का कारण जो व्यवहार है उसमें तू लगता है तू सर्वप्रकार के प्रपंच से रहित अर्थात शुद्ध ब्रह्मको जान और अपने मन को मार अर्थात् स्थिर कर ॥

सव्वहिं रायहिं छह रसहिं, पंचहि रूवहिं जंतु ।
चित्तु णिवारिवि झाइ तुहुं, अप्पा देउ अणंतु ! ३०० ॥

सर्वप्रकार के राग, षटरस, पंच प्रकार के रूप को चित्त में से दूर करके तू अपनी आत्मारूपी अनन्त देव का ध्यान कर ॥

जेण सरूवें झाइयइ, अप्पा एहु अणंतु ।
तेण सरूवें परिणवइ, जहं फलिहउ मणि मंतु ॥ ३०१ ॥

यह अनन्त आत्मा जिस स्वरूप का ध्यान करती है तिसही रूप परिणव जाती है अर्थात उसही रूप होजाती है जैसे फटिक मणि के साथ जिस रंग की डांक लगा दीजावे वैसाही रंग मणि का हो जाता है ॥

एहु जो अप्पा सो परमप्पा, कम्म विसेसें जायउ जप्पा ।
जावहि जाणइ अप्पें अप्पा, तावइं सो जी देउ परमप्पा ॥ ३०२ ॥

यह जो आत्मा है यह ही परमात्मा है कर्मों के वशसे परा-

धीन होरहा है और जब अपनी आत्मा को जान लेता है तब ही वह परम देव होजाता है ॥

जो परमप्पा णाणमउ, सो हउ देउ अणंतु ।
जो हउ सो परमप्पु परू, एहउ भावि णिभंतु ॥ १०३ ॥

जो परमात्मा ज्ञानमयी है वह ही अनन्त देव है उसही परमात्मा को तू निःसंदेह अनुभवन कर ॥

णिम्मल फलिहहं जेम जिय, भिणउ परकिय भाउ ।
अप्प सहावहं तेम मुणि, सयलुवि कम्म सहाउ ॥ १०४ ॥

जिस प्रकार निर्मल फटिक मणि डांक के लगने से डांक के रंग को ग्रहण करलेती है परन्तु असलियत में वह शुद्धही होती है इस ही प्रकार तू अपनी आत्मा को जान कि कर्मों के कारण उस का बिपरीत भाव होरहा है असल में आत्मा शुद्धही है ॥

जेम सहावें णिम्मलउ, फलिहउ तेम सहाउ ।
भंतिए मइलु म मणिण जिय, मइलउ देक्खिवि काउ ॥ १०५ ॥

जिस प्रकार फटिक मणि निर्मल है इसही प्रकार आत्मा निर्मल है तू शरीर को मैला देखकर अपनी आत्मा को मैला मत मान ॥

रत्ते वत्थे जेम बहु, देहु ण मण्णइ रत्तु ।
देहें रत्तें णाणि तहं, अप्पु ण मण्णइ रत्तु ॥ १०६ ॥
जिण्णें वत्थें जेम बहु, देहु ण मण्णइ जिण्णु ।
देहें जिण्णें णाणि तहं, अप्पु ण मण्णइ जिण्णु ॥ १०७ ॥
वत्थु पणट्ठइं जेम बुहु, देहु ण मण्णइ णट्ठु ।
देहें णट्ठें णाणि तहं, अप्पु ण मण्णइ णट्ठु ॥ १०८ ॥
भिण्णउ वत्थु जि जेम जिय, देहहो मण्णइ णाणि ।
देहु वि भिण्णउ णाणि तहं, अप्पहं मण्णइ जाणि ॥ १०९ ॥

जिस प्रकार लालवस्त्र पहने हुवे मनुष्य का शरीर लाल रंग का नहीं समझा जाताहै इसही प्रकार ज्ञानी जन लालरंगका शरीर देखकर आत्माको लालरंगकी नहीं मानते हैं ॥

जिस प्रकार जीर्ण अर्थात् बोदे पुराने वस्त्रको देखकर शरीर जीर्ण नहीं माना जाताहै इसही प्रकार ज्ञानी पुरुष देहको जीर्ण देखकर आत्माको जीर्ण नहीं मानता है ॥

वस्त्रके नाश होजाने से जिस प्रकार देहका नाश होना नहीं माना जाता है इसही प्रकार ज्ञानी पुरुष देहके नष्ट होजाने से आत्माका नष्ट होना नहीं मानते हैं ॥

जिस प्रकार ज्ञानी पुरुष वस्त्रको देहसे जुदा मानता है इसही प्रकार ज्ञानवान् आत्माको देहसे भिन्न जानताहै ॥

एउ तणु जीवड तुज्झु रिउ, दुक्खइं जेण जणेइ ।
सो परजाणहि मित्तु तुहु, जो तणु एहु हणेइ ॥ ३१० ॥

हे जीव यह शरीर तेरा वैरी है क्यूंकि दुक्खों को उपजाता है इस कारण जो कोई तेरे शरीर को हनन करता है मारताहै उस को तू अपना मित्र समझ ॥

उदयहं आणिवि कम्मु मइं, जं भुंजेव्वउ होइ ।
तं सइं आविउ खविउ मइ, सो परलाहुजि कोइ॥ ३११ ॥

महातपस्वी योगी जन पूर्व संचित कर्मों को अपने आत्मिक वलसे उदय में लाकर नष्ट करते हैं—वहही कर्म यदि आपही उदय में आकर नष्ट हो जावै तो वहुतही भली बात है अर्थात् कर्मके उदय आनेपर और किसी प्रकारका कष्ट होनेपर आनन्द मानना चाहिये कि इस प्रकार यह कर्म जो उदय आगयाहै अपना फल देकर नष्ट होजावेगा कर्म के उदय से जो कष्ट आवै उसमें क्लेश नहीं मानना चाहिये ॥

णिट्ठुर वयणु सुणेवि जिय, जइ मणि सहण ण जाइ।
तो लहु भावहिं वंभु परु, जं मणु झत्ति विलाइ ॥ ३१२ ॥

हे जीव यदि तेरा मन खोटे वचनों को नहीं सह सक्ता है तो परब्रह्म अर्थात् शुद्ध आत्मा के ध्यान में लीन होजा जिससे तेरा मन आनंदित होजावै ॥

लोउ विलक्खणु कम्म वसु, इत्थु भवंतरि एइ ।
चोज्जु किंइहु जइ अप्पि ठिउ, इत्थ जि भवि ण पडेइ ॥ ३१३ ॥

कर्मों के वश होकर संसारी जीवों के नाना प्रकार के भेद होरहे हैं अर्थात कोई पशु है कोई मनुष्य है कोई धनाढ्य है कोई कंगाल है इत्यादिक—और कर्मों के ही कारण यह जीव संसार में रुलता है—यदि यह जीव अपनी आत्मा में स्थिर होजावे अर्थात् कर्मों का

नाश कर देवे तो इस को संसार में रुलना न पड़े इस में कोई आ-श्चर्य की बात नहीं है ॥

अवगुण गहणइ महु तणइ, जइ जी वह संतोसु ।
ते तहं सुक्खहं हेउ हउ, इउ मण्णिवि चइ रोसु ॥ ११४ ॥

जो मेरे अवगुणों को ग्रहण करते हैं अर्थात् मेरी बुराई करते हैं उन को मेरी बुराई करने में आनन्द आता है इस कारण मैं उन के आनन्द का हेतु हुवा अर्थात् मेरे कारण उन का उपकार हुवा ऐसा मान कर और रोष अर्थात् क्रोध को दूर करके संतोष ग्रहण करना चाहिये ॥

जो इय चिंति म किंपि तुहुं, जइ वीहिउ दुक्खस्स ।
तिल तुस मित्तुवि सल्लडा, वे यण करइ अवस्स ॥ ११५ ॥
मोक्खु म चिंतहि जोइया, मोक्खु ण चिंतिउ होइ ।
जेण णिबद्धउ जीवडउ, मुक्खु करीसइ सोइ ॥ ११६ ॥

यदि तू दुःख से डरता है तो किसी प्रकार की भी चिंता मतकर अर्थात् चिंता को छोड़ जैसे जरासा कांटा भी दुःखदाई होता है ऐसेही जरासी चिंता भी दुःखदाई होतीहै-

हे योगी तू मोक्षकी भी चिंता मतकर क्यूंकि चिंता से मोक्ष नहीं मिलता है-जिसने जीव को बांध रक्खा है उस ही से तू जीव को छुड़ा भावार्थ-चिंता को दूर कर ॥

सयल वियप्पहं जो विलउ, परम समाहि भणंति ।
तेण सुहासुह भावडा, मुणि सयलवि मेल्लंति ॥ ११७ ॥

समस्त विकल्पों से रहित होने को परम समाधि कहते हैं इस कारण मुनि महाराज समस्त शुभ अशुभ भावों का त्यागकरते हैं

परम समाहि महा सरहि, जे बुड्डहि पइसेवि ।
अप्पा थक्कइ विमलु तहं, भव मल जंति वहेवि ॥ ११८ ॥

जो कोई परम समाधि रूप महा सरोवर में सर्वांग डूबता है अर्थात् शुद्ध आत्म ध्यान में लीन होता है वह संसार रूपी मैल को धोकर शुद्ध आत्मा होजाता है ॥

घोरु करंतुवि तवयरणु, सयलावि सत्थ मुणंतु ।
परम समाहि विवज्जियउ,णावि देक्खइ सिउसंतु ॥ ११९ ॥

जो घोर तपश्चरण करता है और जिसने सब शास्त्र भी पढ़ लिये हैं परन्तु जिसमें परम समाधि नहीं है तो वह शिव संत अर्थात अपनी शुद्ध आत्माको नहीं देखसक्ता है-भावार्थ मोक्ष नहीं पासक्ता है ॥

विसय कसाय विणिहलिवि,जो ण समाहि करंति ।
ते परमप्पहं जोइया , णवि आराहय हुंति ॥ ३२० ॥

जो विषय कषाय को नाश करके परम समाधि को नहीं करते हैं वह योगी परमपद की आराधना करनेवाले नहीं हैं ॥

परम समाहि धरेवि मुणि, जे परबंभु ण जंति ।
ते भव दुक्खइं बहु विहइं, कालु अणंतु सहंति ॥ ३२१ ॥

जो मुनि परम समाधि लगाकर परमब्रह्म अर्थात् शुद्ध आत्मा का अनुभवन नहीं करते हैं वह बहुत कालतक बहुत प्रकार के दुःखों को सहते रहते हैं अर्थात् संसार में भ्रमते रहते हैं ॥

जाम सुहासुह भावडा, णवि सयलवि तुट्टंति ।
परम समाहि ण ताम मणि, केवलि एम भणंति ॥ ३२२ ॥

जबतक सर्व शुभाशुभ भाव दूर नहीं होजाते हैं तबतक परम समाधि नहीं होती है ऐसा श्री केवली भगवान् ने कहा है ॥

सयल वियप्पहं तुट्टाहं , सिवपिय गणि वसंतु ।
कम्म चउक्कइं विलयगइ, अप्पा होइ अरहंतु ॥ ३२३ ॥

सर्वप्रकार के विकल्प को दूर करके और मोक्ष मार्ग को ग्रहण करके चार घातिया कर्मों का नाश करके यह आत्मा अर्हंत होजाती है-अर्थात् केवल ज्ञान और परमानन्द प्राप्तहोजाता है ॥

केवल णाणंहि अणवरउ, लोयालोउ मुणंतु ।
णियमेंइं परमाणंद मउ, अप्पा होइ अरहंतु ॥ ३२४ ॥

यह आत्माही अर्हंत पदको प्राप्त करतीहै और आवरण रहित केवल ज्ञान से लोक अलोककी सर्व वस्तु को जानतीहै और परमानन्दमयी है ॥

जो जिणु परमाणंद मउ, केवल णाण सहाउ ।
सो परमप्पउ परमपउ, सो जिय अप्प सहाउ ॥ ३२५ ॥

श्रीजिनेंद्र भगवान् परमानन्दमयी और केवल ज्ञान सुभाव के

धारीहैं वहही उत्कृष्ट परमपद जीवात्माका सुभावहै अर्थात् आत्मा का असली सुभाव वही है जो परमात्माका हैऔर आत्माही परमात्मपदको प्राप्त होकर जिन बनजातीहै ॥

जीवा जिणवर जो मुणइ, जिणवर जीव मुणेइ ।
सो समभाव परिट्ठियउ, लहु णिव्वाणु लहेइ ॥ ३२६ ॥

जो कोई पुरुष जीवको जिनेंद्र देव मानताहै और जिनेंद्र भगवान् को जीव मानता है अर्थात् यह समझता है कि संसारी जीव ही शुद्ध होकर जिनेंद्र देव होजाता है वह पुरुष समभाव में स्थित हुवा शीघ्र ही निर्वाण पदको प्राप्त करता है ॥

सयलहं कम्महं दोसहंवि, जो जिणु देउ विभिण्णु ।
सो परमप्प पयासु तहुं, जोइय णिय में मण्णु ॥ ३२७ ॥

सर्व कर्मों और दोषों से रहित श्रीजिनेंद्रदेव को ही हे योगी तू परमात्म प्रकाश समझ ॥

केवल दंसण णाण सुहु, वीरिउ जोजि अणंतु ।
सो जिणु देउ जि परम मुणि, परम पयासु मुणंतु ॥ ३२८ ॥

केवल दर्शन केवल ज्ञान अनन्त सुख अनन्त वीर्य इस प्रकार अनन्त चतुष्टय के धारी श्रीजिनेंद्रदेव ही परम मुनि हैं और वह ही परात्मा प्रकाश हैं ॥

जो परमप्पउ परमपउ, हरिहरु बंभु विबुद्ध ।
परमपयासु भणंति मुणि, सो जिणुदेउ विसुद्ध ॥ ३२९ ॥

जो परमात्मा परमपदहै जिसको हरिहर वा ब्रह्म वा बुद्ध वा परमात्म प्रकाश कहतेहैं वह शुद्ध जिनेंद्रदेव है ॥

झाणें कम्मक्खउ करिवि, मुक्कइ होइ अणन्तु ।
जिणवर देवइ सोजि जिय, पभणिउ सिद्धु महंतु ॥ ३३० ॥

श्री जिनेंद्रदेवने उस जीवको सिद्ध महंत बताया है जिसने ध्यान के द्वारा कर्मोंका नाश करके अनन्त मुक्तिको प्राप्त कियाहै

जम्मण मरण विवज्जियउ, चउगइ दुक्ख विमुक्कु ।
केवल दंसण णाणमउ, णंदइ तित्थु जि मुक्कु ॥ ३३१ ॥

वह सिद्ध भगवान् जन्ममरण से छूटकर और चारों गतिके दुःखों से रहित होकर केवल दर्शन और केवल ज्ञान के आनन्द में मुक्ति स्थान में रहते हैं ॥

जे परमप्प पयास मुणि, भावें भावहिं सत्थु ।
मोहु जिणेविणु सयलु जिय, ते वुज्झहिं परमत्थु ॥ १३२ ॥

जो कोई मुनि इस परमात्म प्रकाश को शुद्धभाव से ध्यावेंहैं और जिन्होंने समस्त मोह कर्मको जीतलिया है वेही परमात्मपदको पहचानते हैं ॥

अण्णुजि भत्तिए जे मुणहिं, एहु परमप्प पयासु ।
लोयालोय पयास यरू, पावहिं तेवि पयासु ॥ १३३ ॥

अन्य जो मुनि परमात्मा प्रकाश के भक्त हैं वह सर्व लोकालोकको प्रकाशकरनेवाला प्रकाश अर्थात् ज्ञान प्राप्त करते हैं ॥

जे परमप्प पयास यहं, अणुदिणु णाउ लयंति !
तुट्टइ मोहु तडत्ति तहिं, तिहुवण णाह हवंति ॥ १३४॥

जो प्रतिदिन परमात्मा प्रकाश का नाम लेते हैं उनका मोह कर्म तुरंत टूटजाता है और वह तीनलोक के नाथ होजाते हैं ॥

जे भव दुक्खहं वीहिया, पउ इच्छहिं णिव्वाणु ।
एहु परमप्प पयास यहं, ते पर जोग्ग वियाणु ॥ १३५ ॥

इस परमात्माप्रकाश ग्रन्थको आराधन करने के वहही योग्य हैं जो संसार दुःख से भयभीत हैं और निर्वाणपदको चाहते हैं ॥

जे परमप्पय भत्तियए, विसयावि जे ण रमंति ।
ते परमप्प पयास यहं, मुणिवर जोग्ग हवंति ॥ १३६ ॥

वहही मुनि परमात्मा प्रकाश के योग्य हैं जिन को परमात्मपद की भक्ति है और जो विषयों में नहीं रमते हैं ॥

णाण वियक्खणु सुद्ध मणु, जो जणु एहउ कोइ ।
सो परमप्प पयासहं जोग्गु, भणंति जि जोइ ॥ १३७ ॥

जो विचक्षण ज्ञानी है और मन जिसका शुद्ध है ऐसा जोकोई पुरुषहै वहही परमात्माप्रकाश के योग्य कहागया है ।

लक्खण छंद विवज्जियउ, एहु परमप्प पयासु ।
कुणइं सहावें भावियउ, चउगइ दुक्ख विणासु ॥ १३८

यह परमात्मा प्रकाश जो छन्द अर्थात् कविताई के लक्षण से रहित है अर्थात् कविताइ का विचार छोड़कर परमात्मपद का जो स्वरूप इस में वर्णन कियागया है उस को जो कोई शुद्धभाव से ध्यावे है उसके चारोंगति के दुःख नाश होजाते हैं ॥

एत्थु ण लिक्खउ पंडियहिं, गुणु दोसुवि पुण रुत्तु ।

भट्ट पहायर कारणइ , मइ पुणु पुणुवि पउत्तु ॥ ३३९ ॥

पण्डितों को चाहिये कि इस ग्रन्थमें बारबार एक बातको कहने के गुणदोष को न पकड़ें क्यूं कि मैंने प्रभाकरभट्ट के समझाने के अर्थ एक एक बात को बारबार कहा है ॥

जं मइ किंपिवि जंपियउ, जुत्ताजुत्तु वि एत्थु ।

तं वरणाणि खमं तु महु, जे बुज्झहिं परमत्थु ॥ ३४० ॥

इस ग्रन्थ में यदि कोई बात मैंने युक्त अयुक्त कही है तो परमार्थ के जाननेवाले मुझपर क्षमाकरैं ॥

॥ काव्य ॥

जं तत्तं णाणरूवं परम मुणिगण णिच्च झायंति चित्ते ।

जं तत्तं देह चत्तं णिवसइ भुवणे सव्व देहीण देहो ॥

जं तत्तं दिव्व देहं तिहुवण गुरुवं सिज्झए संतजीवे ।

तं तत्तं जस्स सुद्धं फुरइ णियमणे पावए सोहु सिद्धं ॥ ३४१ ॥

जिस ज्ञान स्वरूप तत्व को परम मुनिगण नित्य अपने मनमें ध्यान करते हैं जो तत्व देहसे भिन्न है और जगत में सर्व देहधारियों की देह में बसताहै जिस तत्वकी देह दिव्यस्वरूपहै अर्थात् ज्ञानकी ज्योति से प्रकाशमान है और जो तत्व तीन लोकमें प्रतिष्ठितहै अर्थात् पूजनीकहै और संतजीवों को जिस तत्वकी सिद्धि होतीहै ऐसा शुद्ध तत्व जिसके हृदयमें प्रकट हुवाहै उसको निश्चयरूप सिद्धि प्राप्त होतीहै अर्थात् वह मुक्ति पदको पाताहै ॥

परमपयगयाणं भासओ दिव्व काओ ।

मणसि मुणिवराणं मोक्खदो दिव्व जोउ॥

विसय सुहरयाणं दुल्लहो जो हु लोए ।

जयउ सिव सरूवो केवलो कोवि बोहो ॥ ३४२ ॥

वह शिवस्वरूप केवली भगवान् जयवंत रहैं जिनका दिव्य शरीर है और परमपदको प्राप्त हुवे हैं और जो मुनियों के नाथहैं और जिनका वह दिव्य अर्थात् शुक्ल ध्यानहै जो मुक्तिका देने वालाहै और जो ध्यान विषय सुख में आसक्त जीवों को इस लोकमें प्राप्त होना दुर्लभ है ॥

छपेहुए सर्वजैनशास्त्र हमारे पास मिलते हैं-

सूरजभानु वकील

देवबन्द, ज़िला सहारनपुर.

❀ पण्डित सूरचंद जी कृत ❀

जिसको

मुन्शी अमनसिंह सुनपतनगर निवासी
अपील नवीस कश्मीरीदरवाजा दिल्ली
ने संशोधन टिप्पण औ शब्दार्थ
कोषसे सुशोभितकर

लखनऊ

लाला कन्हैयालाल भगवानदास जैन
के जैनयन्त्रालय में मुद्रितकराया

जूलाई सन् १९०० ई०

प्रथमबार १००० मोलप्रतिपुस्तक≡)

॥ भूमिका ॥

॥ दोहाछंद ॥

नमूँ देव अर्हंत पद युगल हस्त सिर धार ।
जिनसमाधियुतमरणविधि बरणौंजियहितकार ॥

प्रघट हो कि जो भव्य जीव मृत्यु काल विषे विचार पूर्वक चित्त की विचित्रता के चित्रको नष्टकर संसार की ममता छार समता धार अपने निज स्वरूप में लीनहो देहछोडतेहैं उसविचारको समाधिमरणकह-तेहैं–पंडित सूरचंद जीने अनुग्रह कर हमसे संसारी अज्ञात जीवोंके उद्धारार्थ यह समाधिमरण पाठ सं-वत् १६२५ विक्रमी विषे अति सुगम हिन्दीभाषा में रचा जो अति लाभदायक प्रशंसनीक पाठ है सो मूर्ख लेखकों की अज्ञानता से कहीं कहीं अशुद्ध होरहाथा अब मैंने बड़े परिश्रम से कई यक प्रति देख अपनी तुच्छ बुद्धि अनुसार शब्द वा छंद मा-त्राओं से शुद्धकर विशेष सुगमता अर्थ कहीं कहीं योगस्थानपर टिप्पणभी करा और अंत में एक शा-

ब्दार्थ कोष लिखकर लगादिया—अब विद्वज्जनोंप्र-ति सविनय निवेदन है यदि कहीं भूलचूक होगईहो तो शुद्धकरलें औरमुझको पत्रद्वरा सूचितकरें जिस पुस्तकपर मेरी मुहर छाप न हो सो चोरीकी समझी जायगी ॥

सम्बत् १९५७ ॥

कृपाभिलाषी

अमनसिंह अग्रवाल जैनी

सुनपत नगर निवासी हाल अपीलनवीस

कश्मीरी दरवाजा—दिल्ली

* श्रीजिनायनमः *

॥ समाधिमरण भाषा ॥

॥ पण्डित सूरचंदजी रचित ॥

॥ नरेन्द्र[1] छन्द ॥

वंदूं श्रीअर्हंत परम गुरु जो सबकों सुखदाई ।
इसजग में दुख जो मैं भुगते सो तुम जानोराई ॥
अबमैंअरजकरूं नितनुमसे करसमाधिउरमाहीं।
अंतसमें में यह मैं मांगूं सो दीजे जगराई ॥ १ ॥
भवभवमेंतनधारनये मैं भवभव शुभसंगपायो ।
भवभवमें नृपऋद्धिलईमैं मातपितासुतथायो ॥
भवभवमें तनपुरुष तनोधर नारीहूं तन लीनो।
भवभवमेंमैं भयोनपुंसक आतमगुणनहिंचीनो॥२॥
भवभवमें सुरपदवी पाई ताके सुखअति भोगे ।
भवभवमें गतिनर्कतनोधर दुखपायो विधयोगे ॥
भवभवमें तिर्यंचयौनिधर पायो दुखअतिभारी ।

१—इस छंदके चारो चर्णों में चर्णप्रति सोलहमात्रा पर विश्राम देकर बारहमात्रा आगे मिलाने से सर्व अट्ठाईसमात्रा होती हैं चर्ण के अंतमें दो वर्ण गुरुजानो इसछंद को चाल जोगीरासाभी कहते हैं प्रायः प्रभातीरागनी इसी चाल में गाईजाती है ॥

भवभवमेंसाधर्मीजनकी संगतिमिलहिकरारी ॥ ३ ॥
भवभवमें जिनपूजनकीनी दानसुपात्रहिदीनो ।
भवभवमें मैं समवसर्ण में देखोजिनगुणभीनो ॥
एतीवस्तुमिलीभवभवमें सम्यकगुणनहिंपायो ।
नासमाधियुत मर्णकरोमैं तातेजग भरमायो ॥ ४ ॥
काल अनादिभयोजगभ्रमते सदाकुमर्णहिकीनो ।
एकबारहूं सम्यक्युतमें निजआतम नहिंचीनो ॥
जो निजपरको ज्ञान होय तो मर्णसमें दुखकाई ।
देह[1] विनाशीमैं निजभाशी जोति स्वरूप सदाई ॥ ५ ॥
विषयकषायन में वशहोकर देहआपनो जानो ।
करमिथ्याशरधानहियेबिच आतमनाहिंपिछानो ॥
योंकलेश हियधारमरणकर चारोंगति[2]भरमायो ।
सम्यकदर्शन[3] ज्ञान तीनये[3] हिरदेमें नाहिं लायो ॥ ६ ॥
अबयाअरजकरूं प्रभुसुनये मरणसमेंयहमांगो ।
रोगजनित पीड़ामतहोऊ अरुकषायमतजागो ॥

१—देह नाशहोनेवाली है और मैं कहिये आत्मा आपही प्रकाशमान सदा जोतिस्वरूप है भावार्थ यह शरीर नाशहोनेवाला है और आत्मा आपही अपने गुण से प्रकाशमान सदा जोतिस्वरूप है जिसको किसी प्रकार बाधा नहींहोती ॥ २—नर्कगति १ तिर्यंचगति २ देवगति ३ मनुष्यगति ४ ॥ ३—सम्यकदर्शन यथार्थ शरधान १ सम्यकज्ञान यथार्थबोध २ सम्यक चारित्र यथार्थ आचरण ३ ॥

ये सुभमरणसमें दुखदाता इन हर साताकीजे।
जोसमाधियुतमरणहोयसुभ अरुमिथ्यागदछीजे॥७॥
यहतन सात कुधात मई है देखतही घिनआवे।
चाम लपेटी ऊपर सोहै भीतर मिष्टा पावे॥
अति दुर्गंध अपावन सो यह मूरखप्रीतिबढ़ावे।
देह विनाशी यह अविनाशी नित्यस्वरूपकहावे॥८॥
यह तन जीर्ण कुटीसममेरो यातें प्रीत न कीजे।
नूतनमहलमिलेफिरहमकूं यामेंक्यासुभछीजे॥
मृत्युहोन से हानिकौन है याको भय मतलावो।
समतासे जो देहतजोगे तो शुभतन तुम पावो॥९॥
मृत्यु मित्र उपकारी तेरो इस औसर के माहीं।
जीरणतनसे देतनयो यह या सम साऊ नाहीं॥
या सेती तुम मृत्युसमेंनर उत्सव अतिहीकीजे।
क्लेशभावको त्यागसयाने समताभाव धरीजे॥१०॥
जोतुम पूरबपुण्य कियेहैं तिनको फलसुखदाई।
मृत्युमित्र बिन कौन दिखावे स्वर्ग संपदा भाई॥

१—रस शरीरमें खायहुये अन्नआदिका पहिलापरिणाम अर्थात् भोजनकी प्रथम अवस्थाकानाम १ रुधिर २ मान्स ३ मेदअर्थात् चर्बी ४ अस्थि अर्थात् हाड़ ५ मज्जा अर्थात् हाडके भीतर का गूदा ६ वीर्य ७॥

२—देहनाश होनेवालीहै अरु यह कौन जीव नित्तस्वरूप अर्थात् अविनाशीहै

राग दोष को छोड़सयाने सात[1] विषन दुखदाई ।
अंतसमें में समता धारो पर भव पंथ सहाई ॥११॥
कर्म महा दुठ बैरी मेरो ता सेती दुख पावे ।
तन पिंजरेमें बंध कियोमुझ जासों कौनछुड़ावे ॥
भूख तृषा दुख आदि अनेकन इसहीतनमेंगाढ़े ।
मृत्युरायअब आपदयाकर तन पिंजरेसेकाढ़े ॥१२॥
नाना वसना भूषण मैंने इस तनको पहराये ।
गंधसुगंधे अतर लगाये षटरस[2] अशनकराये ॥
रात दिना में दासहोयकर सेवकरी तन केरी ।
सोतनमेरे काम न आयो भूलरह्योनिधि मेरी ॥१३॥
मृत्युरायको सरण पायकर नूतन ऐसो पाऊं ।
जामें सम्यगरतन[3]तीनयह आठों[4] कर्म खपाऊं ॥
देखो तन सम कृतघ्नीना और सु या जगमाहीं ।
मृत्युसमें में येही परियन सबही हैं दुखदाई ॥ १४॥
यहसबमोह बढ़ावन हारे जी को दुर्गतिदाता ।

१—जुवाखेलना १ मान्सखाना २ मदिरापीना ३ वेश्यासेवन ४ शिकारखेलना ५ चोरीकरना ६ परपुरुषकी स्त्री भोगना ७ ॥

२—दूध १ दही २ घृत ३ तेल ४ मीठा अर्थात् खाड़बूराआदि ५ नमक ६

३—सम्यकदर्शन १ सम्यकज्ञान २ सम्यकचारित्र ३ ॥

४—ज्ञानावर्णी १ दर्शनावर्णी २ मोहनी ३ अंतराय ४ ये चारोंकर्म घातिया कहलाते हैं जो आत्मा के गुणको घात करते हैं आयु ५ वेदनी ६ नाम ७ गोत्र ८ ये चारोंकर्म अघातिया कहलाते हैं ॥

इनसे ममत निवारो जियरा जो चाहो सुखसाता ॥
मृत्युकल्पद्रुम पाय सयाने मांगो इच्छा जेती ।
समता धरकर मृत्यु करो तो पावो संपति एती ॥ १५ ॥
चौ[1]आराधन सहित प्राण तज तौ ये पदवी पावो ।
हरि[2] प्रति[3] हर चक्री[4] तीर्थेश्वर[5] स्वर्ग मुकति में जावो ॥
मृत्युकल्पद्रुम सम नहिं दाता तीनों[6] लोक मंझारे ।
ताको पाय कलेश करो मत जन्म जवाहर हारे[7] ॥ १६ ॥
इस तन में क्या राचो जियरा दिन दिन जीरण होवे ।
तेज कांति बल नित्त घटत है या सम अथिर सु को है ॥

१—दर्शन १ ज्ञान २ चारित्र ३ तप ४ ॥

२—हर अर्थात नारायण नव हैं त्रिपृष्ट १ द्विपृष्ट २ स्वयंभू ३ पुरुषोत्तम ४ पुरुषसिंह ५ पुंडरीक ६ पुरुषदत्त ७ लक्ष्मण ८ कृष्ण ९ ॥

३—प्रतिहर अर्थात् प्रतिनारायण नव हैं अश्वग्रीव १ तारक २ मेरुक ३ निशुंभ ४ मधुकैटभ ५ बलि ६ प्रहरण ७ रावण ८ जरासिंघ ९ ॥

४—चक्रवर्ति बारह हैं भरत १ सगर २ मघवान ३ सनत्कुमार ४ शांतिनाथ ५ कुंथनाथ ६ अरहनाथ ७ सुभूमि ८ महापद्म ९ हरिषेण १० जयसेन ११ ब्रह्मदत्त १२

५—तिर्थंकर चौबीस हैं ऋषभनाथ १ अजितनाथ २ संभवनाथ ३ अभिनंदननाथ ४ सुमतिनाथ ५ पद्मप्रभु ६ सुपार्श्वनाथ ७ चंद्रप्रभु ८ पुष्पदंत ९ शीतलनाथ १० श्रेयांशनाथ ११ वासपूज्य १२ विमलनाथ १३ अनंतनाथ १४ धर्मनाथ १५ शांतिनाथ १६ कुंथनाथ १७ अरहनाथ १८ मल्लिनाथ १९ मुनिसुव्रतनाथ २० नमिनाथ २१ नेमनाथ २२ पार्श्वनाथ २३ वर्द्धमान २४ ॥

६—ऊर्द्धलोक १ मध्यलोक २ पाताललोक ३ ॥

७—क्लेश जन्मरूप जवाहरके हरनेवाले हैं भावार्थ क्लेश जन्म के बिगाड़नेवाले दुर्गति में पहुंचाने वाले हैं ॥

पांचोइंद्री शिथलभई तब स्वांसशुद्धनहिंआवै ।
तापरभीममतानाहिंछोड़े समता उर नहिंलावै ॥ १७॥
मृत्युराय उपकारी जियके तिनसे तोहिछुड़ावे ।
नातर या तन बंदीग्रहमें पड़ापड़ा बिललावे ॥
पुद्गलके परमाणु मिल के पिंडरूप तन भासी ।
येहीमूरतीमें अमूरती ज्ञान जोति गुणखासी ॥१८॥
रोगसोग आदिक जो वेदन तेसबपुद्गल लारे ।
मैंतो चेतन व्याधि बिनानित हैस्वयभाव हमारे ।
यां तन से इस छेत्रसंबंधी कारण आनबनोहै ॥
खानपानदे याको पोषो अब समभाव ठनोहै ॥१९॥
मिथ्यादर्शनआतमज्ञानबिन यहतनअपनोजानो ॥

१—कर्णइंद्री सुनेकी शक्ति १ चक्षुइंद्री देखने की शक्ति २ नासिकाइंद्री सूंघनेकीशक्ति ३ जिभ्याइंद्री स्वादलेनेकीशक्ति ४ स्पर्शइंद्री छूनेसेजाननेकीशक्ति

२—यह शरीर मूर्तिमानहै अरु मैं अर्थात् जीव अमूर्तिमान ज्ञानके तेज अर्थात् चमकीले गुण कर खासी कहिये श्रेष्ठहै ॥

३—इस शरीरसे जीवका इस छेत्र सम्बंधी मिलने का मौका आनबनाहै सो मैंने इसशरीर को खाना पीना देकर पोषण करा परंतु अब मृत्यु समेंमेरा सम भाव होगयाहै अर्थात् शरीर से किसी प्रकार की प्रीतिनहीं रही ॥

४—मिथ्या दर्शन सेती आत्म ज्ञान बिना इसदेहको जो परहै अपना मान रक्खाहै मिथ्यात पांचै हैं एकांत अर्थात् एक नय पर चलना १ विपरीति उलटा विचार २ विनय अर्थात् कुदेव कुगुरु कुशास्त्र की विनय करना ३ संयश जिन बचन में दुविधा रखना ४ अज्ञान ज्ञान रहित रहना ५ ॥

इंद्रीभोग गिनसुख में ने आपो नाहिं पिछानो।
तनविनशनतेंनाशजानि निजयहअज्ञानदुखदाई॥
कुटंबादिककोअपनोजानो भूलअनादीछाई॥२०॥
अबनिजभेदयथारथसगझो मेंहूंजोतिस्वरूपी।
उपजे विनशे सो यहपुद्गल जानो जाको रूपी॥
इष्ट निष्ट जेते सुखदुख हैं सो सब पुद्गलसागे।
में जबअपनो रूपविचारो तबवेसबदुखभागे॥२१॥
बिनसमता तननंतधरेमें तिन में ये दुखपायो।
शस्त्रघातसे नंतबार मर नाना योनि भ्रमायो॥
बारनंतही अग्निमाहिंजर मूवे सुमति नलायो।
सिंहव्याघ्रयेहनंतबारमुझनानादुख्यदिखायो॥२२॥
विनसमाधि ये दुःखलहमैं अबउरसमताआई।
मृत्युरायको भयनाहिंमानो देजो तनसुखदाई॥
यासेजबलगमृत्यु न आवे तबलगजपतपकीजे।
जपतप विनइसजगकेमाहीं कोईभी नासीझे॥२३॥
स्वर्ग संपदा तप से पावे तपसे कर्म नशावे।
तपहीसे शिवकामिनपति है यासे तपचितलावे॥
अबमेंजानीसमता विनमुझ कोऊनाहिं सहाई।
मातपितासुतबांधवतिरया येसबहैं दुखदाई॥२४॥

१—इंद्री सम्बन्धी भोगों को सुखमाना॥

मृत्यु समें में मोह करें ये तातें आरत होहै ।
आरत ते गति नीचीपावे यों लषमोहतजोहै ॥
और परिग्रह जेतेजग में तिनसे प्रीतिनकीजे ।
परभवमें ये संगनचालें नाहक आरत कीजे ॥ २५ ॥
जेजेवस्तुलशतहैं तुझपर तिनसे नेह निवारो ।
परगति में ये साथनचालें ऐसो भाव विचारो ॥
जो परभवमें संगचलेंतुझ तिनसेप्रीतिसुकीजे ।
पंच[1]पापतजसमताधारो दान[2]चार बिधदीजे ॥ २६ ॥
दश[3]लक्षणको धर्मधरोउर अनुकंपा चितलावो ।
सोलै[4]कारणनितप्रतिचितवोद्वादशभावनभावो ॥

१—हिंसा अर्थात् जीवमारना १ चोरीकरना २ झूठबोलना ३ शील न पालना ४ परिग्रह बढ़ाना ५ ॥

२—शास्त्रदान १ अभयदान २ आहारदान ३ औषधिदान ४ ॥

३—क्षमा अर्थात् दुर्जन के दियेहुये दुःखको सहकर क्रोध न लाना १ मार्दव अर्थात् कोमलभावरखना २ आर्जव अर्थात् मायाचारीका त्यागकरना ३ सत्य अर्थात् सत्यबोलना ४ शौच अर्थात् निर्मद शुद्धमनरखना ५ संयम अर्थात् पांचोइंद्री छठे मनकारोकना६ तप ७ त्याग अर्थात् राग द्वेषकात्याग८ आकिंचन अर्थात् कुछपास न रखना९ब्रह्मचर्य अर्थात् शीलव्रतपालना१०॥

४—दर्शनविशुद्धि सम्यक्तके २५ दोषरहित १ विनयरत्नत्रयधारी मुनियोंकी विनय करना २ शीलव्रत अतिचार रहित पालना ३ शास्त्रविचार ४ धर्ममें प्रीति रखना ५ चारदानदेना ६ अनशन आदि १२ प्रकारके तप करना ७ मुनियोंकी विघ्न होते समय सहायताकरनी ८ रोगादिक पीड़ित मुनियोंकी सेवाकरना ९ अर्हंत देवकी पूजाकरना १० आचार्यों की भक्तिकरना ११

पांचोपरवी प्रोषध कीजे अशनरातको त्यागो।
समताधर दुरभावनिवारो संयमसूं अनुरागो ॥२७॥
अंतसमें में ये शुभ भावहि होवें आन सहाई।
स्वर्गमोक्षफलतोहिदिखावें ऋद्धिदेंयअधिकाई॥
खोटेभावसकल जियत्यागो उरमें समता लाके।
जासेती गतिचारदूरकर बसो मोषपुर जाके॥२८॥
मन थिरताकरके तुम चिंतो चाराराधन भाई।
येही तोकों सुखकी दाता और हितू को नाई॥
आगेवहु मुनिराय भयेहैं तिनगहिथिरताभारी।
वहुउपसर्गसहोशुभभावन आराधनउरधारी॥२९॥
तिनमेंकछुइकनामकहूंमें सोसुन जियचितलाके।

विद्यावान पुरुषों के चरणों में चित्तरखना १२ शास्त्र विचारमें भक्तिरखना १३ षट आवश्यक क्रिया में सावधान रहना १४ जिनधर्म का यथाशक्ति जप तप कर प्रकटकरना १५ चारप्रकार के संघसे प्रीतिरखना १६ ॥

५—अथिरभावना संसार को अथिरजानना १ अशरणभावना किसीको अपनी शरण न जानना २ संसार भावना संसार में सुख न जानना ३ एकत्व भावना अपनेको अकेला समझना ४ अन्यत्वभावना सबको परसमझना ५ अशुचिभावना शरीरको अपावन मानना ६ आश्रवभावना कर्मोंका आना विचारना ७ संवरकर्मोंकी रोकका विचारना ८ निर्जरा कर्मोंकेखिरने के उपायका विचार ९ लोकभावना लोकका स्वरूप विचारना १० धर्मभावना धर्मका चितवनकरना ११ बोधदुर्लभभावना ज्ञानप्राप्ति दुर्लभजानना १२ ॥

१—महीने के दोनों पखवारों की दो २ अष्टमी दो २ चौदश शुदी के पखवारे की एक पंचमी ॥

भावसहितअनुमोदेतामें दुर्गति होय न जाके ॥
अरुसमता निजउरमें आवै भावअधीरजजावे ।
योंनिशदिनजोउनमुनिवरकोध्यानहियेविचलावे ३०
धन्यधन्यसुकुमालमहामुनि कैसी धीरजधारी ।
एक स्यालनी युगबच्चायुत पांवभखोदुखकारी ॥
यहउपसर्गसहोधर थिरता आराधनाचितधारी ।
तौतुमरेजिय कौन दुःखहै मृत्युमहोत्सववारी ॥३१॥
धन्यधन्यसोकोशलस्वामी व्याघ्री आतनखायो ।
तापरश्रीमुनिनेकन डिगयोआतमसोंहितलायो ॥
यहउपसर्ग सहोधर थिरता आराधन चितधारी ।
तौतुमरेजिय कौन दुःखहै मृत्युमहोत्सववारी ॥ ३२॥
देखोगज मुनिके सिरऊपर विप्र अगनलाबारी ।
शीसजलेजिमलकडीतिनकोतोभीनाहिंचिगारी॥
यहउपसर्गसहोधर थिरता आराधनचितधारी ।
तौतुमरे जियकौन दुःखहै मृत्युमहोत्सववारी ॥३३॥

१—३१ छन्द आदि ४८ छंद पर्यंत प्रति छंद जो उपसर्ग सहे धीजधारी मुनियोंकी कथनी करीहै उनकी संक्षेपरूप कथा देखनाचाहो तो आराधनासार कथा कोष संस्कृत वा भाषाको देखो और जो विस्तारपूर्वक विचारनाचाहो तो मुनियोंके चारित्रकी पुस्तकें विचारो—कवि ने ३१ छंद आदि ४८ छंद पर्यंत १८ छंदमें प्रतिछंद अंत के २ चरणोंको भव्यजीवों के मनकी दृढ़ता अर्थ [illegible] कहाहै सो काव्यका कुछ दूषण नहीं है वर्ण काव्य की एक प्रकार की श्रेष्ठता पाईजाती है ॥

सनतकुमार मुनीश्वर तनमें कोढबेदना ब्यापी।
छिन्न भिन्न तनतासों हूवो तबचिंतो गुनआपी॥
यहउपसर्गसहोधर थिरता आराधनचितधारी।
तौतुमरेजिय कौनदुःखहै मृत्युमहोत्सववारी॥ ३४॥
श्रेणकसुत गंगामें डूबो तब जिन नाम चितारे।
धर सलेषना परिग्रहछाडो शुद्ध भाव उरधारे॥
यहउपसर्गसहोधर थिरता आराधनचितधारी।
तौतुमरे जिय कौनदुःखहै मृत्युमहोत्सववारी॥ ३५॥
समतभद्रमुनिवर के तन में छुदा वेदना आई।
तादुखमेंमुनिनेकनडिगयो चिंतोनिजगुणभाई॥
यहउपसर्गसहोधर थिरता आराधनचितधारी।
तौतुमरे जियकौनदुःखहै मृत्यु महोत्सववारी॥ ३६॥
ललतघटादिकतीसदोयमुनि कौशांभीतटजानो।
नदीमें मुनि वहकर मूवे सोदुख उन नहिंमानो॥
यहउपसर्गसहोधर थिरता आराधन चितधारी।
तौतुमरे जिय कौनदुःखहै मृत्यु महोत्सववारी॥ ३७॥
धर्मघोष मुनिचंपा नगरी वाह्यध्यान धरठाढो।
एक मासकी कर मर्यादा त्रिषादुःख सहगाढो॥
यहउपसर्गसहोधर थिरता आराधनचितधारी।
तौतुमरे जियकौनदुःखहै मृत्यु महोत्सववारी॥ ३८॥

श्रीदत्त मुनिको पूर्व जन्म को बैरी देव सुआके ।
विक्रयाकरदुखशीत तनोसो मुनीसहोमनलाके ॥
यहउपसर्गसहोधर थिरता आराधनचितधारी ।
तौतुमरे जियकौनदुःखहै मृत्युमहोत्सववारी ॥ ३९ ॥
वृषभसेनमुनिउश्नशिलापरध्यानधरोमनलाई ।
सूर्य्यघामअरुउश्नपवनकी वेदनसहिअधिकाई॥
यहउपसर्गसहोधरथिरता आराधनचितधारी ।
तौतुमरेजिय कौनदुःखहै मृत्यु महोत्सववारी ॥४०॥
अभय घोषमुनि काकंदीपुर महा वेदना पाई ।
बैरी चंडने आतन छेदो दुख दीनो अधिकाई ॥
यहउपसर्गसहोधर थिरता आराधनचितधारी ।
तौतुमरेजिय कौनदुःखहै मृत्यु महोत्सववारी॥ ४१ ॥
विद्युतचर ने बहु दुखपायो तौहनधीरजत्यागी ।
शुभभावनसे प्राणतजेनित धन्यचोरबडभागी ॥
यहउपसर्गसहोधर थिरता आराधनचितधारी ।
तौतुमरेजिय कौनदुःखहै मृत्यु महोत्सव वारी॥ ४२ ॥
पुत्र चिलाती नामा मुनिको बैरी ने तन घातो ।
मोटेमोटे कीट पड़े तन तापर निज गुण रातो ॥
यहउपसर्गसहोधर थिरता आराधनचितधारी ।
तौतुमरेजिय कौनदुःखहै मृत्यु महोत्सववारी ॥ ४३ ॥

दंडक नामा मुनिकोसारो बाणन कर अरिभेदो ।
तापर नेकडिगे नहिंवे मुनि कर्म महारिपुछेदो ॥
यहउपसर्गसहोधर थिरता आराधनचितधारी ।
तौतुमरेजिय कौनदुःखहै मृत्यु महोत्सववारी ॥४४॥
अभिनंदन मुनि आदिपांचसे घानीपेलजुमारे ।
तौभी श्रीमुनिसमता धारी पूरब कर्म बिचारे ॥
यहउपसर्गसहोधर थिरता आराधनचितधारी ।
तौतुमरेजिय कौनदुःखहै मृत्यु महोत्सववारी ॥४५॥
चाणकमुनिगोघरके मांही मूँदअगनपरिज्वालो ।
श्रीगुरुउर समभावधारके अपनोरूपसम्हालो ॥
यहउपसर्गसहोधर थिरता आराधनचितधारी ।
तौतुमरेजिय कौनदुःखहै मृत्युमहोत्सववारी ॥ ४६ ॥
सांतशतक मुनिवरने पायो हथनापुर में जानो ।
बलब्रामनकृतघोरउपद्रव सो मुनिवरनहिंमानो ॥
यहउपसर्गसहोधर थिरता आराधनचितधारी ।
तौतुमरेजिय कौनदुःखहै मृत्युमहोत्सवबारी ॥ ४७ ॥
लोह मई आभूषण घडके ताते कर पहराये ।
पांचोंपांडव मुनिके तनमें तेभी नाहिंचिगाये ॥
यहउपसर्गसहोधर थिरता आराधनचितधारी ।
तौतुमरेजियकौनदुःखहै मृत्युमहोत्सवबारी ॥ ४८ ॥

और अनेक भयेइसजगमें समता रसकेस्वादी ।
वेही हमको हैं सुखदाता हरहैं टेव प्रमादी ॥
सम्यकदर्शन ज्ञानचरन तप ये आराधनचारों ।
येहीमोको सुखकी दाता इनेसदाउरधारों ॥ ४९ ॥
यों समाधिउरमांही लावो अपनोहितजोचाहो ।
उनमततातजआठों मदकीजोतिस्वरूपीध्यावो ॥
जो कोई जन करत पयानो ग्रामांतर के काजे ।
सोभीशुकनविचारेनीकेशुभशुभकारणसाजे ॥ ५० ॥
मात पितादिक सर्व कुटंबसो नीके शुकनवनावें ।
हलदी धनिया पुंगी अक्षत दूबदही फललावें ॥
एक ग्राम के कारण एते लषैं शुभाशुभ सारे ।
जबपरगतिको करतपयानोतबनहिंसोचेप्यारे॥५१॥
सर्व कुटंब तब रोवन लागे तोहि रुवावें सारे ।
ये अपशुकनकरें सुनतोकूं तू योंक्यों न विचारे ॥
अबपरगतिके चालनबरयां धर्मध्यानउरआनो ।
चाराराधनमें आराधो मोहतजोदुखखानो ॥ ५२ ॥
होनिःशल्यतजोसबदुबिधा आतमरामसुध्यावो ।
जबपरगतिकोकरहु पयानो परमतत्त्वउरलावो ॥
मोहजालको काटपियारे अपनो रूप विचारो ।

१—और नानाप्रकारके फल ॥

मृत्यु मित्रउपकारी तेरो योंउर निश्चै धारो ॥ ५३ ॥

॥ दोहाछंद ॥

मृत्युमहोत्सव पाठको पढोसुनो बुधिवान।
शरधाकर नितसुखलहो सूरचंदशिवथान ॥ ५४ ॥
पंचउभय नवएकभन संबतसोसुखदाय।
आश्विनि श्यामासप्तमी कहोपाठमनलाय ॥ ५५ ॥

॥ इतिशुभम् ॥

१—पहिले तीसरे चर्णमें १३ मात्रा अंतका एकवर्ण गुरु या दोवर्ण लघु और दूसरे चौथे चर्ण में ११ मात्रा अंतकावर्ण लघु देखो ॥

२—आसौजबदी ७ संवत १९१५ विक्रमीमें सूरचंदने यह समाधिमरणबनाया
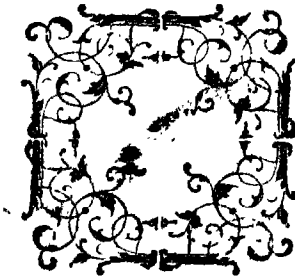
* श्री *

पण्डित सूरचंद जी रचित

समाधिमरण भाषाका शब्दार्थकोष

शब्द	अर्थ
अ	
अनुकंपा	दया, मिहरबानी
अनुमोद	आनन्दमानना, खुशहोना
अपावन	अशुद्ध, नापाक
अर्हंत	पूजनीक
अशन	भोजन
अश्वनि	नक्षत्रकानाम, आसौजका महीना
आ	
आरत	खोटा, नाकिस, पीड़ित, दुखी, आर्ति
इ	
इष्ट	प्यारा
उ	
उनमतता	उनमत्तता, नशा, पागलपना
उपसर्ग	दुख, तकलीफ
उर	हृदा, मन
ए	
एती	उतनीही, उसीकदर
औ	
औ	और
औसर	समय, वक्त
क	
करारी	मजबूत, सख्त
कलेश	क्लेश, दुःख
कल्पद्रुम	कल्पवृक्ष,
कषाय	क्रोध, मान, माया, लोभ
काई	क्या
काकंदीपुर	एकनगर का नाम
कीट	कीड़ाजन्तु,
कुटी	ऋषियों के रहनेकी जगह
कृतघ्नी	दुष्ट, उपकारनमाननेवाला
कोसलस्वामी	१ मुनिका नाम

शब्द	अर्थ

ख

खपाऊं—नष्टकरूं
खासी—उत्कृष्ट, उमदा

ग

गद—रोग, बीमारी
गाढे—मोटे, भारी

घ

घानी—कोल्हू
घाम—धूप, गरमी
घिन—नफरत

च

चक्र—चक्रवर्तिराजा
चिगाये—डिगाये, दूरकरे
चिगारी—डिगाई, दूरकरी
चीनो—चीन्हो, पहिचानो, पायो

ज

जनित—पैदाहुई
जीर्ण—पुरानी, झोझरी
जेती—जितनी, जिसकदर

ट

टेव—सुभाव, आदत, स्वभाव,

ठ

ठनोहै—प्राप्तहुवोहै, मिलो है

त

तनी—की-का-के अर्थ में
तनो—को अर्थ में
तिर्थेश्वर—तिर्थंकर
तिर्यंच—पशु

थ

थायो—भयो, हुयो

द

दास—सेवक, खिदमतगार
दुठ—दुष्ट, खोटा

न

नंत—अनंत शब्दका संक्षेप शब्द
नपुंसक—हीजड़ा, नामर्द
नाई—नहीं अर्थ में
निधि—सम्पति, दौलत,
निष्ट—अनिष्ट शब्दका संक्षेप शब्द, नहीं प्यारा
नृपरिद्धि—राजा की विभूति फौज खजाना
नूतन—नया

प

पयानो—चलनो
परमाणू—परमाणु छोटे टुकड़े
परयन—कुन्वे के लोग
पिंड—गोला
पुद्गल—परमाणु, अनित्यवस्तु
पूरब—पूर्व, पहले
प्रतिहर—प्रतिनारायण
प्रोषध—व्रत

ब

बसन—वस्त्र, कपड़ा

शब्द — अर्थ

बाण—हथ्यार, विशेष
बारी—समय, वक्त
बाहर—बाहर

भ

भवभव—जन्म जन्म
भिष्टा—मल, पाखाना
भीनो—मिलोहुयो,
भूषण—गहना, जेवर,
भेदो-तोड़ो, फाड़ो,

म

ममता—ममत्व, चाहना
मर्यादा—अवधि, हद
मिथ्या—झूठ
मृत्यु—मौत

य

योनि—उत्पत्तिस्थान

र

राई—राजा, सरदार, महानपुरुष
रोगजनितपीड़ा—रोगसे उत्पन्नहुआ दुःख

ल

लारे—साथ

व

विधि—कर्म, प्रकार,
विललावे—रोवे, विलापकरे

शब्द — अर्थ

विनाशी—नाशमान,
विशय—इंद्रीजनित सुख,
वेदन—दुःख,
व्याघ्र—शेर, भगेरा,

श

शल्य—फांस, कांटा
शस्त्र—हथ्यार, आयुध
शरधान—इतकाद
शिथल—सुस्त, बेकार
शुकन—सौण, विचारना

स

संगत—मेल, मिलाप, सोहबत
समता—समभाव,बराबरचिंतवनकरना
समवसरण—भलेप्रकारबैठनेकास्थान
सरण—शरण, पनाह, सहायक,
सलेशणा—मरणसमें विचार
साऊ—प्यारा, मित्र, दोस्त
साता—सुख
सिंह—शेर, केहर
सुत—बेटा
सोहै—शोभादे
स्वैभाव—स्वभाव, निजभाव

ह

हर—नारायण
हूं—को अर्थ में

॥ जाहिरात ॥

विक्रयार्थ जिनमत की पुस्तक जो आपही संशोधन टीका टिप्पण कोषसे सुभूषितकर अति उत्तम चिकने कागजपर मुद्रितकराई हैं इन पुस्तकों में १० प्रति के मोल आनेपर १ पुस्तक उपहार में दईजायगी—डाक खर्च ग्राहक के ओर है ॥

(१) भूधरजैनशतक भाषा छंद बंध कविवर भूधरदासजी रचित शब्दार्थ सलार्थ टीका सहित बडी प्रिय पुस्तक है मोल ॥) जि० ॥≈)

(२) सज्जनचितवल्लभ काव्य संस्कृत मुनि मल्लिषेन आचार्यकृत जिसको पंडित मेहरचन्द जैनीने पदच्छेद अन्वय संस्कृत वा भाषा विवर्ण कर प्रति श्लोक अति ललित भाषाछंद बनाये जिल्द साहित ॥।) बिनाजिल्द ॥-)

(३) सुक्तमुक्तावली भाषा छंदबंद कविवर बनारसीदास जीका संस्कृत सुक्त मुक्तावली सोमप्रभाचार्य्यकृत से उल्था करा हुवा शुद्धकर कोष सहित ।) जि० ।-)

(४) आलोचना पाठ भाषा छंद बंद जिसका प्रति दिन पाठ मनुष्य को अपनी पिछली खोटी कृत यादकराकर आगेकोखोटे कामोसेबचाताहै मोल-)

(५) छहढाला भाषा पंडित दौलतरामजी लशकर ग्वालियरनिवासीकृत जिसको सलार्थ टीका वा शब्दार्थ कोष से भूषितकर छपवायाहै अवश्य देखो मोल ।-) जिल्दसहित ।=)

(६) जिनगुण मुक्तावली भाषा भूधरदासजी कृत कोष सहित -)

(७) पार्श्वनाथ स्तुति अर्थात् कल्यान मंदिर बनारसीदासजी कृत कोषसहित -)॥

(८) जिनदेवस्तुति अर्थात् भाषाएकीभाव भूधरदासजी कृत कोषसहित-)॥

(९) जिनचतुर्बिंशतकास्तोत्र अर्थात् भाषा भूपाल चौबीसी भूधरदासकृत कोषसहित -)॥

(१०) श्रीआदिनाथस्तुति अर्थात् भाषाभक्तामर हेमराजकृत कोषसहित छापाटाइप मोल =)

(११) प्रतिमाचालीसी भाषा ग्रन्थान्तरायक्रन जिसमें प्रतिमा पूजन सिद्ध कियाहै मोल)॥

(१२) पार्श्वपुराण भाषा छंद बंद भूधरदासजीकृत टिप्पण वा कोपसहित मोल १।) जिल्दसहित १।=)

(१३) परमार्थजकड़ी भूधरदास जी रचित कोपसहित)॥।

(१४) निशभोजन भुंजनकथा भूधरदासजी कृत कोपसहित -)॥

(१५) दर्शनस्तोत्र भूधरदासजी कृत कोपसहित -)॥

(१६) पीपलरासा पीपल पूजने कीबुराई डालचंद कृत कोपसहित)॥

ऊपर लिखी पुस्तकोंके अलावा औरभी जिनमत सम्बंधी पुस्तक अन्य लोगों की छपाई हुई अनेक प्रकारकी हमारे पास मौजूद हैं जिस भाईको जो पुस्तक चाहिये वेल्यूपेबिल द्वारा मंगाले ॥

कृपाभिलाषी

अमनसिंह अग्रवाल जैनी

सुनपत नगर निवासी हाल अपीलनवीस

कश्मीरी दरवाजा—दिल्ली

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

जैन
* विवाह पद्धति *

जिसको

भारत वर्ष में जैनियों के कुदवे मिथ्यात्
दूर करने के वास्ते
श्रीयुत् हकीम मन्सुख राय जी के
सुपुत्र श्री सुगुण चन्द जी वैद्य
फर्रुखाबाद ने बड़े परिश्रम से
तैयार किया

श्री वीर संवत् २४३५

नर्मदा लहरी रायल प्रिन्टिंग प्रेस जबलपुर में मुद्रित हुई.

॥ श्री जिनायनमः ॥

* अथ जैन विवाह पद्धति *

॥ श्लोक ॥

त्रैलोक्यं सकलं त्रिकाल विषयं सालोक मालोकतां । साक्षा धेन यथा स्वयं करतले रेखात्रयं साङ्गुलि ॥ १ ॥ राग द्वेष भया मयान्क जगलो लत्व लोभादयो । नालं यत्पदलङ्घ नाय समहा देवो मया वंद्यते ॥

॥ टीका करने का मंत्र ॥

मगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी । मंगलंकुंदकुंद्याजैन धर्मोस्तु मंगलं ॥ चत्तारि मंगलं अरहंत मंगलं सिध मंगलं । साहू मंगलं केवल परणतो धम्मो मंगलं ॥ चत्तारि लोगोत्तमा अरहंत लोगोत्तमा सिधलोगोत्तमा साहूलोगोत्तमा केवल परणतो धम्मोलोगोत्तमा । चत्तारि सरणंपव्वज्जामि सिधसरणंपव्वज्जामि साहूसरणंपव्वज्जामि केवलीपणंतो धम्मो सरणं-पव्वज्जामि । अपवित्रः पवित्रोवा सुस्थिनो दुस्थितो पिवाधायते पंचनमस्काराज्ञ । सर्व पापैप्रमुच्यते । अपवित्रः पवित्रोवा सर्वावस्थां गतोपिवा । यस्मरेत्परमात्मानं सर्वा ह्याभ्यांतरेशुचीः । अपराजित मंत्रोयं सर्व विघ्न बिनाशनः । मंगलेषू चसर्वेषू प्रथमं मंगलंमतः एसोपंचणमोयासे सव्वपाप प्रणासणो । मंगलाणंच

सव्वेसिं पटमंहव्य मंगलं । अर्हमित्यक्षरं ब्रह्मावाचकं परमेष्टिनः । सिधचक्रास्यसद्वीजंसर्वतः प्रणमाम्यहं । कर्माष्टक विनिर्मुक्तं मोक्ष लक्ष्मीनिकेतनं । सम्यक्त्वादि गुणोपेतं सिधचक्रंनमाम्यहं परि-पुष्पांजलांक्षिपेत् ॥

॥ कंकन बांधने का ॥

तत्रैवकंकणसुबधनामिष्टातेकुला । स्थितेनसुन्दरवचोवसनावृतेन । गेहिव्रतेद्दढानिबंधनमस्तुतत्कुलं । संपालयत्तिनिवचः प्रतिपाद-यित्वा । मंगलं भगवान वीरो० ।

॥ मंडफ विधि ॥ (पूर्व मंत्रों कर)

मंडफ सुशोभित करे लड़की के चार हाथ चोकोर खम्भा गाड़ के धुजा कलश आदि से बनावे पूरब की तरफ कटनी बनावे तीन खन की मंङ्गलीक द्रव्य लगावे ॥

॥ विवाह विधि ॥

॥ घुड़चढ़ी मुकटादि पूजन विधि पूर्ववत् अथ मन्त्र ॥

ओंकारंविंदसंयुक्तं । नित्यंध्यायांतियोगिनः । कामदं मोक्षदं चैवः ओंकारायनमोनमः ॥

॥ अथ आशीर्वाद ॥

दीर्घायुरस्तु शुभमस्तु सुकीर्तिरस्तु । सद्बुद्धिरस्तु धन धान्य समृद्धरस्तु आरोग्यमस्तु विजयोस्तु सुपुत्ररस्तु । पौत्रोद्भवस्तुतव

सिद्धे प्रति प्रसादात् इत्याशीर्वाद। तोरण। तिलक। मंगलं भगवान वीरो० ॥

कन्या जन्त्रों को अपने हाथ से मंडफ में कटनी के ऊपर स्थापन करे और शास्त्र स्थापन करे धुजा क्षत्र चमर दर्पणादिक स्थापन करे और लड़का मंडफमें आवे तब ये मंत्र पढ़े।

ओंणमो अरिहंताणं णमोसिद्धाणं णमो आयरियाणं। णमो उव्वज्झायाणं। णमो लोएसव्वसाहूणं। ओंह्रींअनादिमूलमंत्रः। और पुत्री दक्षणांग बैठे पुत्र वामांग बैठे और इस मंत्रको पढ़कर यंत्र स्थापन करे। मंत्र—ओंभूर्भुवःविश्व। स्वरिहएतत् विघ्नैकवारकं मंत्रं अहं परिषिंचयामि ॥

॥ अथ मंगला चरण ॥

प्रावर्त यज्जनाहितं खलुकर्म भूमौ। षटकर्मणागृहि वृषं परिवर्त्य युक्त्या। निर्वाण मार्ग मन वद्य मजःस्वयमभूः। श्री नाभिसूनु जिनयो जयतात्मपूज्यः। श्री जैन सैन वचनान्यवगाह जैन संघे बिवाह विधि रूतमरीति भाजाम्। उद्दिश्यते सकल मंत्र गणैः प्रवृतिंसानातनींजनकृतामपि संविभाव्य ॥ २ ॥

॥ अथ स्थापना ॥

परमोष्टिनजगत्राण करणे मंगलोत्तम्। शरणा इनास्तिष्टतमे संनिहितोस्तुपावन। मंत्र। ओं ह्रीं अर्हं असिआ उसा मंगलोत्तम शरण भूतअ त्रावतरावतरसंवोषट आव्हाननं। ओंह्रीं आसिआ उसा ... मंगलोत्तम् शरणभू

तात्रातिष्टत २ ॥ ठठस्थापनं ॥ ओंह्रीं आसिया उसा मंगलोत्तम शरण भूतात्रमम संनिहिता भवत ॥ २ ॥ संवौषट् संनिधापनं ॥ अथाष्टकम् ॥ पंकेरूहायतपराग पुंजसौगंध्यमाद्भिः सलिलैः पवित्रैः अर्हत्पदा भाषित मंगलादीन् प्रत्यूहनाशार्थ मर्हयजामि ॥ मंत्रः ॥ ओंह्रीं मंगलोत्तम शरण भूतेभ्यः पंच परमेष्टिभ्यः जलंनिर्वपामि काश्मीरकर्पूर कृतद्रवेण संसारता पाप हृतौयुतेन ॥ अर्ह० ॥ गन्धम्० ॥ शाल्यक्षतैरक्षत मूर्तिमद्भिःरज्ञादिवासेन सुगंधमाद्भिः ॥ अर्ह० अक्षतं० ॥ कदंबजात्यादिभवैः सुरद्रुमैर्जातैर्मनो जाताविपाशदक्षैः ॥ अर्ह० ॥ पुष्पं ॥ पीयूषपिंडैश्चशशांक कांतिस्पर्द्धादिभारिष्टैर्नयनप्रियैश्च ॥ अर्ह० ॥ नैवेद्यं॥ ध्वस्तांधकार प्रसरैः सुदीपैघृतोद्भवैरत्नाविनिर्मितैर्वा अर्ह० दीपं०॥ स्वकीयधूमेननभोऽवकाशव्यापाद्भिरूद्यैश्चसुगंध धूपैः ॥ अर्ह ॥ धूपं ॥ नारंग पूंगादिफलैरनर्घैर्हन्मानसादि प्रियतर्पकैश्च । अर्ह। फलं। अंभश्चंदननन्दनाक्षततवरूद्भूतौर्निवेद्यैवरै । दीपैर्धूपफलोत्तमैः समुदमैरेभिः सुवर्णस्थितैः । अर्हत्सिद्धसुसूरिपाठक मुनीनलोकोत्तमान्मंगलान् प्रत्यू हो घनिवृत्तयेशुभकृतः सेवेशरण्यानहं । अर्घं । धारा । प्रत्येक पूजनम् कल्याण पंचक कृत्तोदयमासमीशमर्हतमुच्युतचतुष्टय भासुरांगम् । स्याद्वादवागमृतासिंधु शशांक कोटि मर्चेजलादिभिरनंतगुणालयंतम् । मंत्र । ओंह्रीं अनंतचतुष्टयसमवशरणादि लक्ष्मीविभ्रते । अर्हत्परमेष्टिने अर्घं-निर्वपामि । कर्माष्टके ध्मचयमुत्यथमाशुहत्वासध्यानवान्हिविसरे-स्वयमात्मवंतम् । निःश्रेयसामृतसरस्यथ संनिनायतं सिद्धमुचपददं

परिपूजयामि। मंत्र । ओंह्रीं अष्टकर्मकाष्टगण भस्मीकृतेसिद्ध परमेष्टिने ॥ अर्घ ॥ निर्वयामि ॥ २ ॥ स्वाचारपंचकमपिस्वयमा चरंतिह्याचारयंति भविकान् निजशुद्धभाजः तानर्चयामिविविधैः सलिलादिभिश्च । प्रत्यूहनाशनविधौनिपुणानपवित्रैः ॥ मंत्र ॥ ओंह्रीं पंचाचार परायणाय आचार्याय परमैष्टि नेऽर्घंनिर्वपामि १ अंगांगवाह्य परिपाठनलालसानां मष्टांगभानपरिशीलनभावितानां। पादारविंद युगुलं खलुपाठकानां शुद्धैर्जलादिवसुभिः परिपूजयामि ॥ मंत्रः ॥ ओंह्रीं द्वादशांग पठन पाठनोद्यताय उपाध्याय परमेष्टिनेऽर्घं। निर्वपामि ॥ ४॥ आराधना सुखविलाश महेस्वराणांसद्धर्म लक्षणमयात्म विकास्वराणां स्तोतुंगुणान् गिरिवनादि निवासिनांवैएषोर्घ तश्चरण पीठ भुवंयजामि ॥ मंत्र ॥ ओंह्रीं त्रयोदश प्रकार चारित्रा राधकसाधुपरेष्टिनेऽर्घं निर्वपामि५ ।अर्हं मंगलमर्चामिजगन्मंगलदायकं। प्रारब्ध कर्म विघ्नौघप्रलय प्रदमप्मुखैः ॥ मंत्र ॥ओंह्रीं अर्हं मंगलाय अर्घंनिर्वपामि स्वाहः । ॥ ६ ॥ चिदानंदलसद्वीचि मालिनं गुणशालिनम् । सिद्ध मंगल मर्चेहंसलिलादि भिरूज्वलैः ॥ मंत्र ॥ ओंह्रीं सिद्ध मगलायार्घं निर्वपामि ॥ ७ ॥ बुद्धि क्रिया रसतपोविक्रियौषध मुख्यकाः । ऋद्धयोयंनमोहंतिमाधु मंगलमर्चये ॥ मंत्र ॥ ओंह्रीं साधु मंगलायर्घं । निर्वपामि लोकालोक स्वरूपज्ञ प्रज्ञसंधर्म मंगलम् । अर्चेवादित्रानिर्घोषपूरिताशंवनादिभिः ॥ मंत्र ॥ ओंह्रीं केवलि यज्ञप्तधर्ममंगलायार्घं । निर्वपामि । लोकोत्तमोऽर्हन् जगतां भवबा धाविनाशकः अर्च्यतेऽर्घेण समयाकुकर्मगणहानये ॥ मंत्र ॥

ओंह्रीं सिद्ध लोकोत्तमायार्घं। निर्वपामि। १०। विश्वाग्र सिखर-स्थायी सिद्धो लोकोत्तमोमया महयते महसा मंद चिदानंद थुमेदुरः ॥ मंत्र ॥ ओंह्रीं सिद्धलोकोत्तमायार्घं निर्वपामि ॥ ११ ॥ राग द्वेष परित्यागी साम्यभावावबोधकः साधु लोकोत्तमोर्घेण पूज्यते सलिलाक्षतैः। ओंह्रीं साधुलोकोत्तमा यार्घं निर्वपामि। उत्तमक्षमयाभास्वान् सद्धर्मो विष्टपोत्तमः अनंत सुख संस्थान यज्यतेऽम्भः समादिभिः ॥ मंत्र ॥ ओंह्रीं केवलिप्रज्ञप्त धर्मलोकोत्तमा यार्घंनिर्वपामि ॥ १२ ॥ सदार्हन् शरणं मन्येनान्यथाशरणंमम। इति भावविशुध्यार्थं महयामि जलादिभिः ॥ मंत्र ॥ ओंह्रीं सिद्ध शरणायार्घं निर्वपामि ॥ १३ ॥ आश्रेय साधु शरणं सिद्धांत प्रतिपादनैः न्यत्कृताज्ञान तिमिरमिति शुधध्यायजामितम् ॥ मंत्र ॥ ओंह्रीं साधुशरणयार्घं निर्वपामि। १४। धर्मएवसदावंधु सएव शरणंमम। इहवान्यत्र संसारे इतितं पूजयेऽधुना। मंत्र। ओंह्रीं धर्मशरणायर्घं निर्वपामि। १५। संसार दुःखहननंनिपुणं जनानां। नाद्यंत चक्रमि सप्तदश प्रमाणं। संपूजये विविध भक्ति भरावनम्रः शांतिप्रदं भुवन मुख्य पदार्थसार्थैः। मंत्र। ओंह्रीं अर्हदादिसप्तदश मंत्रेभ्यः समुदायार्घं निर्वपामि। १६। अनाधानिधनं मंत्रस्मेरदृष्टोत्तरंशतं। सुवर्ण कुसुमैर्जाति पुष्पै दीप लवंगकैः ॥

इस मंत्र को लड़का १०८ दफे कहे ॥

। मंत्र। प्रारब्ध कर्म विघ्नौघ प्रलय प्रदमप्मुखैः। णमो अरंहताणं।

णमो सिद्धाणं। णमो आयरियाणं । णमो उवज्झायायाणं । णमो लोएसव्वसाहूणं ॥ अथ जयमाल ॥ विघ्न प्रणाशनविधौ । सुर मर्त्यनाथ अग्रेसरंजिन वदंति भवन्त मिष्टं । आनाद्य नंत युग वर्तिन मंत्र कार्यैगार्हस्थ्यधर्मविहितेऽह मपिस्मरामि । विनायकः सकल धर्मिजने पुधर्मे । द्वेधानत्य विरतंद्दढ़ सप्तभंग्या । यद्यान्य तोनयनभावसमुज्झनेन बुद्धः स्वयंसकल नायकइत्यवाप्तेः । गणां नां मुनीनामधीशत्वतस्ते गणेशा ख्ययाये भवंतस्तुवंति । सदा विघ्न संदोह शांतिर्जनानांकरस्मं लुठत्यायत श्रेयसानाम् कलेः प्रभावत्कलुषा शयस्य जानेषुमिथ्यामृदवासितेषु । प्रवृत्तितो न्योगणराजनम्नालंबोदरो दंतमुखोववास । स्द्रोणकाम ज्वालि तेनगौर्या विनोद भारान्मल मुक्षिपित्वा । कृतंपुराणे ष्वितिवाच यित्वासन्मंगलंतं कथमद्गिरंति । यत्तस्त्वमेवा सिविनायकोमे दृष्टेष्ट योगानवरूद्धभावः । त्वन्नाममात्रेणपराभवंतिविघ्नार यस्तर्हिकिमत्रचित्रम् । जयजय जिनराजत्वद्गुणान्कोऽयनाक्ति यदिसुरगुरुरिन्द्रः कोटि वर्ष प्रमाणं वदितुमभिलपेऽदापारमाप्नोति- नोचेत् कति यइह मनुष्यः स्वल्पवुध्यासमेतः ॥ मंत्र ॥ ओंह्रीं अर्हदादि सप्तदशमंत्रेभ्यो जयमालार्घं निर्वयामि ॥

॥ अथ इष्ट प्रार्थना ॥

श्रियंवुद्धिमना कुल्यं धर्म प्रीति विवर्धनं । गृहधर्मस्थितिर्भूत्वा श्रेयसंमेदिशत्वरं ॥

॥ अथ शाखोचार भाषा ॥

॥ दोहा ॥

बंदू देव युगादि जिन, गुरु गौतम के पाय।
सुमिरौं देबी सारदा, रिद्धि सिद्धि बरदाय ॥१॥
अब आदीश्वर कुमर को, सुनियो व्याह विधान।
विघन विनाशन पाठ है, मंगल मूल महान ॥२॥
इसही भरत सुक्षेत्र में, आरज खंड मझार।
सुख सों बीते तीन युग, शेष समय की वार ॥३॥
चौदह कुल कर अवतरे, अंतम नाभि नरेश।
सब भूपन में तिलक से, कौशल पुर परवेश ॥४॥
मरु देवी रानी प्रगट, शुभ लक्षण आधार।
तिनके तीर्थंकर ऋषभ, भये प्रथम अवतार ॥५॥
स्वामि स्वयंभू परम गुरु, स्वयं सिद्ध भगवान।
इन्द्र चन्द्र पूजत चरण, आदि पुरुष परवान ॥६॥
तीन लोक तारन तरन, नाम विरद विख्यात।
गुण अनन्त आधार प्रभु, जगनायक जग तात ॥७॥
जनमत व्याह उछाह में, शुभ कारज की आदि।
पहिले पूज मनाय के, विन से विघन विषाद ॥८॥
सकल सिद्ध सुख संपजै, सब मन वांछित होय।
तीन लोक तिहुं कालमें, और न मंगल कोय ॥९॥
इस मंगल को भूल के, करे और सों प्रीति।
ते अजान समझै नहीं, उत्तम कुल की रीति ॥१०॥

नाभि नरेश्वर एक दिन, कियो मनोरथ सार।
आदि कुमर परनाइये, बोले सुबुध विचार॥११॥
अहो कुमर तुम जगत गुरु, जगत पूज्य गुण धाम।
जन्म योग तें लोक सब, हमैं कहैं गुरु नाम॥१२॥
ताते नहीं उलंघने, मेरे वचन कुमार।
व्याह करो आसा भरो, चलो गृहस्थाचार॥१३॥
सुनि के बात सुतात के, मुसकाये जगचन्द।
सब नरेश जानी सही, राजी ऋषभ जिनन्द॥१४॥
बेटी कच्छ सुकच्छ की, नन्द सुनन्दा नाम।
अतुल रूप गुण आगरी, दो युग मागी ताय॥१५॥
उभय पक्ष आनंद भयो, सब जग बढ़ो उछाह।
लगन महूरत शुभ घड़ी, रोप्यो ऋषभ बिवाह॥१६॥
खान पान सन्मान बिधि, उचित दान परकाश।
संतोषे पोषे सुजन, योग्य बचन मुख भाष॥१७॥
गज तुरंग बाहन बिविधि, बनी बरात अनूप।
रथ में राजैं ऋषभ जिन, संग बराती भूप॥ १८॥
नाचैं देवी अप्सरा, सब रस पोषे सार।
मंगल गावैं किन्नरी, देव करैं जयकार॥ १९॥
मंगलीक बाजे बजें, बहुविधि श्रवन सुहाहिं।
नर नारी कौतुक निरखि, हरषैं अंगन माहिं॥ २०॥
आदि देव दुलहा जहां, पायक इन्द्र महान।
तिस बरात महिमा कहन, समरथ कौन सुजान॥ २१॥
आगे आये लेन को, कच्छ सुकच्छ नरेश।

बिविधि भेंट देकर मिले, उर आनन्द विशेष ॥ २२ ॥
रतन पौल पहुंचे ऋषभ, तोरण घंटा द्वार ।
सजन फूल बर्षे घने, चित्र विचित्र अपार ॥ २३ ॥
चौरी मंडप जगमगे, बहुविधि सोरभा ऐन ।
चारों दिस चिलकैं खरे, कंचन कलस रवैन ॥ २४ ॥
मोती झालर झूमिका, झलकें हीरा हार ।
मानों आनंद मेघ की, झड़ी लगी चहुं ओर ॥ २५ ॥
वर कन्या बैठे जहां, देखत उपजे प्रीति ।
पिक वैनी मृग लोचनी, कामिनि गावैं गीत ॥ २६ ॥
कन्यादान विधान विधि, और उचित आचार ।
यथा योग्य व्योहार सब, कीन्हों कुल अनुसार ॥ २७ ॥
इहिविधि विविधि उच्छाहसों भये मंगलाचार ।
कीनी सज्जन वीनती, शोभा दियो अपार ॥ २८ ॥
हर्षित नाभि नरेश मन, हर्षित कच्छ सुकच्छ ।
मरु देवी आनंद भयो, हरषे परियन पच्छ ॥ २६ ॥
यह विवाह मंगल महा, पढ़त सुनत आनंद ।
सब को सुख संपति करो, नाभिराय कुलचंद ॥ ३० ॥
वंशवेलि बृधो सुफल, बढ़ो धर्म मरजाद ।
वर कन्या जीवो सुचिर, ऋषभदेव परशाद ॥ ३१ ॥

॥ विवाह मंगल सम्पूर्ण ॥

॥ अथ संकल्प विधी ॥

जम्बू द्वीपे भरत क्षेत्रे आर्ये खंडे अमुक देशे अमुक नगरे अमुक सम्बतसरे अमुक मासे अमुक पक्षे अमुक शुभतिथौ अमुक वासरे शुभवेलायां मंडफसन्निधाने अमुक कंन्यां भोवरशुभाननेतुभ्य ददामि अस्याग्रहणंकुरूः ॥

॥ मंत्र ॥

ओंनमोऽर्हते भगवते श्रीवर्धमानाय श्रीबलायुरारोग्य संतानाभिवर्धनभवतु इमामस्मैकुमारायददामि कन्यापिता बचनचूर्णाध्वं ॥ ऽ ॥ यानेवरगेवरवचनवगेङ इवींदवींहंयः स्वाहा ॥

॥ सप्त वचन कन्या के और वर के ॥ (वर कहता है)

ममकुटम्ब जनांनां यथा योग्य विनय सुश्रूषा करनीया ॥१॥ मम आज्ञानलोपनीया ॥२॥ कठोर वाक्यं न वक्तव्यं ॥३॥ ममहितु सत्पात्रादिजनांनां ॥ ग्रहागमेसतिआहारादिदानेकलुपितमनः नकार्याः ॥४॥ रात्रौ परग्रहे नगंतव्यं ॥५॥ वहुजन संकीर्ण स्थाने नगंतव्यं ॥६॥ कुत्सित धर्ममद्य पीनांग्रहे नगंतव्यं ॥ ७ ॥ एतानिममुकावचनानिपदा अंगीकरोमितदात्वमेग्रग्हामि वर वचन सम्पूर्ण ॥

॥ सप्त वचन कन्या ॥

अन्यस्त्रीभिः क्रीडानकार्याः ॥१॥ वेश्याग्रहे नगंतव्यं ॥२॥ द्यूत क्रीडानकार्याः ॥३॥ उद्योगा द्रव्य मुपार्ज वस्त्राभर्णानि ममरक्ष-

णीया ॥४॥ धर्मस्थाने गमने न वर्जनीया ॥५॥ गुप्तवार्तानरक्ष-णीया ॥६॥ मम गुप्त वार्ता अन्याग्रेनकथनीयां ॥ इति सम्पूर्ण ॥ ग्रन्थ वंधन कुर्यात् पुत्री वामांगमें ॥ अथगृस्थाचार्यः प्रथम कटि-न्यांनित्य पूजांविधाय सिद्ध पूजां प्रारम्भेत ॥

॥ अथ स्थापना ॥

सिद्धान्प्रसिद्धान् बसुकर्म मुक्तान ॥ त्रैलोक्य शीर्षे स्थितचिद्विला-सान् ॥ संस्थापये भावविशुद्धिदातृन ॥ सन्मंगलं प्राज्यसमृ चत्ये-हम ॥ मंत्रः ॥ ओंह्रीं वसुकर्मनाशक सिद्ध समूह ॥ अत्रावतरा वतरसं बौषट अव्हाननम ओंह्रीं वसुकर्मनाशक सिद्ध समूह अत्र मम संनितो भवभव वषट् संनिधानम ॥ अथाष्टकस्या मंत्रः ॥ ओंह्रीं नीरजसेनमः । भूमि शुध्यि ओंह्रीं दर्पमथनायनमः । जलं । ओंह्रीं शील गंधायनमः । चंदनं । ओंह्रीं अक्षतायनमः । अक्षतं । ओंह्रीं विमलायनमः ॥ पुष्पं ॥ ओंह्रीं परमसिद्धायनमः ॥नैवेद्यं॥ ओंह्रीं ज्ञानोद्यातायनमः ॥ दीपं ॥ ओंह्रीं श्रुतधूपायनमः । धूपं । ओंह्रीं अभीष्ट फलदायनमः । फलं । अष्टकर्म गणनष्टकार कानकष्ट कुंडालि सुदष्ट गारूडान् । स्पष्ट ज्ञान परिमीत विष्ट पानर्घतोद्यत प्रानाय पूजये ॥ मंत्रः ॥ ओंह्रींव सुकर्म रहित सि-द्धेभ्योऽर्घ्यंनिर्वपामि । अथ मध्य कटनीस्थ श्रुत पूजा । द्वादशांग माखिलं श्रुतं मयास्थाप्य पाणि परिपीडनोत्सवे । पूज्यतेय दपिधर्म-संभवोद्बुध घटोपजगतां प्रसीदति ॥ मंत्रः ॥ओंह्रीं द्वादशांगश्रुता-यार्घ्यंनिर्वपामि ॥

॥ अथ तृतीय कटनी गुरुपूजा ॥

शुद्धयो वलरत्रादिविक्रियौषध्यसंज्ञप महानपादिकाः । यत्कमांबुरू-हवासमासतेतान्गुरू नभिमहामिवार्मुखै ॥ मत्रः ॥ ओं ह्रीं मर्हर्धि-धारकपरमर्षिभ्योर्ध्वं निर्वपामि । अष्टमंगलामिदं पदांबुजे भासते । शातसुमंगलौघ्वदं । धर्मचक्रमभि पूजयेत्वरं कर्मचक्र परिनाशनोद्यतं ॥ मंत्र ॥ ओं ह्रीं धर्मचक्रयार्घ्यं निर्वपामि ॥

॥ अथ कुंडत्रयस्थापनः ॥

तत्रचतुष्कोणं तीर्थकरकुंडं वृतरूपं गणधरकुंडं त्रिकोणरूपं सामान्य केवलिकुंडं च स्थापयत् । तत्रमहोमार्थं समिद्धोमाह । सफेद चंदन लाल चंदन ढांक की समिध होम करनेको लेवे, कुंडों में ओंकार लिखे, उसके बाद अर्घ चढावे ताह्रांसमिध याने लकड़ी रखे और मेवा सुगंध द्रव्य घृतादि हवन करे ॥

॥ प्रथम कुण्ड पूजा ॥

श्रीतीर्थनाथ परिनिर्वृतिपूज्यकाले आगत्य वन्हि सुरपामुकुटोल्लसाद्भिः वन्हि व्रजैर्जिन पदेऽहमुदार भक्त्या । देहस्तदग्निमहमर्चयितु दधामिः ॥ मंत्रः ॥ ओं ह्रीं प्रथमे चतुरस्रे तीर्थंकर कुंडगार्हयत्याग्नये ऽर्घ्यं निर्वपामि स्वाहा ॥

॥ द्वितीय कुण्ड पूजा ॥

गणाधिपानां शिवयातिकालेनिंद्रोत्तमांगस्फुरदग्निरेषः । संस्थाप्य पूज्यः समयाऽह्वनीयो ॥ विवाह शांतौविधिनाहुतीशः ॥ २ ॥

॥ मंत्रः ॥ ॐ ह्रीं वृत्ते द्वितीये गणधरकुंडे आहवनीयाग्नयेऽर्घ्यं निर्वपामि स्वाहा ॥

॥ तृतीये कुण्ड पूजा ॥

श्रीदक्षिणाग्निः पुरकेवलिस्व शरीरनिर्वाण नुताग्निदेव । तिरीटसंस्फुर्यदसौमयामि संस्थाप्य पूजामि विवाह शांत्यै ॥ मंत्रः ॥ ॐ ह्रीं त्रिकोणे तृतीयेसामान्य केवलिकुण्डे दक्षिणाग्नयेर्घ्यं निर्वपामि स्वाहा । मेवा सुगंध द्रव्य घृतादि हवन करे ॥

॥ अथऽहुति मंत्रः ॥

ॐसत्यजातायनमः। अर्हज्जातायनमः ॥२॥ परमजातायनमः॥३॥ अनुपजातायनमः ॥ ४ ॥ स्वप्रधानायनमः ॥ ५ ॥ अचलायनमः ॥ ६ ॥ अक्षतायनमः ॥ ७ ॥ अव्याबाधायनमः ॥ ८ ॥ अनन्तज्ञानायनमः । अनन्तदर्शनायनमः । अनन्तवीर्यायनमः अनन्तसुखायनमः ॥ ९ ॥ नीरजसेनमः ॥ १० ॥ निर्मलायनमः ॥११॥ अछेद्यायनमः ॥ १२ ॥ अभेद्यायनमः ॥ १३ ॥ अजरायनमः ॥ १४ ॥ अमरायनमः ॥ १५ ॥ अप्रमेयायनमः ॥ १६॥ अगर्भनासायनमः ॥ १७॥ अक्षोभायनमः ॥ १८ ॥ अविलीनायनमः ॥ १९ ॥ परमघनायनम ॥ २० ॥ परमकाष्ट रूपायनमः ॥२१॥ लोकाग्रनिवासिने नमोनमः ॥२२॥ परमासिद्धेभ्योनमोनमः॥२३॥ अर्हत सिद्धेभ्योनमोनमः ॥२४॥ केवलिसिद्धेभ्योनमोनमः ॥२५॥ अन्तकृतसिद्धेभ्योनमोनमः ॥२६॥ परम्परासिद्धेभ्योनमोनमः॥२७॥ अनाद्यनुपमसिद्धेभ्योनमोनमः ॥ २८ ॥ सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्य

निर्वाण पूजार्हअग्नींद्राय स्वाहा ॥ २६ ॥ काम्य मंत्रः ॥३०॥ सेवाफलंषट परमस्थानें भवतु ॥ ३१ ॥ अपमृत्यु विनाशनं भवतु ॥ ३२ ॥ समाधिमर्णं भवतु स्वाहा ॥३३ ॥ इतिपीठिका मंत्र ॥

॥ अथ जाति मंत्र ॥

सत्यजन्मतः शरणं प्रपद्ये । १ । अर्हज्जत्मनाशरणं प्रपद्यें । २ । अर्हन्मातु शरणं प्रपद्ये ॥ अर्हत्सुतस्य शरणं प्रपद्ये ॥३॥ अनादि गमनस्य शरणं प्रपद्ये । ४ । अनुपम जन्मनः शरणं प्रपद्ये । ५ । रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्ये । ६ । सम्यग्दृष्टे ज्ञानमूर्ते सरस्वति स्वाहा । ७ । काम्य मंत्रः । सेवाफलं षटपरम स्थानंभवतु । ८ । अपमृत्यु विनाशनंभवतु । ९ । समाधि मरणं भवतु । १० ।

॥ अथ निस्तारक मंत्रः ॥

सत्य जाताय स्वाहाः १ । अर्ह जाताय स्वाहाः २ । षटकर्मणे स्वाहा ३ । ग्रामयतये स्वाहा ४ । अनादि व श्रोत्रियाय स्वाहा ५ । स्नातकाय स्वाहा । श्रावकाय स्वाहा । देव ब्राह्मणाय स्वाहा । सुब्राह्मणाय स्वाहा । अनुपमाय स्वाहा । सम्यग्दृष्टि निधिपतिवै श्रवणाय स्वाहा ॥ १० ॥

॥ कम्य मंत्र ॥

सेवाफलं षटपरम स्थानंभवतु ११ । अपमृत्यु विनाशनंभवतु । समाधि मरणंभवतु १२ । इति निस्तारक मंत्रः । अथ ऋषि मंत्रः । सत्य जातायनमः १ अर्हज्जातायनमः २ तिर्ग्रंथायनमः ३ वीत

रागायनमः ४ महाव्रतायनमः ५ त्रिगुप्तायनमः ६ महायोगाय नमः ७ विवधयोगायनमः ८ विवर्धयेनमः । अंगधरायनमः ६ पूर्व-धारायनमः १० गणधरायनमः ११ परमरिपिभ्योनमः १२ अनुपमजातायनमः १३ सम्यग्दृष्टे भूपते नगर पतेकाल श्रमण स्वाहा १४ ॥ काम्य मंत्रः ॥ सेवाफलं षटपरम स्थानंभवतु १५ अपमृत्यु विनाशनंभवतु १६ समाधि मरणंभवतु १७ इति ऋषि मंत्रः ॥

॥ अथ सुरेन्द्र मंत्रः ॥

सत्यजातायस्वाहा १ अर्हज्ञातायस्वाहा २ दिव्यजातास्वाहा ३ दिव्यार्चिर्जातायस्वाहा ४ नेमिनाथायस्वाहा ५ सौधर्मायस्वाहा ६ कल्पाधिपतयेस्वाहा ७ अनुचरायस्वाहा ८ परंपरेंद्रायस्वाहा । अहमिंद्रायस्वाहा ६ परमार्हतायस्वाहा १० अनुपमायस्वाहा ११ सम्यग्दृष्टे कल्पयते दिव्यमूर्ते वज्रनामायस्वाहा १२ काम्य मंत्रः। सेवाफलं षटपरम स्थानंभवतु १३ अपमृत्यु विनाशनंभवतु १४ समाधि मरणंभवतु १५ इति सुरेंद्र मंत्राः अथ मंत्रः सत्यजाताय स्वाहा १ अर्हज्ञातायस्वाहा २ अनुपमेंद्रायस्वाहा ३ बिजायर्चि जातायस्वाहा ४ नेमिनाथायस्वाहा ५ परमजातायस्वाहा ६ परमार्हतायस्वाहा ७ अनुपमायस्वाहा सम्यग्दृष्टिऽनुग्रतेजा-दिशांविजयनेमि विजयस्वाहा काम्य मंत्रः सेवाफलं षटपरम स्थानंभवतु ११ अपमृत्यु विनाशनंभवतु १२ समाधि मरणं-भवतु १३ ॥

॥ अथ परमेष्टी मंत्रः ॥

सत्यजातायनमः १ अर्हज्जातायनमः २ परमजातायनमः ३ परमार्हतायनमः परमऊपायनमः परमतेजयेनमः परमगुणायनमः परम स्थानायनमः ४ परमयोगिनेनमः ५ परमभाग्यायनमः १० परम रूपायनमः । परमतेजसेनमः । परमर्द्धयेनमः ११ परम प्रसादाय नमः १२ परम कांक्षितायनमः । परम विजयायनमः १३ परम विज्ञानायनमः १४ परमदर्शनायनमः १५ परम वीर्यायनमः १६ परमसुखायनमः १७ परमसर्वज्ञायनमः १८ अर्हतेपरमेष्टिनेनमः १६ परमनेत्रनमोनमः १६ सम्यग्दृष्टे त्रैलोक्य विजय धर्म मूर्ते स्वाहा २० धर्मनेमेस्वाहा ॥ काम्य मंत्रः ॥ २१ ॥ सेवाफलं पटपरमस्थानंभवतु २३ अपमृत्यु विनाशनंभवतु २८ समाधि मरणंभवतु २५ ॥ इति परमेष्टि मंत्रः १८ ॥ एतेनुपीठिका मंत्रः सप्तज्ञेयाद्विजोत्तमैः । एतै : सिद्धार्चनंकुर्याद्धाधादिक्रियाविधौ ॥

॥ प्रदाक्षिणा विधी ॥

ओं पुण्याहं पुण्याहं । लोकोद्योतनकराअतीत । कालसंजातानिर्वाणसागर महासाधुविमलप्रभु शुद्धाभश्रीधरसुदत्तामलप्रभोद्धराग्नि सन्मिति शिवकुसुमांजालि शिवगणोत्साह ज्ञानेश्वर परमेश्वर विमलेश्वरयशोधर कृष्णज्ञानमति शुद्धमति श्रीभद्रशांताश्चेतिनतुर्विंशत् भूतपरमदेवाश्चवः ॥ प्रीयंतां प्रीयंतां ॥ मंत्राः ॥ ओं संप्रति कालश्रेयस्कर स्वर्गावतरण जन्माभिषेक परिनिष्क्रमण केवल ज्ञान निर्वाण कल्याण विभूति भूषित महाभ्युदयाः श्रीवृषभाजित

शंभवाभिनंदन सुमतिपद्म प्रभुसुपार्श्व चन्द्रप्रभ पुष्पदन्त शीतल श्रेयोवासुपूज्य विमलनंतधर्म्म शांतिकुन्थ्व रमाल्लिमुनि सुव्रतनामिनेमि पार्श्ववर्द्धमाताश्चेति चतुर्विंशति वर्तमान परमदेवाश्चावः प्रीयतां प्रीयतां ॥ धारा ॥ ओं भविष्यत् कालाभ्युदयप्रभवाः महापद्मसुरदेव सुप्रभस्वयं प्रभमर्वायुधजय देवोदयदेव प्रभादेवोदंकदेव प्रश्नकीर्ति जयकीर्ति पूर्णवुद्ध निष्क-षायविमल प्रभवहलनिर्मल चित्रगुप्त समाधिगुप्त स्वयंप्रभकंदर्प जयनाथ विमलनाथ दिव्यवागनंत वीर्यश्चेति चतुर्विंशति भाविष्य-त्परमदेवाश्चवः प्रीयंतां प्रीयंतां ॥ धारा ॥ त्रिकालवर्ति परमधर्मा-भ्युदयाः श्री मंदरयुगमंद्र वाहुसुवाहु संजातकरार्य प्रभऋषभेश्वर अनंतवीर्य विशाल प्रभवज्रधर चंद्राननजी चंद्रवाहुजी भुजंगेश्वर नेमप्रभुवीरसेन महाभद्र नवदेवा जितवीर्याएचेति पंचाविदेह छेत्र विहर माणाविंशतिपरमदेवाश्चवः प्रीयंतां प्रीयंतां ॥ धारा ॥ ओं ऋषभ सेनादि गणधरदेवाः प्रीयंतां प्रीयंतां ॥ ओं कोष्ठक अपादानु आरिवुद्धि अभिन्नश्रोत्र प्रज्ञाश्रवणाश्रवः प्रीयंतां प्रीयंतां ॥ धारा ॥ ओं जलफल जंघातंतु पुष्पे श्रेणियत्राग्नि शिखाकाश-चारणाश्रवः प्रीयंतां प्रीयंतां ॥ धारा ॥ ओं अहाररस बद्क्षीण माहानसालयाश्रवः प्रीयंतां प्रीयंतां ॥ धारा ॥ उग्रदीप्त तप्तमहा घोरानुयमतयसश्रः वः प्रीयंतां प्रीयंतां ॥ धारा ॥ मनोवाक्य-वलिनश्रवः प्रीयंतां । धारा । क्रियाविक्रिया धारिणश्रवः प्रीयंतां । धारा । मतिश्चुतावधिमनः पर्ययकेवलज्ञानिनश्रवः प्रीयंतां प्रीयंतां । श्रुतिकेवलिनश्रवः प्रीयंतां प्रीयंतां । धारा । अगांगवाह्य

ज्ञानादिवाकराः। कुंदकुंदाद्यनेकादिगंबरदेवाश्रवः प्रीयंतां। धारा। इहवान्यनगरग्रामदेवा तामनुजा भवंतु सर्वेगुरू भक्ताजिन धर्मपरायणा द्वेदा। दानतपोबीर्यो नुष्टानं नित्यमेवास्तु। धारा। मातृ पितृ भ्रातृ पुत्र पौत्र कलत्र सुहृतस्वजन संबंधी बंधुसहितस्य अमुकस्पते धनधन्यौश्वर्य वलद्युति यशःप्रमोदोत्सवाः प्रवर्धंतां। तुष्टिरस्तु। पुष्टिरस्तु। बृद्धिरस्तु। कल्याणमस्तु। अविघ्नमस्तु। आयुष्यमस्तु आरोग्यमस्तु। कर्मसिद्धरस्तु। इष्टसंपतिरस्तु। काममांगल्योत्सवाःसंतु। पापनिशाम्यंतु घोराणिशाम्यंतु। पुण्यंवर्धतां धर्मोवर्धतां श्रीवर्धतां। कुलंगोत्रंचाभिवर्धतां। स्वतिभद्रंचास्तु द्वां द्वीं हंसःस्वाहा। श्रीमजिनेद्र चरणारविंदेष्वांनंदभाक्तिः सदास्तु। इतिबुनमंगलकलशादिय सव्यहस्तोद्धताध्दारांनिपातयेते इति शांति धारा॥

ततःशांतिस्तवः। चिद्रूपभावमवद्यामिमं त्वदीपंध्यायंतियेमु दुर्पाधिव्यतिहारमुक्तं। नित्यं निरंजनम नादिमनंतरूपंतेषां महांसिभुवन तृतयेलसातिध्ययस्तमेव भवपंचतयप्रसारनिर्नाशिकारण विधौनि पुणत्वयोगात॥ आत्मप्रकाशकृतलोकत्वदन्यभाव पर्यायविस्फुरण कृत्वरमोसियोगी। त्वन्नाममंत्रघनमुद्धतजन्मजातदुःकर्मदावमभिशम्यशुभांकुराणि॥ व्यापादयत्ततुलभाक्ति समृद्धिभांजिस्त्वामिन्यतोसिशुभदः शुभकृत्वमेवातपाद तामरसकोषनिवास मास्तेचित्तद्विरेफ सुकृतीममयावदीश॥ तावच्चसंसृतिजकिल्वषतापशांपः स्थानंमायिक्षणमपिप्रतियातिकाचित॥ त्वन्नाममंत्रमणिशं रसनाग्रवर्तितस्यासतिभोहमद घूर्णननाशहेतु प्रत्यूहराजिलगणोद्भव कालकूटभीति-

हिनस्याकुसुमांनिधिमेतिदेव ॥ तस्मात्वमेवशरणं तरणंभवाब्धौशां-
तिप्रदः सकलदोषनिवारणेन ॥ जगतिशुद्धमनसास्मरतांयतोमे ॥
शांतिःस्वयं करतलेरभसाभ्युपैति ॥ धारा ॥ शांत्यर्थंपुष्पांजलिं-
क्षिपेत ॥ ततः पुनःजयमालांपठित्वा जयापत्योर्हस्तोदकं सुमुदित
मर्घं च दद्यात् ॥ ततःपुष्पांजलिंग्रहीत्वापठेत् ॥ जगतिशांति विव-
र्धनमहंसांप्रतमस्तुजिनस्तवनेनमे । सुकृतबुद्धिरलंक्षमयायुतोजिवृषो
हृदयममैवततां ॥धारा ॥ इतिपुष्पांजलिंक्षिपेत् । सिद्धार्चनादिप्रकृत
मृद्धिसंघंविसर्जयेन्मंत्रवरेणसूरिः ॥ वादित्तनादोल्लसतंयथार्हसंस्था-
पनांसद्यनिसंनियुज्यात् ॥मंत्रः॥ ओंह्रींअस्मिनविवाहमांगल्यकर्म-
णिआहूपमादेवगणः स्वस्थानंगच्छतु अपराधक्षमापनंभवतु ॥धारा॥
इतिविसर्जनार्थं पुष्पांजलिंक्षिपेत् । स्वश्रूसमागत्य वरस्यकुर्यान्नीरा
जनां साक्षतपात्रहस्तामुदं कुरोदभूपितगात्र शोभाविष्कारणेवात्र
हतांधकारा ॥ धारा ॥ अथाचार्योदं पत्योराशीर्वादंदद्यात् ॥
आरोग्यमस्तुचिरमायुरथोशचीव शक्रस्यशीतकिरणस्य च रोहिणी
वमेषस्वरस्यच सुलोचनकायथेपा भूपात्तिवेप्सितसुखानुभवोद्यधात्री
सम्पूर्णं ॥

॥ अथ विनती भाषा में ॥

॥ छन्द गीतका ॥

सब मनुज नाग सुरेन्द्र जाके उपरि छत्रप धरें।
कल्याण पंचक मोद माला पापभव भ्रमतम हरे॥
दर्शन अनंत अनंत ज्ञान अनंत सुख वीरज भरे।
जयवंतते अरिहंत शिव तिय कंथते मोउर संचरें॥ १॥
वर ध्यान रूप कमान वानसु तान तुरत जलादिये।
युतमान जन्म जरामरण भय त्रिपुर फेरनहीं भये॥
अविचल शिवालय धाम पायो स्वगुतैंन चलै कदा।
तोसिद्ध प्रभु अविरुद्ध मेरे शुद्ध ज्ञान करो सदा॥ २॥
जे पंच विध आचार निरमल पंच आग्नि सुसाधते।
बरह्मादशांग समुद्र अव गाहन सकल भ्रम वाधते॥
धानि सूर संत महत विधि गण हरणके अति दक्ष हैं।
ते मोक्ष लक्ष्मी देहु हमको जाहि नहीं विपक्ष हैं॥ ३॥
जे भीमि भव कानन कुअटवी पाप पंचानन जहां।
तीक्षण सकल जन दुःख कारण तासकै नखगण महां॥
तेभ्रमत भूले जीव को शिव मग बतावे सर्वदा।
तिन उपाध्याय मुनीन्द्र के चरणारविन्द नमूं सदा॥ ४॥
विन संग उग्र अभंग नपतें अंग में अति पीन हैं।
नहिं हीन ज्ञानानन्द ध्यावत्त धर्म शक्ल प्रवीन हैं॥
आतितपो कमला कलितभा सुरासिद्ध पदसादन करें।
ते साधु जयवंतो सदा जे जगत के पातक हरें॥ ५॥

शिवपुर अनूपम वास जिस अभिलाष अहामिंद्रन प्रतैं ।
तिस पंथ भ्रमत सो विकट द्रग छायो पटल हतै ॥
वंदौं जिनेंद्र वचन अमल मणि दीप जोत प्रकाशते ।
गुरु वैद्य किम मिलतौं द्रग खुलतौंन शिव पथ भाषते ॥ ६ ॥
परिवर्त पंचमहांध द्रहमें पटक लखाति रहे सदा ।
अतिवार मोह महान निर्दय लवन उबरन देकहा ॥
सो अरि प्रहीराति सद्रहउ धरिवर सुख धरैंसो धर्महै ।
स्वाधीन स्यास्वनत शांतिर समय भजोस्व प्रकृति पर्महै ॥७॥
संसारमें जिय कौन हित हित मोखसो विधि नाशनैं ।
विधि नाश आत्म उजास जास प्रकाश प्रकृति उदासतैं ॥
सो प्रकृति प्रकटाति जन प्रतिमा चितारि विलोकतैं ।
बिन वस्त्र भूषण शास्त्र वंदू तीन लोक कृता कृतैं ॥ ८ ॥
इस जगतमें नव इष्ट जियके पंचपद व्रषभ गती ।
जिन बिंबजिन गृह जान आन अनिष्ट कल्पित दुरमती ॥
तिनन वन को आश्रय उद्योतक निमित जिन गृह परमिते ।
सुर नर असुरपति औद्यपूज्य पवित्र वंदू जगजिते ॥ ९ ॥
मह परम नव मंगल जगोतम परम सरन जग त्रये ।
येही परमहित अहित हर इनतैंहि मन बंछित थये ॥
यह करहु मंगल सुवर कन्या मात पित हित सर्वदा ।
पर अपरिजन तुमहम सबके नंदवृद्ध करौ सदा ॥ १० ॥

॥ इति विनती सम्पूर्ण ॥

॥ इति श्री विवाह पधति सम्पूर्णम् सम्वत् १९६४ ॥
भाद्रपद शुक्ला ९ चन्द्रे ।

सूचना
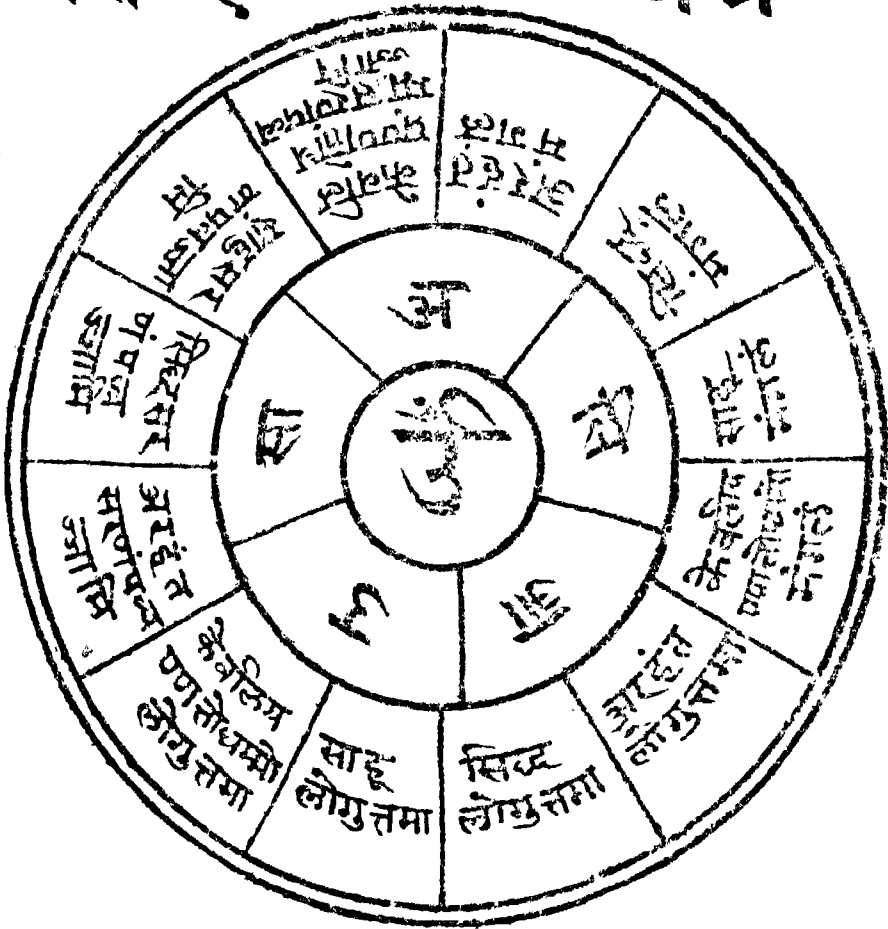
यह यंत्र बहुधा अनेक जिन मंदिरों में हुवा करता है यदि कहीं के मंदिरजी में नहीं होतो तांबे की रकेबी पर खुदवाकर एक दिन पहिले शुद्धता पूर्वक मंदिर जी में स्थापन करदेना चाहिये फिर उसको नियत दिन पर वर वा कन्या विधि पूर्वक अपने घर लाकर पूजन किया करें

प्रथम कटिनी पर·

सिध्द प्रतिमा अथवा सिध्द यन्त्र को स्थापन करना

दूसरी कटिनी पर·

शास्त्रजी का स्थापन करना·

तीसरी कटिनी पर·

गुरु की स्थापना अथवा नीचे लिखे अष्टमंगल द्रव्यों की स्थापना करना·

कटिनी के आगें·

गणधरकुंड तीर्थंकरकुंड सामान्यकेवलीकुंड

चक्रत्रय छत्रत्रय

सूचना·
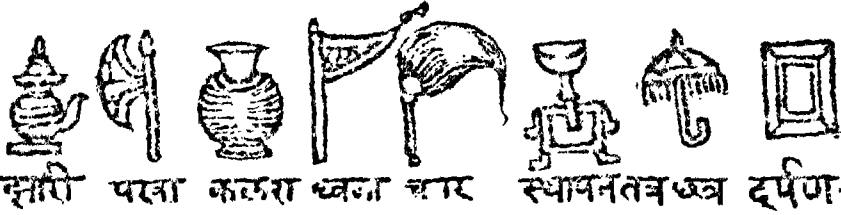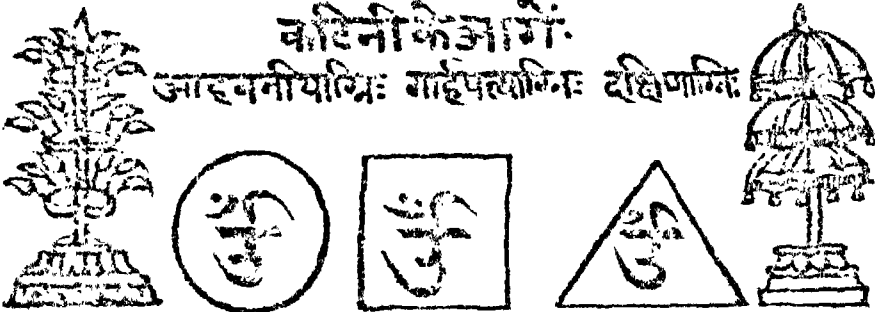
अष्ट मंगल द्रव्य साक्षात न हीं मिलै तो आठ रकेबीयों में केशर के बनाकर स्थापन करदें अथवा एक ही थाली में केशर· के बनालें· चक्रत्रय (धर्म चक्र) और छत्र लकडी का व कागज का बनाकर रख सक्ते हैं-

सच्चे सुखकी कुंजिया.
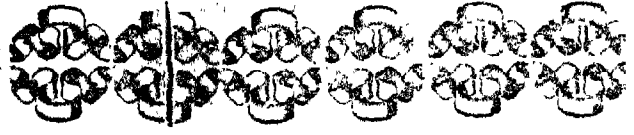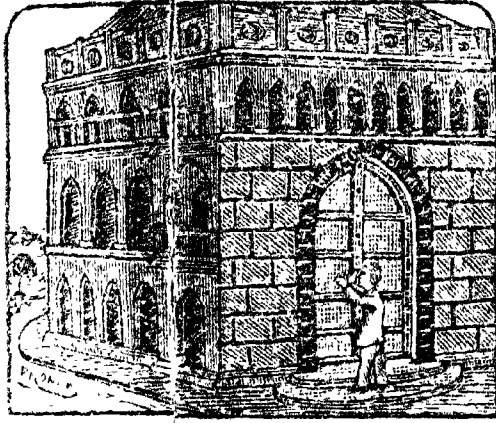
प्रसिद्धकर्त्ता

'हिंदी जैनहितेच्छु' पत्रकी ऑफिस,

पंचकुवे, अहमदाबाद.

मूल्य ०-८-०

श्री जैनसमाचार प्रिंटिंग प्रेसमें छपा-अहमदाबाद

सच्चे सुखकी कुंजियां.

आद्य लेखक (गुजरातीमें)

श्रीयुत मणिलाल नथुभाई दोशी, बी. ए.

हिंदी अनुवादक

एक भारतवासी.

प्रसिद्धकर्त्ता

श्री 'हिंदी जैनहितेच्छु' पत्रकी ऑफिस.

अमदाबाद.

वीर सम्वत २४३५—इ. स. १९०९

Jaina Samachar P. Press-Ahmedabad.

समर्पण.

सब भूतोंपर दया करनेवाले, मन वचन और कायाका उत्तमोत्तम उपयोग करनेवाले, परोपकारके लिये ही अपने जीवनको समझने वाले (फिर वे किसी देशमें उत्पन्न हुवे हो और किसी धर्म के हो,) महापुरुषों के कर कमल में यह पुस्तक सादर समर्पण की जाती है.

अहमदाबाद.	वा. मो. शाह.
दीपोत्सवी. वीरसंवत् २४३५	अधिपति. हिंदी ' जैनहितेच्छु.'

प्रस्तावना.

"सच्चे सुखकी कुंजियां" एक अति उपदेशी पुस्तक है, जिस्की तारीफ हम संपूर्णतः नही कर सकते. हमने सोचा कि ऐसे उत्तम पुस्तकों हमारे अखबारके ग्राहक महाशयोंको विना मूल्य देनेसे उन्में ज्ञानका प्रकाश होगा, वांचनशोक बढेगा और साहित्यकी भी कुछ सेवा बजेगी. इस लिये यह पुस्तककी गुजराती आवृत्ति हमारे परम मित्र श्रीयुत मणिलाल नथुभाइकी परवानगीसे छपवा कर हमारे गुजराती ' जैनसमाचार ' नामक साप्ताहिक अखबार के ग्राहकोंको गत वर्षमें बांटीथी और इस वर्षमें उसका हिंदी अनुवाद करवाके ' हींदी जैनहितेच्छु ' पाक्षिकपत्रके ग्राहक महाशयों को बांटनेका ठहराया है. इसीतरह हमने कोइ ८–१० तरहके पुस्तक विना मूल्य बांटे हैं. ऐसे ज्ञानोन्नतिके कार्यमें श्रीमंतों को अपना धन व्यय करना बहोत श्रेयस्कर है.

पुस्तक शीघ्रतासे छपनेके सबब कइ दोष रह गये होंगे, अत एव हम पाठक गणसे क्षमा चाहते है. दूसरी आवृत्तिमें शुद्धतापूर्वक छापनेकी तजवीज की जायगी.

वा. मो. शाह.

सच्चे सुखकी कुंजियां.

पहला प्रकरण.

सरत् पूनम की रात है। चन्द्रमा अपनी सब कलाओंसे प्रकाशित हो रहा है। सफेद चांदनी छिटक रही है। बारह बजचुके है। ठंडी २ पवन चल रही है। सब मनुष्य सो रहे हैं। मुझे मालूम होने लगा कि मैं बिल्कुल स्वप्नावस्था में हू परन्तु मैं कुछ २ सो रहा था और कुछ २ जग रहा था !

आंख खोलकर मैंने चारों ओर देखा तो एक दिव्य मनुष्य मुझे अपनी ओर आता हुआ देख पडा। इस महापुरुषकी भव्य और तेजस्वी आकृति को देखतेही मैं उसे साष्टाङ्ग प्रणाम किये विना रह नहीं सका-मैं स्वय मेव उसके चरणोंपर गिर गया और मुझे मालूम होने लगा कि मैं किसी दयासागर महा पुरुष के पास मोजूद हूं.

उनके सन्मुख मेरे मुखमेंसे एक भी शब्द न निकला.

जब उन महात्माने मेरी ऐसी दशा देखी मुझे अपने पास बुलाया। उनके मुखारविन्दसे निकली हुई सुधावाणीसे मुझे कुछ साहस हुआ और मेरे मुखसे नीचे लिखे हुए वचन प्रकट हुए:—

"हे कृपालु देव, हे भक्तवत्सल गुरो मैं ज्ञान पानेको बडा ही आतुर हूं। ज्ञा अज्ञान के पडदे में छिप रहा है। प्रभो! आपने उस पर्दे को दूर कर दिया है। जि कठिन मार्गपर चलकर महात्मा ज्ञानी ज मोक्षपद पाने को समर्थ हुए उसी मार्ग प्रकाश कर आपने दासका अत्यन्त उपका किया है। यह आपका शिष्य आपके दिखलाये हुए मार्गपर निःशङ्क होकर चल को और विशेष ज्ञान पानेको उत्सुक है इसलिए हे दयासागर गुरो ! ऐसे विष मार्गपर चलने को और अनन्त ज्ञान ला करने को इस दासको पूर्ण धैर्य दीजिए.

गुरुदेव भी सहज दयामय स्वभाव मुझपर कृपाकर प्रेमाश्रुपूर्ण आंखों से ह देखकर बोले:

"हे शिष्य, हे वत्स ! तूने कठिन मार्गपर चलनेका जो निश्चय कि है केवल अपने लाभके लिए। इस वि मार्गपर चलनेको तू तैयार हो! गुरूतो के

ल मार्ग बता सकते है परन्तु उसपर चलनेका काम तो तेरा ही है।

"राजमार्ग सबके लिए एक है परन्तु उस मार्ग पर जानेके लिए प्रत्येक मनुष्य के अधिकार के अनुकूल अलग २ गलियां हैं। हे दृढ हृदयवाले शिष्य! तुझे कौनसा मार्ग लेना है? तुझे चार प्रकारके ध्यानका मार्ग ग्रहण करना है या छह सद्गुणोंके मार्गपर चलना है?

"मोक्ष रूप उच्च पद पानेके लिये चार प्रकारके ध्यानका मार्ग सीधा नहीं है। जो मनुष्य इस मार्ग पर चल कर अपनी इष्टसिद्धि कर सके उसने सचमुच बडा भारी काम किया। परन्तु केवल ज्ञान रूपी सातवीं सीढी पर जिससे चढ सकते है ऐसा छह सद्गुणोंका मार्ग तो इससे भी कठीन है। हे शिष्य! ऐसा होनेपर भी तू कुच्छ चिन्ता न कर, तू घबराहटको दूर कर और हिंमत बांध ले: क्योंकि पहले हम भी तेरे जैसे मामूली मनुष्यही थे। आत्म शक्तिमें विश्वास रखकर सन्मार्ग पर चलनेका यत्न करनेसे हम इस स्थिति को पहुंचे हैं। इस वास्ते धैर्य रखना चाहिये और कदाचित् मार्गमें विघ्न पडे तो भी उससे विचलित न होजाना चाहिए.

"हे मुमुक्षु! तुझे सात दरवाजोंमें होकर जाना पडेगा। इन दरवाजों पर मार देवके काम, क्रोध, लोभ, मान, माया, अज्ञान और अश्रद्धा ये सात दूत बैठे हुए हैं। इनके साथ तुझे वीरता पूर्वक लडना पडेगा। हे शिष्य! आत्मशक्तिमें श्रद्धा रखनेवाले! धैर्य रख। उच्च नियमको अपने हृदयसे एक क्षणके लिये भी दूर न कर। सन्मार्गपर चलते हुए कितने विघ्न, कितनी ही बाधायें, कितनेही संकट सहने पडे तोभी किये हुए दृढ निश्चय से न हिल। जो तू एक दफे भी सम्यक्त्व पा सके, एक दफे भी सत् और असत्, शाश्वत और क्षणिक वस्तुके भेदको समझ सके, एक दफे भी निर्वाण तक बहते हुए निर्मल झरनेमें पैर रखसके तो फिर यह अच्छी तरह समझ ले कि अब मेरा जन्ममरणसे मुक्त होनेका समय आ पहुंचा है"।

"हे दैवी ज्ञानके जिज्ञासु! आँख उठा और देख कि तुझे क्या क्या दिखाई देता है? और देखकर मुझे कह" गुरुदेवने पूछा।

"हे परम कृपालु देव! मायाके समुद्र पर अज्ञानका परदा पडा हुआ मुझे देख पडता है। मेरी निगाहके सामने वह समुद्र विशेष २ गहरा होता जाता है। परन्तु आपके हाथके हिलने मात्र से वह अदृश्य होता हुआ देख पडता है। सर्व कीसी अज्ञानकी छाया मिटती जाती है। वह बढकर अन्धकारमें लीन हो गई। दयानिधे! अब तो मुझे वह मार्ग साफ मालूम होता है। उसकी समतल भूमि मिथ्यात्व–अज्ञानसे भरी पडी है और उसका शिखर निर्वाणके तेजसे प्रकाशित हो रहा है। कभी न देखे ऐसे ऊच्च ज्ञान के सूक्ष्म से सूक्ष्म दरवाजोंपर अब मेरी निगाह पडी है" मैंने निवेदन किया.

गुरुदेव बोले: "हे सुज्ञ शिष्य! तूं जिन दरवाजों को देख सका है वेही तेरे कल्याण

के लिये हैं! इन दरवाजोंमेंसे जो निशंक हो चले जाते हैं वेही माया रूपी भँवर जाल वाले संसार समुद्रको तैर के पार होजाते हैं॥ प्रत्येक दरवाजे को खोलनेकी एक एक सुवर्णकी कुंजी है। तुझे योग्य अधिकारी समझकर ये कुंजियां मैं तुझे देता हूं। तू उनका अच्छा उपयोग करना। दान, शील, क्षान्ति, वैराग्य, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा (ज्ञान) ये सातों दरवाजोंकी क्रमशः सातों कुंजियां हैं। इन सातों कुंजीयों से सातों दरवाजे खुल जायगे। जब तू इन दरवाजोंमेंसे निकलेगा तीनों कालके—भूत भविष्यत वर्तमानके—सब पदार्थ और भावोंको जान सकेगा। परन्तु हे सुमतिधारी शिष्य! तू अपने ज्ञानका सदुपयोग करना और जो तेरे मनुष्य बन्धु आध्यात्मिक ज्ञानमें तुझसे नीचेके दरजेमें हों उन्हे तू सहायता देना। ज्ञान गर्वके लिये नहीं है परन्तु अज्ञान को दूर करनेके लिये है। इस सिद्धान्त को अपने हृदयसे कभी दूर न करना। अधिकारी जान कर दिये हुए ज्ञानका पात्र होना और इंद्रियोंके विषयसे विमुख होकर एकाग्र चित्तसे प्रत्येक कुंजी पर खूब मनन करना। यद्यपि ये कुंजियां मामूली सी मालूम होती हैं परन्तु तुझे इनमें बहुत कुछ ज्ञान मिलेगा। आत्मशक्तिमें तू दृढ विश्वास रखना और इस मार्गपर चलते हुए तुझे जो जो शक्तियां और सिद्धियां मिले उनका उपयोग जन समाज के कल्याण के लिये करना॥"

इन शब्दोंको सुनते ही मेरे आनन्दकी सीमा न रही। वार २ मैं गुरुदेव की प्रार्थना करने लगा.

इन शब्दों का अनुभव हो जानेसे जो आनंद और संतोष मुझे हुवा उसका वर्णन करनेको मेरेपास पुरे २ शब्द नहीं हैं, परं उस स्वप्नका विचार करते २ मै गहरी नींद सो गया. जब मै प्रातःकाल उठा तो गुरुदेवकी दिव्य मूर्ति और उनका उपदेश मे हृदय के साम्हने आ गये. मैं अपने घर गृहस्थी के काममें लगुं उसके पहले उस स्वप्न गुरुदेवने जो मेरे आध्यात्मिक जीवन असर किया है उसे कैसे वर्णन करूं इस लेखक को समझ नहीं पडता। मैं चाहता हूं कि संपूर्ण संसार उस उपदेश गंभीर अर्थ यथार्थ रीतीसे समझ सके और वैसेही उसमें दिखलाए हुए मार्गका अनु करने योग्य हो जाय. एक के बाद इस रीतिसे मैं उन सात कुंजियों के गं अर्थका विचार करूंगा.
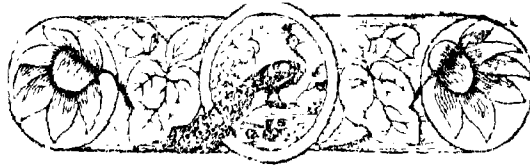
दूसरा प्रकरण.

१ म कुंजी–दान.

गुरु दर्शनका अच्छा योग मिला और उनका किया हुआ उपदेश अच्छे भाग्यसे मुझे प्रातःकालमें याद रहा ये सब इस प्रकरणमें बता गया है। जिन सात दरवाजोंमें होकर निकलनेसे भूत भविष्यत और वर्तमान-तीनो काल सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान मिलता है उन दरवाजों के खोलनेमें मदद दें ऐसी सात सुवर्णकी कुंजियों के विषयमें हमें विचार करना है। उनमें पहली कुंजी दानकी है। इसी के विषयमें इस प्रकरणमें विचार करेंगे.

दानकी व्याख्या.

जैन धर्ममें धर्मके जो ४ प्रकार बताये गए उनमें दानको पहला पद दिया गया है. संस्कृत 'दा' धातुसे दान शब्दकी उत्पत्ति है. 'दा' का अर्थ है देना. यहां पर दान शब्द उसके संकुचित अर्थमें नहीं है। परन्तु जिस प्रेमसे-जिस हृदयकी आर्द्रतासे मनुष्य दान करनेको प्रेरित होता है उन सब बातों का दान शब्द में समावेश होता है। यदि और रीति से कहें तो "देना और देनेकी वृत्ति" ये दोनों भाव दान शब्द से समझने की आवश्यकता है। प्रेमसे मनुष्य दूसरे मनुष्यका दुःख दूर करनेका यत्न करता है. दान का हेतु भी जिन २ वस्तुओंके अभावसे मनुष्य इस जगतमें दुःख पाते हैं उन २ वस्तुओंके दानसे मनुष्यका दुःख दूर करना है.

दानकी आवश्यक्ता.

स्वरूपसे-सत्तासे सब आत्मायें समान हैं। परन्तु उन्नति के क्रममें अलग २ सीढियों पर स्थित होने से और जीवोंके कर्म भिन्न २ होने से उनकी स्थिति में भिन्नता जान पडती है। कितने ही सुखी जान पडते हैं तो कितने ही दुःखी, कितने ही विद्वान हैं तो कितनेही मूर्ख, कितने ही सद्गुणी हैं तो कितने ही दुर्गुणी, कितने ही बलवान और कितने ही निर्बल देख पडते हैं। जगतकी ओर दृष्टि करने वाले को ये भेद सहज ही मालूम हो जाते हैं। इस लिये आवश्यक है कि जो दुःखी है, जो अज्ञान है, जो निर्बल

हैं, जो दुर्गुणी हैं और जो निर्बल हैं उनको सहायता की जाय और यह सहायता दान से हो सकती है।

मनुष्यों के ३ प्रकार.

कार्य-कारण का अचल नियम (जिसको धर्म शास्त्र में कर्म नाम से लिखा है) के अनुकूल संसार में तीन प्रकार के मनुष्यों हम देखते हैं.

(१) कुछ मनुष्य तो ऐसे हैं जो जन्म से ही नीतिशाली और धनवान मनुष्यों में बडे हुए हैं और वे स्वयं सदाचारी और धनवान हैं.

(२) कुछ मनुष्य ऐसे हैं जो गरीब माता पिताके घर उत्पन्न हुए हैं और जिन्हें शिक्षा पाने का और नीति सिद्धान्तों के समझने का अवसर नहीं मिला और न नीति के अनुकूल चलने का अवसर मिलता है और वे स्वयं निर्धन हैं.

(३) जिन्होंने उत्तम स्थिति में जन्म पाया है परन्तु कुकर्मों के कारण बुरी दशा में आ पडे हैं कुछ ऐसे पतित पुरुष हैं.

इनके प्रति हमारा कर्तव्य.

जो धनवान मनुष्य सदाचारी हैं अर्थात् जो प्रथम श्रेणीके मनुष्य हैं उन्हें देख कर हमें चाहिए कि हम प्रसन्न हों और उनसे किसी प्रकार की ईर्ष्या न करें। द्वितीय श्रेणीके जो गरीब मनुष्य हैं उनका दुःख दूर करने के लिये हमें यथाशक्ति दान देना चाहिये और उन्हें प्रीति और नीति के सिद्धान्त बता कर सन्मार्ग पर लगा देना चाहिए शक्ति होते हुए भी, दान देने की सामर्थ्य होने पर भी जो दान न दिया जाय तो वह एक प्रकारका घातकीपन है। गुप्त नाद नामक आध्यात्मिक पुस्तक में लिखा है कि Inaction in an act of mercy is an action in a deadly sin अर्थात् जो दया के कामोंको नहीं करते हैं वे भयङ्कर पाप कर्म करने वाले हैं. इस लिये अपनी २ शक्ति के अनुसार दुखिया का दुःख दूर करने का यत्न करना चाहिए। तृतीय श्रेणीके मनुष्य जो कुमार्गके पथिक हो गये हैं और अधम स्थिति में आ पडे हैं वे भी दया के पात्र होने चाहिये। क्योंकि सद्धर्म को न जानने के कारण ही उनकी ऐसी प्रवृत्ति हुई है. इस कारण ऐसे अज्ञानी मनुष्य धिक्कारके पात्र नहीं परन्तु दयाके पात्र हैं.

दानके भेद.

अब हम इस बात पर विचार करते हैं कि दान कितने प्रकारसे होता है। संसारकी स्थूल वस्तुओंका दान, विद्या दान, धर्मदान और अभयदान. जिस मनुष्य के शरीर में भूख का खड्डा पड रहा हो, जिसका कंठ प्याससे सूख गया हो या रोगी हो ऐसे मनुष्य का दुःख दूर करनेकी सबसे पहले अवश्यकता है. क्योंकि जबतक मनुष्यका शरीर अच्छा न होगा तबतक विद्या और धर्म की ओर उसकी रुचि होगी इस लिये अन्न-जल और औषधि

उनका दुःख दूर करना चाहिये. विद्यादान दान की महीमा अन्नदान से भी अधिक मानी है. लिखा है कि:—

अन्नदानं परंदानं विद्यादानमतः परम्
अन्नेन क्षणिका तृप्तिर्यावज्जीवं तु विद्यया॥

अन्न दान यह उत्तम दान है परन्तु विद्यादान उससे भी अधिक है; क्योंकि अन्न से थोडी देर के लिए संतोष होता है परन्तु विद्यासे जीवन भर संतोष होता है। विद्यासे जो मानसिक सुख विद्याविलासियों को मिलता है इन्द्रियों के विषयोंमें लिप्त हुए मनुष्यों को उस का विचार स्वप्नमें भी नहीं हो सक्ता। धर्म का दान विद्यादान से भी श्रेष्ठ है। लौकिक व्यवहार में उपयोगी ज्ञान से मनुष्य अपने कुछ दुःखों को दूर कर सक्ता है परन्तु जन्म मरण के चक्र में से मुक्त होकर निर्वाण के नित्य आनन्द को पाने के लिये तो धर्म सिद्धान्त का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि धर्म सिद्धान्त का उपदेश करने वाले गुरु की इतनी महिमा है। मनुष्य उन्हें पूज्य भावसे देखते आये हैं और अब भी देखते हैं। अभयदान की महिमा भी शास्त्रों में खूब लिखी है। इसका कारण यह है कि मनुष्य मात्र को अपने शरीर से ममता होती है। बच्चा हो या बुड्ढा कोइ मरना नहीं चाहता। मरते हुए प्राणीको अभय दान देकर बचाना बडा उत्तम काम है। ऐसे बचाने वाले मनुष्य को शास्त्रमें बडा उपकारी लिखा है। परन्तु जो हम अभय दान से भी धर्मदानको उत्तम गिनें तो अनुचित नहि है। क्योंकि अभयदान से कुछ समय के लिये हम प्राणी को बचाले परन्तु आगे पीछे वह मरेगा अवश्य। श्रीमद्भागवत गीतामें लिखा है "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" जिसने जन्म लिया है उसको मृत्यु अवश्य होगी। इस लिये जिस ज्ञान से फिर जन्म ही लेना न पडे ऐसे ज्ञान उत्पन्न कर देने वाला धर्मदान ही सबसे उत्तम दान है। धार्मिक शिक्षा से मनुष्य के विचार और जीवन पर ऐसा प्रभाव पडता है और आचार व्यवहार में ऐसी उन्नता आ जाती है कि मनुष्य को थोडे जन्म के बाद और कई एक को उसी जन्म के बाद दूसरा जन्म नहीं लेना पडता। जिसका जन्म नहीं उसका मरण नहीं; इस लिये मरने से बचने की अपेक्षा जन्मही लेना न पडे वह मार्ग जियादा अच्छा है। इस तरह अध्यात्म विद्याका-धर्मके उच्च सिद्धान्तोंका दान मनुष्य को जन्म मरण के बन्धन से मुक्त करने वाला होनेसे यही सर्वोत्तम दान है। इसीको देने वाला सच्चा दानी है। जैनियों के २४ वें तीर्थंकर सर्वज्ञ श्री महावीरस्वामीने गृहस्थाश्रम में रह कर जो सांवत्सरिक दान दियाथा और उससे जो उन्होंने दूसरोंका उपकार कियाथा उसकी अपेक्षा अनन्त गुणा उपकार वे अपने ज्ञानके उपदेश से करनेमें समर्थ हुए थे। उनके दिये हुए उपदेश दानसे उस समय के मनुष्यों को लाभ हुआ, अब भी अनेक मनुष्य उनकी शिक्षाके मार्गपर चलकर लाभ उठाते

और भविष्यत कितने जन लाभ उठावेंगे इसका अन्दाज भी नही लगाया जा सकता. धर्म स्थापक और उपदेशक इन्ही कारणोंसे पूज्य समजे जाते हैं.

दान प्रसंग.

जगतमें जितने प्रकारके दुःख हैं दान करने के भी उतनेही प्रसंग हैं. मनुष्यों को खाने की पहरने की सोरहने की आदि अनेक प्रकारकी आवश्यकता है उसी तराह दान के भी अलग २ क्रम हैं.

इस स्थूल जगतके अनुकूल दान के प्रसंग.

(१) भूखेको भोजन देना (२) प्यासे को जल देना (३) वस्त्रहीनको वस्त्र देना (४) गुलामों को स्वतंत्र करना और उन्हे उद्योग धंधेमें लगाना (५) बीमारकी दवा करना और उसे विश्वास देना (६) अतिथि की सेवा करना ये छहों प्रकार अच्छे हैं, और भी भेद लिखे जा सकते हैं जैसे (७) गरीब बीमारों की दवा सेवा सुश्रुषा करना (८) भूले हूए यात्रीको मार्ग बतलाना (९) गरीबोंको व्यापार धंधे लगाना (१०) कर्ज अदा न कर सके ऐसे को कर्ज माफ करदेना (११) अन्यायी मनुष्योंके हाथसे गरीब और गुलामों छुडाना.

अध्यात्मिक और ज्ञान दान.

(१) अज्ञानी मनुष्योकों ज्ञान देना (२) बुद्धिमें आवे ऐसा उपदेश कर धर्ममें शङ्का करनेवाले मनुष्यों के चित्तका समाधान करना (३) दुराचरणमें पडे हुए मनुष्योंको रीतिसे समजा बुझाकर कुमार्गसे दूरकर अच्छे मार्गपर लगा देना (४ मानासिक पिडासे—चिंता—उद्वेगसे दुःख मनुष्योकों कर्म के सिद्धान्तको समझाकर शा करना (५) अपराधियों को—उनके अज्ञा नका दोष मानकर क्षमा करना (६) स वका कल्याण हो और सब सन्मार्गपर च ऐसी प्रार्थना करना; जैसा कि बडे शा पाठमें लिखा है:—

शिवमस्तु सर्व जगतःपरहित निरताभवन्तु भूतग
दोषःप्रयान्तु नाशं सर्वत्र सुखिनो भवन्तु लो

सब जगतका भला हो; परोपकारमें र संसार लगे; दोष मात्र दूर हो; सब जगह र लोग सुखी रहे !

(७) जो धर्ममें शिथिल हो उन शुद्ध उपदेश कर धर्ममें दृढ करना. (८ जो दृढ हो उन्हें खूब दृढ करना (९) सीपर झुठा कलंक न लगाना और जो दोष सच्चा हो तोभी उसे प्रकट न कर परन्तु दोषीको शुद्ध मार्गपर लाने का र करना (१०) मनुष्यको निर्भय बनाना. सब आध्यात्मिक विषय के अनुकूल दान संक्षेपमें यह कहा जा सकता है: जित नी ष्यकी आवश्यकतायें हैं उतने ही प्रका दान भी हैं. जिस समय जिस २ दा आवश्यकता पडे उस २ समय उस को देकर दुखियाके शरीर और मन के को दूर करने के लिये यथा शक्ति करना चाहिए.

दान पात्र.

दान देते वक्त दान लेने वाले मनुष्य का भी विचार करना योग्य है; क्योंकि ऊपर भूमिमें बोया हुआ बीज उगता नहीं है प्रत्युत व्यर्थ जाता है. असत्पात्रको दिये हुए दान से कोइ लाभ नहीं होता. जो विषयी है, नशेबाज है, चोर है, ऐसे मनुष्य को उसके कुकर्ममें सहायता पहुंचानेके लिये कभी द्रव्य न देना चाहिये. जो ऐसे मनुष्य भूखे हों, दुःखसे पीडा पा रहे हों तो उन्हें उनका दुःख दूरकरने के लिये कृपाका दान देना चाहिए परन्तु नकद पैसे न देने चाहिये उन्हें जिस अन्न जल वस्त्र औषधि के अभा वमें पीडा हो वही देना चाहिये. ऐसे अनुकम्पा दान का देना ऐसे मनुष्यों के लिये भी शास्त्रमें लिखा है, इस सिद्धान्त को लक्षमें रखकर हमें अधर्मियोंपर भी दया करनेसे मुख न मोडना चाहिए. इसी बारेमें शुभनाद ग्रन्थमें लिखा है:-

कमल जैसे प्रातःकालके सूर्य की किरणें ग्रहण करनेको अपनी पंखडियोंको खोल रखता है वैसेही मनुष्य मात्रके दुःखकी ध्वनिको सुनने के लिये तू अपने कानोंको खुला रख. जबतक तू दुखिया की आंखसे निकले हुए दुःखके आंसूको अपने हाथ से न पोंछ दे तं उसे सूरज की गरमीसे न सुखने देना परन्तु एक एक आंसूकी गरम २ बूंदको तू अपने हृदयपर लेना और उसे तबतक वहीं रहने देना जबतक कि तू उस दुःखको दुर न करदे, जिस दुःखसे वह आंसू निकला है. हे अत्यन्त दयालु हृदय के मनुष्य! ऐसे आंसूओंसे जो झरना बनता है दयाका क्षेत्र उससेही पोषण पाता है और ऐसी भूमिपर ही बुद्ध और अर्हत् तीर्थंकर जैसे पुष्प खिलते हैं.

दान देकर दुःख दूर करनेकी ऐसी उच्च भावनायें ज्ञानी पुरुषोंने बतलाई हैं. इसवास्ते जहां जहां दुःख हो उन्हें वहां वहां दूर करनेका यत्न करना चाहिए, परंतु अयोग्य दान Indiscriminate Charity जो आजकल भारतमें प्रचलित है और खूब जोर शोरसे जाहिर है उसे जहां तक बन पडे बहुतजल्द बन्द करनेकी बडीभारी आवश्यकता है. जो मनुष्य काम कर शकते हैं ऐसे मनुष्यों को दान देकर बचपन सेही उन्हें भिखमंगा बनाना ये दानका असद् उपयोग कहा जा शकता है. ऐसा दान उसके पुरुषार्थका नाश करने वाला है हम तो दान शुभइच्छासे दें परंतु वे हमारे दान को पाकर आलसी ऐदी विषयी हो जाते हैं और उनमें काम करनेकी शक्ति ही नहीं रहती. ऐसा होनेपर जो उन्हें भिक्षा न मिले तो सचमुच उनकी स्थिति बडी चिन्ताजनक हो

जाती है ! इस लिये जो इस अयोग्य रीतीसे दान देकर भिखारियोंकी संख्याकी वृद्धि करते हैं और देशमें आलसका बढाते हैं, उनका आशय उच्च होनेपरभी फल विपरीत होता है अर्थात वे तो भिखारीयों का ही भला करपाते हैं न देशकाही; प्रत्युत अपने पैसे खोते है.

दान देनेका हेतु.

मनुष्य अलग २ कारणसे दान देते है. "दूसरेका दुःख दूर करना" ऊपरसे—मोटी निगाहसे देखने पर सबका हेतु यही मालूम होगा. परन्तु अलग २ मनुष्यों में दान देनेका आन्तरिक हेतु कौन२ से हैं और उनमें सबसे अच्छा हेतु कौनसा है इसे अब हम देखें.

कितनेही मनुष्य अपने नाक के लिये, कीर्तिके लोभसे, दुनियामें वाहवाही मिलने के निमित्त अपने धनको परोपकारमें खर्च करते हैं, कितनेही पराये दुःख को दूर करने के अर्थ, परलोकमें सुख पाने को और कुच्छ इस लोकमें भी मान मिलने को दान करते हैं. कितने ही किसीका दुःख देख, उसे अपनेसे अधम स्थितिमें जान, गरीबोंको मदद देना मनुष्यका धर्म है ऐसा सोच, शास्त्रोंमें दान देनेकी आज्ञा है ऐसा विचार दान देते हैं. और कितनेएक तो जो सर्वोत्तम पदके अधिकारी हैं स्वाभाविक रीतिसे दान देते हैं. दान देना, दुखिया के दुःख दूर करना ऐसा इनका स्वभाव ही हो गया है.

"विवेक चुडामणि" में लिखा है कि:— वसन्त ऋतुकी तरह दुनियाका हित कर वाले शान्त महात्मा जन इस जगतमें रह हैं वे स्वयं महा भयंकर संसार समुद्रको त गये है और बिना किसी प्रकार के स्व के औरों को भी तार रहे हैं.

जैसे सूर्यकी प्रखर किरणोंसे तपी पृथ्वीको शीतांशु चन्द्रमा स्वयं शीतल रता है महापुरुषोंका यह स्वभाव ही है वे औरोंके श्रमको दूर कर देते हैं. आशय अपेक्षासे दान देनेवालोंको हमने चार भागमें विभक्त किये हैं. कैसे ही हेतुसे द क्यों न दिया गया हो कर्म के अटल नि के अनुकूल दानमें दी हुई वस्तु दान देनेवा को परभवमें अवश्य मिलती है. परन्तु द देनेवाले के चारित्र—वर्तनका आधार उन उन विचारोंपर है जो विचार उसके दान दे समय थे.

आशय पर चारित्रका आधार.

जो मनुष्य इस संसारमें प्रतिष्ठा प के लिये या रावबहादुर खानबहादुर अ पद्वी के लालचसे परोपकार करते हैं उन्हें प पकार करने का—दान देनेका सच्चा मानसि सुख नहीं मिलता. जो मनुष्य दूसरेकी प्रशं पर अपने सुखका आधार रखते हैं वे ब भूल करते हैं. ऐसा दान देनेवालोंका चा किसी भांति उच्च नहीं होता. परन्तु र पर इतना न लिखनेसे भूल होगी कि लोभके वशीभूत हो एक पाइ भी खर्च कर नहीं चाहते, या "चमडी जाय पर दमडी जाय" के उदाहरण बन रहे हैं ऐसे कं

र लोभी मनुष्योंसे कीर्तिके लिये द्रव्य
ी करनेवाले हजार दरजे अच्छे हैं. ध-
ो ममता बडी प्रबल है. धनको देनेका
म सहज नहीं है. चाहे मनुष्य अपने ना-
ः लिये ही पैसे खर्च करे परन्तु जब तक
के पैसेसे दूसरोंका दुःख दूर होता है
अ औरोंको लाभ पहुंचता है तबतक उसके
िये उत्तम कहनेमें हमें जरा भी संकोच नहीं
हां, उसके स्वयं आत्मविकास होनेमें उ-
क लाभ नहीं पहुंचता.

लोभी पुरुषोंकी दयाजनक स्थिति के उदाहरण.

उपर दिखलाइ हुइ हालतको सिद्ध क-
रके लिये हम यहां पर दो एक मनन करने
लिये दृष्टान्त देते हैं. देवमूर्तिओं को तोडने
फोडनेवाला महमद गजनवी हिन्दुस्थानसे
बहुतसा द्रव्य अपने देशको ले गया. हिन्दु-
स्थानकी लक्ष्मी के लोभमें पड कर उसने हिन्दु-
स्थान के अलग २ भागों पर चढाइ की और
वहां के २के अमूल्य रत्नों को ढोकर ले गया.
जिस समय वह मृत्युशय्या पर सोया उस
समय उसने अपनी लूटका सब धन अपने
पास मंगवाया और बडा भारी ढेर लगवा
या और उसे देख खूब कूट कूट कर रोया!
२ वह बोल उठा: "हाय अफसोस!
धनको मैं किसी काममें न ला सका
अब मुझे इसे छोडकर योंही जाना पडे
लोभी मनुष्यों की यही दशा होती है.
इसी तराह इ. स. के पहेले ३२७ में
सिकन्दरने हिन्दुस्थान पर चढाइ की
थी. ग्रीस के बादशाह सिकंदरने भी अपनी
लक्ष्मी का कुच्छ अच्छा उपयोग नहीं किया
था. देशोंको जीतना, सबपर हुकुम चलाना,
और धनको इकट्ठा करनेमें ही इसने अपनी
आयुष्य पूरी की. परन्तु मरते समय उसे ल-
क्ष्मी को अच्छे कामोंमें न लगा सकनेका
पश्चात्ताप हुआ. उसने अपने मनुष्योंको
आज्ञा दी कि मरने के बाद मेरे दोनो हाथों
को खुले हुए रख कर मेरी रथी शहरकी
गलीगलीमें फिराइ जाय. इसमें उसके दिल
की ये मनशा थी कि उसके जीवनसे संसार
भर शिक्षा ग्रहण करे कि, जो मनुष्य अपने
धनका अच्छा उपयोग नही करते वे जैसे
आते हैं वैसे ही खाली हाथों जाते हैं.

दुसरे प्रकारके मनुष्यों के दानमें स्वार्थ
भरा हुआ होता है. ज्हां स्वार्थ है वहां उ-
पकार वृत्ति हो ही नहीं सकती. इस लिये
इस वर्ग के मनुष्योंको दया का गुण वास्त-
विक रीतिसे खिलता ही नहीं है. ये मध्यवम
श्रेणिके मनुष्य हैं. अपने स्वार्थमें ज्हां तक
विरोध न आवे वहां तक वे उपकार करते
हैं. परन्तु जितने अंशमें परायेका दुःख दूर
करने के लिये परोपकार किया जाय उतने
ही अंशमें मनुष्यका हृदय कोमल दयार्द्र बनता
है और उतने ही अंशमें स्वर्गीय सुख अनु-
भव होता है.

'इंग्लेंड के कालिदास' कवि शेकसपिय-
यरने एक जगह लिखा है कि:—

The quality of money is not strained,
It droppeth as the gentle rain from
heaven;

Upon the place beneath. It is Twice blessed,
It blesseth him that gives and him that takes;
It is an attribute to God Himself;
An earthly power doth then show like God,
When mercy seasons justice."

दयाके गुण स्वाभाविक रीतिसे पैदा होते हैं. वे झरमर२ बरसते हुए बरसादकी तरह उच्च प्रदेशमेंसे नीचेकी भूमिपर आते है. वे दोनोको सुख देते है. क्या देनेवाला और क्या लेनेवाला इससे दोनो सुखी होते हैं. राजाओंके हृदयमें उसका उच्च स्थान है वह स्वयं ईश्वरका गुण है. जब न्याय दयासे मिला हुआ होता है तब राज्यकी सत्ता ईश्वरकी सत्ताकी बराबरी कर सक्ती है.

तृतीय श्रेणीके मनुष्य स्वार्थ बिना दान देते हैं. परायेका दुःख दुर करना वे अपना कर्तव्य समझते हैं, और इसीसे वे अपने उदार हाथोको लम्बे करते हैं. सकाम या इच्छा सहित किया हुआ काम मनुष्यको स्वर्ग देता है, मनुष्योका स्वामी बनाता है परन्तु मुक्ति नही दे सक्ता! जब तक इच्छा है किसी प्रकारकी वासना है तब तक मनुष्यको कर्मके नियमानुकूल इच्छाका फल भोगनाही पडेगा और उसके लिये जन्म धारण करना पडेगा. परन्तु जो निष्काम वृत्तिसे स्वाभाविक तोर पर दान देते हैं उनको दान किसी प्रकारका बन्धन नहीं करता. "कार्य बन्धन करनेवाला नहीं है परन्तु कार्यके फलकी इच्छा मनुष्यको बन्धनमें डालती है," यह बात भूलना न चाहिए. श्रीमन् महावीर प्र[भुने] अपने अन्तिम भवमें सांवत्सरिक दान दि[या] था; जो दान ही बन्धनका कारण होता [तो] उनकी मोक्ष न होती, इस वास्ते निष्काम वृ[त्तिसे] दान करना योग्य है. निःस्वार्थ बुद्धिसे द[ान] देनेवालेको किसी और कर्मके उदयसे कदा[चित्] जगतमें जन्म लेना पडे भी तो उस स[मय] उसके दानके पुण्योदयसे उसको द्रव्य सम[ृद्धि] रूपसे मिलेगा. स्वार्थरहित दान देनेव[ाले] मनुष्य दान लेनेवाले या और लोगो[की] प्रशंसा और स्तुतिपर कुछ आधार नही रख[ते] दान लेनेवाला कदाचित् कृतघ्नी निकले [तो] भी उनके चित्तको कुछ खेद नही होता; प[रन्तु] वा तो दान लेनेवालेका उलटा उपकार मा[नते] है और उसके कृतज्ञ होते है कि उसने उनके हृदयको उच्च बनानेका अवसर दि[या].

उपसंहार.

इस प्रकार उत्तमोत्तम भावनाओंका वि[चार] करते २ और इस प्रकारका दान देते देते देनेकी वृत्ति स्वाभाविक हो जाती है. दे[ना], परायेका दुःख दूर करना, और भला करना, यही हमारा कर्तव्य है, इ[स] पुरुषार्थकी चरम सीमा है, इस शा[न]को म[ान]ने वाला स्वभाव ही हो जाता है.

दया करनेका प्रथम क्षेत्र घर है; अपनी जाति; फिर अपना देश; फिर [...] और फिर जगत्. इस तरह दयाका क्षेत्र [बढा] ते जाना चाहिए. इस तरह "वसुधैव कु[टु]म्बकम्" संसारको अपना कुटुम्ब मानने[से] और जगतकी बाह्य वस्तुओंकी निःसार[ता]

नुभव करनेसे मनकी शान्तिको माननेवाले त्न्मा जगतमें रह कर भी निःसीम सुखका नुभव करते हैं.

पूरे साधनोंके अभावसे जिन कामोंको यहांपर नही कर सकते परन्तु उन्हें करनेके चार उनमें सदा बने रहते हैं ऐसे विचारोंके ावसे भी इस स्थूल देहको छोड कर उनकी त्मा सुखानुभवकी जगह (स्वर्गमें) पहुंचती इस तरह उच्च कोटिके प्रेमके प्रभावसे वि- के हितके निमित्त केवल निःस्वार्थ बुद्धिसे न देनेवाले सुख भोगनेको समर्थ होते हैं. त्महितैषी मनुष्योंको चाहिए कि वे दान ं और बचपनमें ही यह गुण बालकोंमें डालें ोंकि इस उत्तम गुणसेही मनुष्य पराये का हित करते हुए अपना हित करते हैं. दान देकर दूसरोंका दुःख दूर करनेसे जो आन- न्दकी झलक दान लेनेवालेके चहरेपर देख पडती है उसे देखकर दान देनेवालेके जीमें जो दयार्द्रता और हृदयमें विशालता उत्पन्न होती है वह बात मान, नाम और प्रतिष्ठाके लिये दान देनेवालोंके जीमें नहीं पैदा होती. दान औरोंसे दिलवानेकी अपेक्षा खुद देना अच्छा है. क्योंकि ऐसा करनेसे लेनेवालेकी जो वृत्ति उदय होती है उससे देनेवालेका हृदय बडा होता है और दान देनेकी वृत्ति बढती जाती है. इस लिये मानसिक आनन्दके साथ आत्महित साधन करनेकी प्रत्येक मनु- ष्यको आग्रह कर इस प्रकरणको पूर्ण करते हैं.
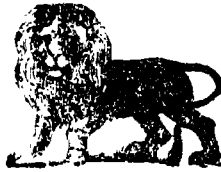
दूसरी कुंजी.

तृतीय प्रकरण—शील (शुद्धाचार).
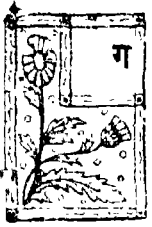
गये प्रकरणमें हम दानका विचार कर गये हैं. अब इस प्रकरणमें हम शील नामक दुसरी कुंजीका विचार करते हैं. शुद्धाचार, शुभ चारित्र, पवित्र वर्तन आदि अनेक शब्द शीलका अर्थ बतलाते हैं. इन शब्दोंमेंसे समय २ पर योग्य शब्दका व्यवहार किया जायगा.

शील शब्द प्राय: पुरुषोंके लिये स्वदार सन्तोषके अर्थमें और स्त्रियोंके लिये पातिव्रत्यके अर्थमें आता है; परन्तु यहांपर इतने संकुचित अर्थमें उसका व्यवहार नही किया गया है. यहांपर इसका बहोत लम्बा चौडा अर्थ है. जो जो आचार शुद्ध और पवित्र हों और जो जो उन्नतिक्रममें सहायक हों वे सब शीलके नाममें कहे जा सकते हैं. और जो जो अशुद्धाचार हैं, दुसरेके अहितकर हैं, उन्नति क्रममें बाधा पहुंचाते हैं वे सब कुशील या दुर्गुणके नामसे कहे जा सकते हैं.

जरा सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेवाले मनुष्यको प्रत्येक धर्ममें दो प्रकारकी शिक्षा मिलती है. एक आध्यात्मिक शिक्षा और दूसरी नैतिक शिक्षा. जो नीतिके सिद्धान्त या नैतिक नियम हैं वे प्रत्येक मनुष्यके लिये हैं. परन्तु जो मनुष्य नीतिके नियमोंमें पारंगत हो आत्मविद्या जाननी चाहते हैं या नीतिके नियम किस आधारपर बने हैं इसका ज्ञान सम्पादन करना चाहते हैं उन्हें परम पुरुषके स्थापित किये हुए धर्ममें तत्व ज्ञानकी गुप्त और उच्च शिक्षायें मिलेंगी.

प्रत्येक नीतिके नियमका तत्वज्ञानपर आधार है. बहुतसे मनुष्य नीति के नियमका रहस्य समझे बिना भी सन्मार्गपर चलते हैं. जैसे मनुष्य जहाजको चलाना नही जानते परन्तु चतुर केप्टनकी चतुराइपर विश्वास कर जहाजमें बेठते हैं और समुद्रके पार हो जाते हैं वैसही नीतिके नियम किन २ सिद्धान्तोंपर बने है इसे न समझ कर भी हम उन नियमोंपर चलकर अपना कल्याण कर सकते हैं. क्योंकि हमें एसा विश्वास करना चाहिए कि परोपकारी महा पुरुष केवल परमार्थ बुद्धिसे हमारे कल्याणके लिये इन नियमोंको स्थापित कर गये हैं. परन्तु वर्तमान समय बुद्धिका समय है. यह समय ऐसा नही है कि "धर्ममें कहा है इससे सत्य है" ऐसा दुनिया मान ले और उसपर श्रद्धा करे. लोक अपने लिये विचार करनेवाले हुये हैं. "अन्धेन नीयमाना यथान्धा:" की बात नहीं चलती है, ये चिन्ह भविष्यके लिये अच्छी आशा बंधानेवाले जान पडते हैं. स्वतन्त्र विचारकी आवश्यकता है परन्तु उसके साथ यह भी ज्ञान रखना चाहिए कि प्राचीन महानुभावोंके सिद्धान्तोंके गूढाशयोंको समझे बिना उनके सि-

द्वान्तोंका तिरस्कार करना और उन्हें बिगडे हुए दिमागकी कल्पना ठहराना स्वतन्त्र विचार नही कहा जा सकता और न स्वतन्त्र विचार का ऐसा अर्थ भी है. यह तो एक प्रकारका उद्धतपन कहा जा सकता है. इस लिये इन दोनो इकतरफा (Extreme) रस्तेको छोडकर सुवर्णमय मध्यम मार्ग (Golden mean) इस विषयमें तथा और २ विषयोंमें भी अंगीकार किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि हम सत्य मार्ग के समीप आये हैं.

अब हम उपर लिखी हुई बातको हमारे प्रस्तुत प्रकरण के अनुकुल करें. शील यांने उत्तम कोटिकी नीतिके नियम हमें क्यों पालने चाहिये? क्यों हमे सदाचारी होना चाहिये? क्यों न हम झूठ बोले? दान देनेसे क्या फायदा? व्यभिचार करनेमें क्या हानि? नीतिका विचार करते हुए ऐसे २ प्रश्न मनुष्य के हृदयमें स्वाभाविक रीतिसे उत्पन्न होते हैं. इन प्रश्नोंका उत्तर साधारण रीतिसे यों दिया जाता है कि शास्त्रोंमें इन्हें महा पाप लिखा है. इनके करनेसे अधमगति मिलती है. इससे इनका आचरण न करना चाहिये. श्रद्धालु मनुष्य इतना कहने से मान जाते थे और कुमार्गपर पैर भी न रखते थे. परन्तु समय के परिवर्तनसे प्रत्येक बातका बुद्धिग्राह्य उत्तर मांगा जाता है. हेतु और कारण पूछे जाते हैं. और जबतक वे न बताये जाय तब तक धर्म के सत्यांशोंमें शंका हो यह स्वाभाविक बात है; क्यों कि पश्चिमकी शिक्षा के वायुने लोगोंकी बुद्धिको स्वतंत्र विचार करनेकी ओर प्रवृत्त कर दी है. शंकाओं को दबा देने व उनका स्पष्टीकरणा पूर्वक समाधान न करनेसे शंकायें मिट नहीं जाती; प्रत्युत बढ जाती है; इन शंकाओंको दूर करनेके लिये दर्शन शास्त्र (Philosophy) अपने तेजस्वी रूपकी दिव्य मूर्तिसे विचारकी रंगभूमि पर आ खडा होता है और गंभीर स्वरसे कहता है कि, "हे मानसिक शिक्षा पाये हुए नव युवक! तेरी शंकाओंका उचित समाधान करनेके लिये मैं तैयार हूं. तू केवल बुद्धिके भरोसे पर ही मत रह. मेरा उपदेश सुन और चित्तको स्थिर कर. उस पर खूब विचार कर. तेरी शंकायें स्वयमेव दूर हो जायगी."

अब हम नीति-सिद्धांतोंकी पुष्टि करनेवाले तत्वज्ञान के कुछ अंशो पर विचार करते हैं. धर्मशास्त्र कहते है कि सब हृदयोंमें आत्मा निवास करती है; सब आत्मा एकरूप हैं. कर्मकी भांति २ की प्रकृति के अनुसार उन्नति क्रमसे अलग २ सीढियों पर होनेके कारण वे अलग २ जान पडती हैं. परन्तु तत्त्वदृष्टिसे उनमें कोइ भेद नहीं. आत्मतत्वकी दृष्टिसे आत्मा समान है. सत्ता स्वरूपसे आत्मामें भिन्नता नहीं है. परन्तु आत्माकी शक्ति कैसी और कितनी व्यक्त (प्रकट) हुइ है इसी पर आत्माओंमें देख पडते हुए भेदका आधार है. निश्चय दृष्टिसे आत्म तत्वमें कोइ भेद नहीं है. उपाधि भेदसे सूर्य नाना भांतिका देख पडता है वैसे ही देह भेदसे हमें आत्माओंमें भेद जान पडता है. वास्तवमें आत्मस्वरूपमें कोइ भेद नहीं है जब हममें और हमारे मानव बंधुमें आत्मा समान

भावसे विद्यमान है तब किसी मनुष्य को दुःख पहुचानेमें उसे हैरान करनेमें-उसे धोखा देनेमें हम स्वयं अपनेको दुःख पहुंचाते है-हैरान करते है-धोखा देते है. यह दुनिया एक बडा भारी कुटुम्ब है; हम सब उस कुटुम्ब के मनुष्य हैं. अपने कुटुम्बका कोइ मनुष्य अज्ञान या दुराचारी हो तो हम उसे बाहार निकाल नहीं देते, यहां वहां उसकी निंदा नहीं करते हैं, बल्कि उसे सुधारनेका यत्न करते हैं. उसी प्रकार हमारा कर्त्तव्य अपने मानवबंधुके अज्ञान या दोषकी निन्दा करना नहीं है बल्कि अपने ज्ञान और पवित्रतासे उनका अज्ञान और दोषको दूर करना है. ऐसा विचार करने पर मालूम होता है कि सब प्रकारकी नीतिका मूल प्रेम-सार्वजनिक-विश्वप्रेम है. मनुष्य, प्राणी, वनस्पति (जिनमें चैतन्य है) की ओर हमे प्रेम रखना चाहिये. इन सबका कल्याण करनेमें ही हमें परम धर्म मानना चाहिये. इस तरह प्रेमकी विशाल दृष्टिसे प्रत्येक जीवित वस्तुकी ओर देखनेसे भेदभाव नहीं रहता और प्राणी मात्रकी ओर साम्यदृष्टि उत्पन्न हो जाती है, बाह्य उपाधिमे जो स्व और परका भेद उत्पन्न हुआ था वह दूर हो जाता है और सब वसुधा कुटुम्बतुल्य हो जाती है और जब कोइ पराया रहता ही नहीं तब झूठ, चोरी, हिंसा या व्यभीचार करना बन ही नहीं पडता. आत्मवत् सब प्राणियोंको जो देखता है वही 'देखता' है. "आत्मवत् सर्व भूतेषु यः पश्यति स पश्यति."

श्री भगवत् गीतामें लिखा है:—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि च श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥

विद्या और विनय युक्त ब्राह्मण गाय हाथी कुत्ता और चाण्डाल अर्थात् सबकी ओर समभावसे देखनेवाले ही पण्डित होते है! सब आत्मा समान है तब हमे एकको दूसरे के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए इसका उत्तर शीघ्र दिया जा सकेगा. जिस काम से हमें दुःख हो-जिस कामसे हमारा अहित हो और जो अरुचिकर हो ऐसा काम औरोंको भी आत्मामें साम्य होनेसे बुरा लगेगा. इस लिये हमे ऐसे काम करनाही न चाहिए. इस बारेमें नीचे लिखे हुए धर्मशास्त्रके वचन खूब मनन करने योग्य हैं:—
'आत्मौपम्येन भूतेषु दया कुर्वन्ति साधवः ॥'
जैसी हमें अपनी आत्मा प्यारी है वैसी हीऔरोंको भी उनकी आत्मायें प्यारी है, इस तरह आत्माकी समानताका विचार कर साधु पुरुष दूसरोंपर दया करते है! 'धर्म सर्वस्व' ग्रन्थमें लिखा है कि:—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा च वधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

धर्मका सार सुनकर धारण करो: 'जो अपने प्रतिकूल हो वह दूसरों के प्रति न आचरण करो.' बाइबलमें लिखा है:— "Do unto others as you wish them to do unto you" "जैसा तुम दूसरों से व्यवहार कराना चाहते हो वैसा ही व्यवहार तुम दुसरोंसे करो." इसीसे नीतिके नियमोंका

विचार करते हुए जो अध्यात्म विद्या-तत्त्व ज्ञान से सिद्ध हुआ ऊपर लिखा हुआ अनुमान है, ध्यानमें रखने लायक है.

अब हम नीतीके नियमोंका अनुमोदन करनेवाली एक और विचारश्रेणी से काम लेते है. आत्महितैषी पुरुषको प्रत्येक काम करते समय विचार करना चाहिए कि हम किस सीढीपर मोजूद है; हमें इष्ट स्थानकपर पहुंचने के लिये कौनसी सीढिसे पैर बढाना चाहिए; हमारी आत्माका विकास हो और पूज्य पुरुषोंकी दशामें पहुंचे इस कामके लिये कौनसे मार्गपर हमे जाना चाहिए: अर्हत, तीर्थंकर महात्मा, ऋषि मुनि, जिन गुणों से इष्टसिद्धि कर सके वे गुण हममें हैं या नहि और अमुक काम करने से उन गुणोंकी प्राप्ति होगी या उलटे दुर्गुण आवेंगे: इन बातोंका विचार हमें जिस किसी कामको आरम्भ करने के पहले करना चाहिए; क्योंकि प्रत्येक कामको आरंभ करने के समय के भावोंपर ही आत्मविकास और आत्मसंकोचका दारमदार है।

अब तक खनिज पदार्थ वनस्पति और प्राणी वर्ग में उन्नतिका आधार Law of the survival of the fittest बलवान के दो हीस्से या "जबरदस्त कोंटेका सिरपर" इस सूत्रपर है जो विशेष बलवान् वही दूसरोंका नाश करके भी जी सकता है. परन्तु मनुष्य और प्राणी वर्गमें बडा अन्तर है.जो सूत्र प्राणी वर्गका सहाय कर्ता है, वही हमारी उन्नतिका बाधक है. मनुष्य वर्गमें आने बाद हमारी उन्नतिका जीवन सूत्र आत्म समर्पण (Law of self-sacrifice) है. अपनी हानी सह कर भी जो आत्मिक उन्नतिमें कम हैं एसे मनुष्य बंधुओं पर तथा अपने सहोदर रूप प्राणीयों पर दया करने में ही हमारी उन्नति है. हमारा बल दीन दुखीयाओंको हैरान करने में नहीं बल्क निरपराधी और असमर्थों की रक्षा करने में लगाना चाहिए. पशुओंको नहीं बल्की पाशव वृत्तिओंको (Animal Instincts) ज्ञान यज्ञमें होमन से हमारी आत्मा शुद्ध चैतन्य रूपसे प्रकाशित हो जायगी. इस विचार परंपरा को भी नीतिके नियमोंको सोचतेहुए हृदयमें रखनेकी आवश्यकता है.

अब हम यह विचार करें कि शीलमें किन २ गुणोंका समावेश होता है और किन २ गुणोंका समावेश होना चाहिए. सब और देखने पर हमें राजर्षि महात्मा भर्तृहरि का नीति शतक में कहाहुआ श्लोक दिखाइ देता है.यह श्लोक संक्षेपमें सब सद्गुणोंको बताने वाला, सब धर्मोंका मान्य, प्रत्येक घरकी दीवारो पर सोनेके अक्षरोंमें लिखने योग्य और हृदयमें अच्छी तरह धारण करने लायक है:–

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः
सत्यवाक्यं।
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः
परेषाम् ॥
तृष्णास्रोतोविभंगो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा।
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः ॥१॥

प्राणीयोंका नाश न करना, पराया धन न लेना, सच्च बोलना, ठीक समय पर यथा शक्ति दान देना, परस्त्री चर्चामें भी चुप रहना, तृष्णा के वेगको रोकना, गुरुओंका विनय करना, सब प्राणीयों पर कृपा रखना, यह सब शास्त्रोंका माना हुआ जिसमें किसी तरहकी रोक टोक नहीं अैसा कल्याण का रस्ता है.

अैसा उत्तम उपदेश एक श्लोकमें वर्णन करने के लिये भर्तुहरि को जीतने धन्यवाद दिये जाय कम है. क्योंकि इस श्लोक रत्न में हिंदु धर्म के पांचो यम, जैनियों के पंच महाव्रत और बौद्धों के पंच शीलका समावेश हो जाता हैं. इतनाही नहीं और सद्गुणोंका भी इसमें समावेश है.इतने परभी खुबी यह है की किसी मत के विरुद्ध इसमें एक भी शिक्षा नहीं है.

पहले " प्राणीयोंका नाश न करना " इस नैतिक और धार्मिक सूत्र के सुनते ही प्रश्न खडा होगा कि क्यों नहीं करना ? हम यदि अैसा करे ही तो क्या हानि है ? इन प्रश्नोंका उत्तर देने में हमें पहले बतलाये हुए तत्त्वज्ञान का आश्रय लेना पडेगा.

आत्मा कि एकता की बातको दुर रखे तो भी सब जीव समान है. हमें कोइ मारने लगे या दुःख पहुंचावे तो हमें कष्ट होता है इसी नियम के अनुकुळ हमें किसिको दुःख न पहुंचाना चाहिए. किडीसें हाथी पर्यन्त, एक जंगली मनुष्य सें देवता पर्यन्त, सबको अपना २ जीवन प्यारा है. मरना किसीको पसंद नही है. अत एव हमें किसीको मारकर कष्ट न पहुंचाना चाहिए.जीन महापुरुषों के पद चिन्हों को देखकर हम सन्मार्ग पर चलना चाहते है उनमें प्राणी मात्र पर दया करने का स्वाभाविक गुण था और प्राणी मात्र पर उच्च प्रेम रखने के कारण वे उच्च पदको पा सके थे अत एव हम लोगों में उक्त गुण के विकास होने की बडी भारी आवश्यकता है. य गुण प्राणी मात्र पर दया और प्रेम रख सेही विकासित होता हैं. यही कारण है कि " अहिंसा परमोधर्मः " यह वाक्य आ धर्म में उत्तम स्थानको पा गया है.जब बा बिल यह ऊपदेश करती है कि मनुष्य मा को तुम अपना भाइ समजो तब आर्य ध मनुष्य और प्राणीयों पर भी दया और प्रे करनेका उत्तम उपदेश करता है. पश्चिमक प्रजा जो अबतक मांस भक्षण करती है उ प्रजामें भी कितने ही विचारशाली ज अहिंसा के परम सुत्र के अनुयायी हुए और औरोंको भी मांसाहार के दुर्गुण बतल कर शुद्ध मार्ग पर लानेका यत्न करते ऐसे सत्यग्राही मनुष्योंको वार २ धन्य जब मनुष्य बन्धुओं की ओरसे दया क्षेत्रको बढा कर पशु वर्गकी तर्फ भी द दिखलाने वाले हमारे पश्चिमीय बन्धु हुए और मांसाहारका त्याग कर शुध्ध जी व्यतीत करने में अपने सम्पूर्ण पुरुषार्थ उपयोग करते हैं तब हमें खेद के साथ हना पडता है कि कितनेही पुरुष आर्य कु जन्म पा कर भी अपने पूर्व पुरुषोंकी अमूल्य म्पत्तिसे वंचित रह हिंसा के मार्ग में पड जाते

मेरी आन्तरिक प्रार्थना है कि वे लोग अ-हिंसा सिद्धान्त को समझ उत्तम मार्गको ग्रहण कर लें. और छूटी हुइ अपने कुल और धर्मकी मर्यादाका पालन करें.

केवल बाहरी स्थूल हिंसासे रुकने में ही दयाके अर्थका समावेश नही होता किन्तु किसी भी प्राणीका—हमारे मनवचन और कायसे—मनतक न दुखना चाहिए. इसीमें दयाका समावेश होगा. जहां प्रेम है वहां दया है जहां दया है वहां प्रेम है. इस लिये प्रेमपूर्वक दुसरोंका भला करनेकी वृत्ति रख कर हमें दया करनी चाहिए.

दुसरें पराया धन न लेना. क्यों? यह प्रश्न भी तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे सहज में समझ में आ जायगा. इस व्रत को जैन धर्म में अदत्ता दान विरमण व्रत कहते हैं. किसी मनुष्यने हमें न दिया हो और उसे ले लेना चोरी कही जायगी. जोर से लोभ से अन्याय से दुःख पहुंचा कर या धोखा देकर जो औरों के पास से हम कोइभी वस्तु ले लें तो उसका समावेश "परधन हरण" में होगा. किसी मनुष्य के पास हमने कोइ काम कराया और उसके श्रमका योग्य बदला न देकर उसे थोडा बहुत द्रव्य दे टरका दिया. इस लोभका परिणाम क्या होगा? उसको तो कुछ कम दाम मिले—स्थूल द्रव्य का लाभ कम हुआ परन्तु हमारा—जिस न्याय तत्त्वसे (Principle of Justice) आत्म विकास होने का था उसीका नाश हो गया. क्या यह कम हानि है? इससे बढकर और क्या हानि होगी? इसी कारण से श्रावक पण—सुयोग्य मनुष्यत्व आने के लिये जो ३५ गुणोंका वर्णन किया है उसमें न्याय सम्पन्न विभव—अर्थात न्यायसे पैदा किए हुए द्रव्य को पहला स्थान दिया है. हम अपने भाइको दुःख देते हुए खुद दुःखी होते हैं. स्थूल द्रव्यकी तृष्णामें पडकर आत्मिक सम्पति को खो बैठते हैं.

धन के लाभ की अपेक्षा न्याय बुद्धि—सत्यवृत्ति का मूल्य बहुत जियादा है. जो मनुष्य धन के लिये आन्तरिक उच्च तत्त्वोंका नाश कर डालते हैं वे अबतक धर्म के प्रथम सोपानको पहचानने भी नही पाये हैं, इस में कोइ सन्देह नही है.

तीसरे सच बोलना शास्त्रमें कहा है कि "सत्यान्नास्ति परो धर्मः" सत्य से बढकर कोइ धर्म नही है. जैन धर्ममें सत्यको द्वितीय महाव्रत माना है. सम्पूर्ण सद्गुणोका मूल स्थंभसत्य है और सम्पूर्ण दुर्गुणोंका असत्य! हम जो जानते है उसके विरुद्ध कहना असत्य है. जो मनुष्य झूठ बोलता है वह आन्तरिक पवित्र ध्वनिका (Inner voice of God) अनादर करता है और पवित्र हृदय को अपवित्र करता है. उसके आत्मा और अन्तःकरण के बीच एक मलिन पडदा पड जाता है, जिस से उस के अन्तःकरणमें आत्मा की उज्वल ज्योति प्रतिबिम्बित नही होती. इस प्रकार झूठ बोलनेवाला अपना ही अहित करता है. कितनी बार ऐसा होता है कि औरों को हानि करने के लिये नही किन्तु अपने तुच्छ स्वभाव और स्वार्थ के कारण मनुष्य झूठ बोलने लग जाता है. सांसारिक सुख उसे विशेष प्रिय लगते है.

और वह इस जगत के क्षणिक सुख के लिये आत्मतत्त्व को दूर कर देने वाला झूठ बोलने को उद्यत हो जाता है. बचपन से ही मनुष्य हँसी ठट्ठा में झूठ बोलना सीखते है. उन्हे उस समय इस बातका ज्ञान भी नही होता कि इसका परिणाम क्या होगा? परन्तु विचारवान मनुष्यों को चाहिए कि वे अपने बच्चों को ऐसा करने से रोकें, यह उनका मुख कर्तव्य हैं. क्योंकि जो बचपन से आदत-टेव को सुधारनेमें न आवेगी तो वह टेव आगे चलकर स्वभाव बन जायगी और फिर वह स्वभाव मिट नही सकता. कहा है कि "ज्यांका पडता सुभाव कि जासी जिवसूं" टेवका मिटना भी सत्समागम या ज्ञान की प्रबलतासे ही हो सकता है, नकि मूर्खोंके साथ रहने से. इस लिये बच्चों को भी सत्संगमें रखना चाहिए.

सत्य बोलने से सत्य विचारों के अनुकूल चलने से और अन्तःकरणमें सत्य विचार करने से मनुष्य में एक ऐसी शक्ति जागृत हो उठती है कि वह अन्तस्फुरण से (Intuition) बडे २ उलझन के मामलों में से भी सत्य क्या है इस बात को सहज जान सकता है. जैसे जोहरी अनेक खोटे हीरों में से सच्चे हीरे को तुरत पहचान लेता है वैसे ही सत्य विचार-सत्य कथन और सत्य काम करनेवाला मनुष्य अनेक झूठी बातोंमें से सत्य को फौरन परख लेता है. ऐसे मनुष्य में सत्य ज्ञानकी शक्ति पैदा हो जाती है.

चोथे ठीक समयपर यथा शक्ति देना. यह भी सद्गुण है. दानके विषय में हम गत प्रकरण में विवेचन कर चुके हैं इस लिये इस के विषय में यहांपर हम कुछ लिखना नही चाहते तो भी दान के विषय में एक बात लिखने लायक हैं और वह "काले शक्त्या प्रदानम्" है. अर्थात् ठीक समयपर यथा शक्ति देना. ठीक समयपर दिया हुआ दान उसके लेने वाले को अत्यन्त हितकारी होता है और उस से दाता का हेतु प्रतिग्रहीता (लेने वाला) का दुःख दूर करना है वह अच्छी भांति सिद्ध होता है. वैसे ही "यथा शक्ति देना" यहांपर "घर के बच्चे घट्टी चाटे और उपाध्याय को आटा" यह कहनावत भूलने योग्य नही है. पहले अपने कुटुम्बका भरण पोषण का विचार कर शेष द्रव्य में से सत्पात्र को दान देना चाहिए, परन्तु शक्ति होनेपर भी और सुपात्र मिलते हुए भी कंजूसी करना अयोग्य ही है. अत एव दान देने का प्रसंग मीलने ही अपनी शक्ति के अनुसार दान देने में कभी चूकना न चाहिए. इस से हमारी दया और परोपकार की वृत्तियां विकसित होती हैं.

पांचवें "परस्त्रीकी चर्चा में भी चुप रहना" इस उत्तम गुण के विषय में विचार करेंगे-जब हमें परस्त्री की चर्चामें भी चुप रहना है तब उसके सम्बन्ध में समागम की बात तो दूर रही इसे समझानेकी आवश्यकता न पडेगी. महा पुरुषों के वाक्यों में बडा रहस्य भरा हुआ होता है. और उसे ध्यान पूर्वक विचारनेकी हमें आवश्यकता है. जिस कारण से कार्य की उत्पत्ति हो उस कारण

का ही नाश करने का महात्मा जन उपदेश करते है. व्यभिचार या परस्त्री गमन का मुख्य कारण परस्त्री सम्बन्धी चर्चा है. इसी से ऐसी चर्चा से ही दूर रहने का महात्मा का उपदेश है.श्रीमद्भगवद्गीतामें लिखा है कि:—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ॥
संगात्संजायते कामः ॥

विषयोंका ध्यान करनेसे उनपर आसक्ति (संग) होती है. आसक्ति होनेसे काम वासना उत्पन्न होती है. यही नियम यहांपर भी लगेगा. पर स्त्री सम्बन्धी विषय चर्चा सुननेसे स्त्रियोंके हाव भाव और सुन्दरताका वर्णन करने वाले असद् उपन्यास और नाटक देखने से रागी मनुष्योंके चित्तमें परस्त्री सम्बन्धी आसक्ति उत्पन्न होती है और फिर समय पाकर काम वृत्तियां प्रबल हो उठती हैं. ब्रह्मचर्य की रक्षा करने के लिये जो धर्म पुस्तकमें ९ वाड—वागलका वर्णन किया है उनमें परस्त्री सम्बन्धी ऐसी चर्चाओंका न सुनना भी है. मनुष्य तीन तरह से व्यभिचार कर्म से दूर रह सक्ते हैं. नीच मनुष्य राज दंडके भयसे, मध्यम मनुष्य पर लोकके भयसे और उत्तम मनुष्य स्वयमेव अपने स्वभावसे. जो मनुष्य स्वस्त्रीमें सन्तोष न कर परस्त्रीगामी होते हैं उन विषयान्धोंको इस बातका तक ज्ञान नहीं रहता कि वे अपने इस काले कृत्य से उन स्त्रियोंके पतिओंका कितना जी दुखाते हैं. अपना और उस स्त्रीका कितना अकल्याण करते हैं, उसका ज्ञान तो फिर हो ही कहांसे ? उन्हें सोने और लोहेका कुछभी ज्ञान नहीं रहता.

और जिन मनुष्योंके प्रेमका पात्र यह स्थूल शरीर नहीं किन्तु ज्योतिर्मय आत्मा है उनको किसी प्रकार से काम विकार ही उत्पन्न नहीं होते जो प्रायः जाति (sex) विचार से उत्पन्न होते हैं. क्योंकि उनका प्रेम बाह्य सुन्दरता पर उत्पन्न नहीं हुआ हैं. उसी स्त्री के रुप और अवस्थामें अन्तर होनेपर भी उनके प्रेम में रत्तीभर भी अन्तर नहीं पडता. उनका प्रेम आत्मा से हैं, न कि इस हाड मांस मलमूत्र से भरे हुए देहसे. आत्मा एक होनेके कारण बाल्य—यौवन—वृद्धपन—सब कालमें वह समान रहता है. परस्त्री के शरीरकी ओर इनका चित्त खिंचाता ही नहीं. वे समझते हैं कि यह शरीर प्रिय नहीं है यदि प्रिय हो तो आत्मा के निकलने पर इस की दुर्दशा न की जाय. इस वास्ते प्रिय आत्मा है. वही प्रेम करने योग्य है. इस तरह उनका प्रेम आत्मापर होता है. आत्मा न पुरुष है न स्त्री है और न नपुंसक है. तो फिर परस्त्री के शरीर की वांछा करना यह बडी भारी भूल है.

छठे तृष्णा के वेग को रोकना. ममता ही सब दुःखोंका कारण हैं. "मैं और मेरा" मोहका यह प्रबल मंत्र है. तृष्णा—इच्छा मनुष्यको इस जगत के जन्म मरण के चक्रमें डाल देती हैं. बौध धर्ममें कहा है कि "हे भिक्षुको! नीचे बतलाया हुआ सत्य सिद्धान्त दुःख की उत्पत्तिका कारण है. जो इच्छा इन्द्रिय जन्य सुखकी सहचारिणी है, जो इच्छा कभी यहां और कभी वहां संतोषकी खोज करती है उसी इच्छासे दुःख उत्पन्न होता है. दूसरे शब्दोंमें कहें तो कह सकते हैं

विकारों को तृप्त करने की इच्छा ही सच्चे दुःखका कारण है. तृष्णा बढाने से वह बढती जाती है इसे दूर करनेका एक ही मार्ग है. और वह मार्ग यह है कि जिन वस्तुओं की ओर तृष्णा दौडती हो उन वस्तुओं की अनित्यता और असारता उपदेशसे या अनुभवसे जान लेनी चाहिए. जब तक वस्तुओं की असारताका अनुभव न होगा तब तक तृष्णाका भी नाश नहीं होगा और न तृष्णा याः "परो व्याधिः" बना ही रहेगा. इस की असारता का अनुभव होने के लिये नित्य और अनित्य सद् और असद् का भेद जाननेकी बडी आवश्यकता है. इस ज्ञान को विवेक कहते है. जहां विवेकका उदय हुआ कि वैराग्य वृत्ति जगी ऐसा होनेपर अनित्य वस्तुकी ओर से मन हट जाता है. तृष्णा नाश करनेका यही उपाय है.

सातवें गुरुओंका विनय करना ये उपदेश आर्य भूमिमें सामान्य है. विद्या—ज्ञान पानेके ३ मार्ग हैं (१) धन, (२) विद्या और (३) गुरुसेवा. क्रमशः ये अधम मध्यम और उत्तम हैं. गुरुके चरणारविन्द की सेवा कर विनय पूर्वक विद्या पाना यह उत्तमोत्तम मार्ग है. परन्तु प्राचीन समयमें जो गुरुसेवा प्रचलित थी उसका सौवां भाग भी अब इस देशमें नही है यह दुःख की बात है. अब गुरु और शिष्यका सम्बन्ध कुच्छ और ही शोकजनक रीतिपर हो गया है. शिष्य गुरुओंको तरनतारन के पूज्य भावसे नही देखते और न गुरु ही शिष्य को वत्स भावसे देखते है. पहला नियम जो अधम श्रेणीका चल निकला है. ट[illegible] फेंके और नोकरसे पढ लिया. इस सम[illegible] वह उच्च भावका संबन्ध शिथिल हो गया है विनयसे गुरु प्रसन्न होते हैं और वे सच[illegible] अन्तःकरण ज्ञान देते है. इस प्रकारसे दि[illegible] हुआ ज्ञान शिष्यको बहुत जल्दी आ जाता[illegible] प्रशमरतिमें श्री उमास्वामीने लिखा है कि वि[illegible]यका फल गुरुसेवा, गुरुसेवाका फल ज्ञान, ज्ञा[illegible]नका फल वैराग्य ऐसे बढते२ मनुष्य उ[illegible] दशा को पहुंच जाता है कि फिर उसे ज[illegible] मरण के चक्र में नही आना पडता अथ[illegible] मुक्ति पा जाता है. इन सबकी पहली सी[illegible] विनय है. प्रत्येक आत्म हितैषी मनुष्य [illegible] कर्तव्य है कि वह गुरुभक्ति करे. जिस म[illegible]ष्य में विनय है वही ज्ञान पानेका सच्चा [illegible]धिकारी है. इस लिये इस सद्गुणका विक[illegible] अवश्य करना चाहिए. जिसके पास सत्य [illegible] हमें विनय पूर्वक शिष्य वृत्तिसे उसके पा[illegible] सत्य सीख लेना चाहिए. विनयी पुरुष [illegible] तरह थोडे ही समय में अपने ज्ञानको [illegible] बढा सकते हैं.

अन्तिम परन्तु सबसे उत्तम गुण सब[illegible] णीयों पर कृपा—प्राणी मात्र पर दया क[illegible] का है. प्रत्येक गुण उच्च स्थिति में ले ज[illegible] को समर्थ है परन्तु प्रत्येकका मार्ग कठि[illegible] परन्तु यह मार्ग सबसे उत्तम और सरल [illegible] परोपकार करते हुए इसमें स्वार्थ सधता [illegible] यह गुण हमें सिखाता है मनुष्यही नही [illegible]णीपर भी हमें दया बतानी चाहिए. प्राणि[illegible] के दुःखमें हमें सहानुभूति दिखलानी [illegible] जिस मनुष्यमें आर्द्रता नही है, जिस म[illegible]

हृदय पराया दुःख देखकर व्यथित नही
। और जो शक्ति होनेपर भी उसे दूर
करता उसमें अभी तक दयाके अंकुर ही
म नही हुए हैं, यदि हम ऐसा माने तो
चित नही है. मनुष्य भलेही बुद्धिमान हो
ान हो परन्तु जो उसमें आर्द्रता-दया
है तो उसे अभीतक कुछ जानना बाकी
रम पद पाने के पहले उसे अभी बहुत
वके चक्कर लगाते फिरना है.

बाईबल में सत्य कहा है कि जिन तेरे
सियोंको तू देखता है उनपर ही जो तू
नही रख शक्ता तो फिर उस इश्वर पर
प्रेम कर सकेगा, जो तेरी आंखो से
प हैं. इस लिये इस गुणके विकास क-
ा यत्न करना चाहिए. Gharity be-
at home परोपकार घरसे प्रारम्भ
है. इस सूत्र को ध्यानमें रखकर द-
। क्षेत्र धीरे २ बढाते जाना चाहिए.
की दयाका क्षेत्र सम्पूर्ण जगत् है ऐसी
म्पाकी मूर्ति रूप गौतम बुद्धने एक
कहा है कि:-सब प्राणियोंके सुखके
से मैं जीवन समर्पण करता हूं. मेरे सब
मनुष्य पशु पक्षीओंके कल्याण रूपी
म हवन करता हूं.

संसार सारा सुख शान्ति भोगे
शरीर मेरा इसके लिये है;

चाहे मुझे कष्ट अनेक होवे
मुझे न पर्वा इसकी जरा भी.

जिन मनुष्योंने सम्पूर्ण संसारके लाभ के लिये जन मंडलके कल्याणके निमित्त अपनी जिंदगीका अपने सर्वस्वका समर्पण कर दिया हो ऐसे प्रेमी ऐसे दयालु मनुष्य इस संसारमें बहुत कम हैं. ऐसे महात्माओं के पीछे चलनेका लाभ पानेको हमें भी अपनी दयाका क्षेत्र बढाना चाहिए और औरोंके दुःख दुर करनेका यत्न करना चाहिये. यदि हम सूर्यकी भांति प्रकाश न फैलासके तो भी हमें ताराकी भांति चमकते हुए होना चाहिए. और हमारे मानव बंधुओंके ! जो अज्ञानमें गोते खा रहे है-सन्मार्गपर लानेका यत्न करना चाहिए. उन कामका करना हमारा कर्तव्य है. सब धर्मोंको मान्य ऐसी दुसरी कुंजीका वर्णन पूरा करनेके पहले इस बातको बतला देनेकी आवश्यकता है कि इन गुणोंके बीज प्रत्येक मनुष्यमें होते हैं परन्तु इनका विकसित होना मनुष्यके पुरुषार्थपर निर्भर है.

तीसरा कुंजी.

चतुर्थ प्रकरण–क्षमा.

क्षमाखड्गं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति ।
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ॥

जिसके हाथमें क्षमारुपी खड्ग है दुर्जन उसका क्या कर सकता है? विना तृणकी पृथ्वीपर पडी हुइ आग अपने आप बुझ जायगी. क्षमा से जो असंख्य लाभ होते हैं उनका सविस्तर वर्णन न कर हम संक्षेपमें उन लाभोंको बतलानेका यत्न करते हैं.

किसीने जो हमारी हानि की हो या हमारी इच्छा के विरुद्ध काम किया हो तो हम उसपर क्रोध करने लगते हैं परन्तु उस समय हमें यों विचार करना चाहिए "जो हुआ वह न हुआ न होगा. क्रोध करने से वह काम सुधर नही जायगा परन्तु उस मनुष्य जिसने वह काम किया है, उलटा क्रोध आयगा, इस भांति अग्निमें घी डालने से आपस में द्वेष बढेगा. दोनों में और दोनों के भाईबन्ध इष्ट मित्रो में कलह के बीज उगेंगे उस समय चित्तवृत्ति आर्त और रौद्र ध्यान से पूर्ण हो जायगी. उसमें दूसरे विचारों को स्थान भी न मिलेगा. एक दूसरे का कैसे बुरा करें ऐसी वृत्ति मुख्यत जागृत होगी. इसके सिवाय क्रोध दशा और कुच्छ सूझेगा ही नही. क्रोधसे शरी में एक प्रकारका विष उत्पन्न होता है इस से क्रोधी मनुष्यका शरीर सदा दुर्बल रह है. क्योंकि क्रोधमें उत्पन्न हुआ विष श रीर के सत्वका नाश कर देता है. क्रोध समय में मनुष्य ऐसे वचन कह बैठता है वि वह बाणसे भी विशेष वेदना पहुंचाते हैं वे वचनबाण ऐसा घाव पैदा करते हैं वि दूसरे मनुष्य के हृदय से उसका दर्द कभ नही मिटता. बाणका घाव मिट जाता परन्तु वचन बाणका घाव हृदयपर होने के कारण मुश्किल से मिटता है. इसी लि कहा गया है "If you are angry hol your tongue" जब तुम्हें क्रोध हो चु हो जाओ.

अब हम दूसरी ओर देखें. क्षमा करने से मित्रता बढती हैं. दुसरा मनुष्य हमार कृतज्ञ होता है और हमारे गुणका बदला देने का यत्न करता है. क्षमा करने से हमारी

चित्तवृत्ति शान्त और निर्मल होती है. संक्षेप में कहें तो क्षमासे शान्तवृत्तिरुप स्वर्गीय सुख का स्वाद मिलता है " शौर्यस्य भूषणं क्षमा " शूरताका भूषण क्षमा है. भर्तृहरी के इन शब्दों का रहस्य बहुत कम मनुष्य जानते हैं. हमें जीवन मिला है वह निर्बल को दुःख देने के लिये नही मिला है बुरेमना विकारों पर जय पाने के लिये मिला है. अतएव वैर लेने की शक्ति होने पर भी जो मनुष्य क्षमा दान करते हैं वे अपनी वीरता को सुशोभित करते हैं और इसी लिये कहा है कि " शूरता का भूषण क्षमा है ". इस लेखके प्रारम्भका श्लोक भी ऐसे ही भावका द्योतक है. जिन मनुष्यों को क्रोध नही आता दुर्जन मनुष्य उनका कर ही क्या सकते हैं ? परन्तु जिन मनुष्यों को क्रोध आता है वे न करने का काम कर डालते है और न कहने की बात कह डालते है. यह एक प्रकार की मानसिक दुर्बलता है.

दुर्जन मनुष्य ऐसे २ छिद्रों को देखता रहता है और उसका फायदा उठाने में कभी नही चुकता. परन्तु जहां क्षमारूपी शस्त्र हाथ में होता है वहां दुर्जन को जरासा भी छिद्र पाने का अवकाश नही मिलता. घास लकडी इकट्ठा रखी हो तो अग्निका स्पर्श होनेसे वे जल उठेगी परन्तु जहां घास या लकडी होगी ही नही वहां अग्नि करेगी ही क्या ? इसलिये क्रोधको स्थान न देते हुए हमें क्षमारूपी उच्च वृत्तिको धारण करना चाहिए, जिससे हमें शान्ति मिले, आत्मा विकसित हो और दूसरा मनुष्य भी सन्मार्गपर लगे. बुद्ध भगवानने कहा है:–द्वेषका नाश द्वेषसे कभी नहीं होता; परन्तु प्रेम से उसका नाश होता है. Hatred ceases by love and not by hatred. इससे सिद्ध होता है कि क्रोधका नाश करने के लिये क्षमा–प्रेम के जैसा एक भी उत्तम साधन नही है. इस प्रसंगमें हम एक छोटीसी कथा लिखना योग्य समजते हैं:–

एक गुणवर्मा नाम के काशी के महाराजने कौशल देश के चंद्रशेखर नामके रइसपर चढाई की. काशी नरेश ने चन्द्रशेखर का राज्य छीन लिया और उसे उसके राज्य में से निकाल दिया. चन्द्रशेखर और उसकी राणी वहां से चले गये और और कहीं जा कर एक छोटीसी झोंपडी बना कर उसमें रहने लगे. वहांपर राणीके एक पुत्र हुआ. उसका नाम धर्म शेखर पाडा गया. कुछ समय बाद यहापर उन्हें एक नाईने देखा. यह नाई पहले इनका ही था इसने नीचता कर इनके रहनेका हाल गुणवर्माको जा कहा. गुणवर्माने राजा और राणीको पकड मंगवाया और फांसीकी आज्ञा दी. सुभाग्य से धर्मशेखर को इन्होंने अन्यत्र भेज दिया था. वहभी इस समय वहां आ पहुंचा. भीडको चीरता हुआ रस्ता साफ करने लगा. उसने वहां देखा कि उसके मावाप फांसी देने के लिये पहुंचाए जारहे हैं; उस समय उस के पिताने उसे धीरे धीरे एक उपदेश दिया कि:–

My son, be not long, be not short, hatred ceases not by hatred; by non–hatred—love it ceases मेरे

बेटा, न तू लम्बा हो और न ओछा हो, द्वेषसे द्वेषका नाश कभी नही होता परन्तु द्वेष प्रेमसे नाश हो जाता है. लडकेने इन शब्दों पर विचार किया परन्तु उनका भावार्थ वह नही समज पाया. थोडे समय के बाद वह अपने माता पिता के मारनेवाले काशी नरेश के यहां नोकर रह गया. वह अपने मधुर स्वरके कारण काशीनरेशका कृपापात्र बन गया. उसपर राजा की बडी प्रीति हो गई, राजा उसके गोदमें अपना शिर रख कर सोने लगा. एक दिन राजाको इस तरह सोते र खुब नींद आ गई. धर्मशेखर को विचार आया कि "इस समय राजा मेरे हाथ में है; इसने मेरे मातापिता को मारे हैं और मेरी यह गत की है. वह इस समय निराधार है मैं भी इसे मार डालूं" साथ ही उसे अपने पिताका उपदेश याद आया कि "तू ओछा न हो" इसका अर्थ उसे मालूम हुआ कि किसी काममें जल्दी न कर. उसने कटारको म्यानमें रख दिया. और याद आया "द्वेष द्वेष से नही मिटता" राजा जगा और उसने कहा कि जिस कुंवर की गादी मैं गडप कर गया उसने मुझे मार डाला ऐसा मुझे स्वप्न आया है. युवक खडा हो गया और उसने तलवार खींची, अपना सच्चा रुप जाहिर कर बोला कि "हे राजन् आपका जीवन मेरे हाथ में है." राजाने अपनी जिन्दगी बचाने को बडी खुशामद की तब राजकुंवरने उत्तर दिया कि हे राजन! मैने आपको मार डालने की धमकी देकर अपनी जिन्दकीको जोखममें डाला है. मैं यद्यपि आपको मार डालता परन्तु मेरे पिताके उपदेशने मुझे ऐसा करने से रोका. राजाने उसे अभय दान दिया. राजकुमारने उस राजाको अपने पिताका उपदेश सुनाया. उसने कहा कि मेरे पिताने मुझसे कहा था कि पुत्र! तू न लम्बा होना और न ओछा (ओछा न होनेसे मतलब जल्दी न करनेका है.) जो मैंने आपको मार डाला होता तो आपके स्वजन मुझे कभी न छोडते और उन्हें मैं मित्र! द्वेषसे द्वेष नही मिटता है परन्तु प्रेम से उसका नाश होता है. यदि मैं द्वेष ही को ही काममें लेता तो उपर कहे मुआफिक बैर बढता ही. परन्तु हमने एक दूसरेकी जिन्दगी कायम रख प्रेमकी वृद्धि की है और इस प्रेमसे हमारे द्वेष का अन्त हो गया है।

जैन धर्ममें भी दीनभर किये हुए अपराधों की क्षमा मांगने का उपदेश करते हुए वंदिता सूत्र में कहा है कि:—

खामेमि सव्वे जीवा सव्वे जीवा खमन्तु मे
मित्ति मे सव्वभूएसु वेरं मझ न केणइ ॥

मैं सब जीवों को क्षमा करता हूं. सब जीव मुझे क्षमा करें. मेरा बैर किसीके साथ नही है. मेरा सब से मैत्री भाव है.

प्रतिदिन इसका पाठ करते रहनेपर जो हम इस समय दूसरोंसे द्वेष रखकर उनका बुरा करनेके विचार में लगे रहे वह किसी भांति उचित नही कहा जायगा. हर मनुष्य को क्षमा मांगनी पडती है. हम परमेश्वरसे अपने अपराधोंकी क्षमा मांगते हैं प

ही क्षमा देते हुए हम इधर उधर देखते है. म जिस क्षमाको मांगते हैं हमें चाहिए कि स क्षमाको हम भी औरों को दें.

He who cannot forgive other's breaks the bridge over which he must pass himself for every man has need to be forgiven.

जो मनुष्य दुसरों को क्षमा नही करता वह उस पुलको ही तोड देता है जिसपर हो कर उसे स्वयं पार उतरना है क्योंकि प्रत्येक मनुष्यको क्षमा मांगनेकी आवश्यकता है.

क्षमा क्यों करना चाहिए? क्षमा करने का एक उत्तम कारण है. आत्मा ही कर्मका कर्ता है और आत्मा ही भोक्ता है. हमको जो सुख दुःख मिलते है उसमें अन्य मनुष्य तो केवल निमित्त कारण है. उपादान कारण तो पूर्व भवमें किये हुए हमारे शुभ और अशुभ कर्म ही है. जो हमें इस कर्म नियममें पूर्ण विश्वास हो तो किसी मनुष्यपर क्रोध करने का कोई कारण ही नही रहता. हमारा जीव कुत्ते के तुल्य हो गया है. कुत्ता लकडी मारने वाले को नही काटता बल्कि लकडी को मुखसे दबाता है. वैसे ही हम इस बातका विचार नही करते कि पूर्व भवमें किये हुए कर्मका यह फल है. किन्तु जिस मनुष्य के द्वारा हमें दुःख पहुंचता है उसी को दोषी ठहरा ते है और उससे द्वेष रखते है. उसपर क्रोध करते है. यह कैसी अज्ञानता है? यह कितनी विचार शून्यता है?

क्रोध अहङ्कारसे उत्पन्न होता है. मेरा बिगाड करनेवाला यह कौन है. ? मेरे काममें बाधा लगानेवाला यह कौन है ? इसका ऐसा क्या दिमाग है कि मेरा अपमान करे? ऐसे २ अभिमान के विचार क्रोध को जागृत करते हैं. ठीक हो या बे ठीक, परंन्तु जहां कोई अन्याय मान बैठते हैं वहां क्रोध उत्पन्न होता है. किसी वृत्तिका एकदम नाश नही हो सकता परन्तु उसकी गति को हम पलट अवश्य सकते हैं. जैसे जलका प्रवाह जोरसे चल रहा है तो उसे रोकना बडा कठिन है परन्तु उसे दूसरे मार्ग पर जारी कर देना सरल है. वैसेही क्रोधको एकदमसे रोक देना कठिन है परन्तु धीरे २ इस वृत्तिको सन्मार्ग को ओर लगा दी जा सक्ती है.

क्रोधकी वृत्तिको रोकने की इच्छा रखने वाले मनुष्य को चाहीए कि पहले तो वह उसका उपयोग अपनी ओर न करे. हमारी कितनी ही हानि हुइ हो, हमारा कितनाही अपमान किया जाय परन्तु जो हम ऐसा करने वाले को क्षमा कर दे और उससे बैर न लें तो कहा जायगा कि हमने क्रोध को छोड दिया है. ऐसा होनेपर भी जब हम किसीको दूसरों पर अन्याय करते हुए देखें तब जो हमारे जीमें अन्यायी पर सिंहकी भांति टूट पडने की बात आवे और हम उस पर वैसेही टूट कर अन्यायको रोक दें तो वह "प्रशस्य क्रोध" (Noble indignation) है. जहां जहां अन्याय होता हो वहां वहांपर क्रोध करना कोधको सन्मार्ग पर लगाना कहा जायगा. परन्तु अपने पर होते हुए अन्याय पर वह एक शब्द भी नही कहता. जिसने क्रोध जीता है वह अशुभ विचार को कभी स्थान नही देता. इससे भी एक और उंचा दरजा

है. उस पर पहुंचे हुए मनुष्योंकी दयाके पात्र अन्यायी और अन्याय पीडित दोनों ही होते हैं. वे विचार करते हैं कि जिसपर अन्याय हुआ है उसने अपने किये हुए कर्मका फल भोगा है. यद्यपि वह दया पात्र और उसका दुःख दूर करना हमारा कर्तव्य भी है परन्तु दुःख भोगने में उसके अशुभ कर्मोंका क्षय होता है. और अन्याय करने वाला तो सचमुच नवीन कर्मोंके बन्धनमें पडता है. उसे समझाकर सन्मार्ग पर लगाना हमारा परम कर्तव्य है." क्योंकि जो वह सन्मार्ग को न जानेगा तो उसके अन्याय का कभी अन्त न होगा और वह जियादा २ अन्याय करता जायगा. इस तरह क्रोध वृत्ति प्रेम में पलट जाती है. जैनियोंके २४ वें तीर्थंकर महावीर स्वामी को जब चंड कौशिक नागने डसा तब वे क्रोधमें न आये परन्तु उस पर दया कर उसे उन्होंने ज्ञान दिया. अपनी हानिसे दयासागर महात्माओं को जरा भी क्रोध नहीं होता. कारण कि उनका जीवन ही लोक कल्याण के लिये होता है. इस भांति दयामय प्रभुने दया कर सर्पका भी उद्धार किया. क्षमा उच्च जीवात्माओंका परम लक्षण है. वे कर्मकी विचीत्र गतिको समझते हैं. वे जानते हैं कि जितने अन्याय के कार्य जगतमें होते हैं उनका सच्चा कारण अज्ञान है. कितनेही मनुष्य कहा करते हैं कि उसने तो अमुक काम जान बूझकर किया है. उसने बुरा जानते हुए भी अमुक कामको किया है. अब उसे कैसे क्षमा दी जा सक्ती है? उसको तो सजा ही दी जानी चाहिए. इसके उत्तरमें कहा जा सक्ता है कि उस कामकी बुराइ चाहे उसकी बुद्धिने मान भी ली हो परन्तु उसके अन्तःकरणमें इस बातकी प्रतीति नहीं हुई. और जब तक हृदय और बुद्धि दोनों से सत्य स्वीकृत न हो तब तक यथार्थ ज्ञान हो ही नहीं सकता. यदि किसीने लोभ में आकर कोइ बुरा काम किया हो तो लोभ भी एक प्रकारका अज्ञान ही है. जो वस्तु आत्माकी नहीं है उस पर अपना हक स्थापित करनेका यत्न करना लोभ है. यह लोभ अज्ञान नहीं तो क्या है? ऐसें जैसे २ सूक्ष्म विचार किया जायगा वैसेही वैसे ज्ञान होगा कि सब तरहके दूषण, सब भांति के अपराध, भांति २ के अन्याय वगेरे सब अज्ञान से उत्पन्न हुए हैं. "Ignorance is to be pitied rather than scorned." और अज्ञान धिक्कार का पात्र नहीं है किन्तु दयाका है. अत एव अज्ञानी मनुष्यों पर दया कर उन्हें शुद्ध मार्ग पर लगाना चाहिए, न कि उनपर क्रोध करना चाहिए; कारण कि क्रोध करनेसे वे हमारे सुन्दर उपदेश से विमुख हो जायगे और हमें उपकार करनेका मौका न मिलेगा.

चोथी कुंजी.

पाचवाँ प्रकरण—वैराग्य.

पहले यह जानना चाहिये कि वैराग्य कहते किसे हैं. किसी भी पदार्थ या वस्तुकी ओर राग के अभाव का होना वैराग्य कहाता है. उसकी ओर उदासीन ह्रत्तिका होना भी वैराग्य कहा जाता है. यह वृत्ति कब उत्पन्न होती है? और इससे क्या शिक्षा ग्रहण करना चाहिये? सच्चे और क्षणिक वैराग्यमें क्या भेद है? इसका यथार्थ बोध होनेकी आवश्यकता है.

जो हम बारीकीसे देखेंगे तो ज्ञात होगा कि वैराग्य दुःखसे ही उत्पन्न होता है. ज्ञानसे भी वैराग्य होता है परन्तु वैराग्य का प्रभाव तो दुःख पडे तभी देख पडेगा. जब तक मनुष्य को उसके वाञ्छित पदार्थ मिलते हैं, जब तक सब संयोग और मनुष्य अनुकूल होते हैं, जब तक सब स्वजन और इष्ट मित्र सुखमें रहते हैं और मनमानी लक्ष्मी होती है, कोई भी उसके प्रतिकूल नही होता तब तक वैराग्य वृत्ति उत्पन्न ही नही होती, तब तक तो वह उसी सुखमें आनंद मानता है. परन्तु सबका संहार करनेवाला काल अपना स्वरूप दिखाता है जिससे वह सुख सदा बना नही रहता. जिसकी स्वप्नमें भी इच्छा न की हो ऐसी २ बातें बनजाती हैं. जिसे मनुष्य अपना मित्र गिनता हो, जिससे पलभर भी दूर रहना सो वर्षसे भी विशेष मालूम होता हो वही प्रेमपात्र मृत्युके आधीन हो जाता है; जिसपर आसक्त हो उसीका नाश हो जाता है या वही उससे दूर हो जाता है: ऐसे समय मनुष्य के मनमें एक प्रकारकी ग्लानि उत्पन्न होती है. दूसरे शब्दोंमें कहें तो संसारपर विराग उत्पन्न होता है.

परन्तु यह वैराग्य बहुत समय तक ठहरता नही है. लोग ऐसे वैराग्यको स्मशान वैराग्य कहते हैं. क्योंकि स्मशानसे लौट आनेपर जैसे शोक दूर होता है वैसे ही यह वैराग्य भी थोडे ही समयमें अदृश्य हो जाता है. यह दूसरे मनुष्यके साथ प्रीति करता है. दूसरा मनुष्य उसके चित्तको खींच लेता है. उसके जीवनमें आनन्द देनेवाले दूसरे फुल खिलते हैं. और जिस वस्तुका अभाव होनेसे वैराग्य उत्पन्न हुआ था वैसी ही या उससे सुन्दर दूसरी वस्तु मिलते ही वैराग्य का लोप हो गया.

जिस समय यह वैराग्य वृत्ति मोजूद हो और संसार असार जान पडता हो उस समय वैराग्यसे अनेक उपदेश ग्रहण किये जा सकते हैं. जैसे संसारकी असारता और अनित्यता. यह वैराग्य वृत्ति मनुष्यका ध्यान आत्माकी ओर भी खींचनेको समर्थ होती

है परन्तु थोडे ही समयमें सांसारिक पदार्थोंके आकर्षणसे मनुष्यकी वैराग्य वृत्तिका लोप हो जाता है. शास्त्रमें लिखा है कि:—

धर्माख्याने स्मशाने च रोगिणां या
मतिर्भवेत् ।
यदि सा निश्चला बुद्धिः को न मुच्यते
बन्धनात् ॥

धर्म सुनते वक्त, स्मशानमें, अथवा बीमार होनेकी हालतमें जैसी मनुष्यकी बुद्धि होती है वैसी ही निर्मल बुद्धि सदा बनी रहे तो कौन मुक्त न हो जाय? अर्थात् सब मुक्त हो जाय. मनुष्य जब दुःख-दर्दसे पीडा पा रहा हो तब उसे पांचों इन्द्रियोंके विषय सुखकी वैसे ही सांसारिक मायाके और २ सुखोंकी असारतापर उसका ध्यान जायगा. जब मनुष्य स्मशानमें जाता है और देखता है कि मुर्दे जल रहे है तब उसे विचार होता है कि एक न एक दिन यह हमारा शरीर भी जलेगा. जिस शरीरको हमने पालपोस कर बडा किया, जिसके पालन करनेमें हमने अनेक वस्तुओंका नाश करना ठीक समझा, वह शरीर मेरे साथ चलनेका नही है. हां, हम इस बातको जानते नही है कि कब तक मरेंगे; परन्तु मरेंगे अवस्य और यह शरीर इसी तरह जलेगा और हम जिन्हें मेरामेरी कहते है उन सब वस्तुओंको छोड जाना पडेगा. मरण निश्चित है. इस विषयमें बुद्ध धर्ममें एक छोटीसी परन्तु उपदेश जनक कहानी है, उसे यहां लिखते है.

किसी गोतमी नामकी एक बडी सुन्दर युवती थी. उसका विवाह एक योग्य वरके साथ किया गयाथा. इसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ. यह लडका जब दोडने लायक हुआ तब यकायक मर गया. गोतमी को इसपर अत्यन्त स्नेह था कि वह मरे हुए बच्चेको अपने गोदमें लेकर उसके लिये घर २ दवा पूछती फिरी. उसे एक बौद्ध सन्यासीने देखी और उसकी अज्ञान दशा जानकर कहा "बाई, मेरे पास तो दवा नही है परन्तु जिसके पास ऐसी दवा है उस मनुष्यको मैं जानता हूं" "ऐसी दवा दे सके वह कौन है?" गौतमीने बडी आतुरतासे पूछा. उसने उत्तर दिया कि "बुद्ध देव ऐसी दवा दे सकते हैं तूं उनके पास जा."

तब गौतमी बुद्धके पास गई और नमस्कार कर बोली "हे नाथ! हे प्रभो! मेरे बालकको लाभ पहुंचावे ऐसी कोइ औषधि आप जानते है?" बुद्धने उत्तर दिया कि "हां; मैं कुच्छ औषधि जानता हूं." भारतमें ऐसी रीति प्रचलित है कि वैद्य या हकीम जोजो औषधियां मगावे ला देना. चाहिए इसी रीतिके अनुसार गौतमीने पूछा कि किस औषधिका काम पडेगा? बुद्ध देवने कहा कि सिर्फ सरसो चाहिए. यह सुनकर गौतमी बडी प्रसन्न हुई, क्योंकि सरसोका मिल जाना कुच्छ कठिन न था. परन्तु बुद्ध देवने साथ ही यह भी कहा कि "जिस घरमें कोइ बालक, वृद्ध मातापिता या नोकर चाकर न मरे हों ऐसे घरसे सरसों लाना." गौतमी बहुत अच्छा कहकर चली. वह घर घर फिरने लगी. जिसके घर जाती वहां सरसे देनेके लिये तैयार हो जाते परन्तु जब वा

पूछती कि आपके यहां बाप, बेटा, मा, नोकर आदि मेंसे कोई मरा है? तब उसे उत्तर आश्चर्य पूर्वक मिलता कि मरोंकी संख्या बहुत जियादा है और जिन्दाओंकी कम. कोई कहता हमारे पिताका देहान्त हो गया, कोइ कहता मेरा पुत्र जाता रहा, कोइ कहता मेरे स्वामीका स्वर्गवास हो गया, कोइ कहता मेरा नोकर मर गया है.

जिस घरमें कोइ न मरा हो ऐसा घर उसे एक भी न मिला इससे वह थक गई. उसके मनसे शंका दूर हुइ. उसने मरे हुए बच्चेको जंगलमें छोडा और बुद्ध देवके पास गइ और नमस्कार कर पास बैठी. बुद्धने पूछा कि "क्या तू सरसों लाइ?" उसने कहा "हे प्रभो! लोग कहते हैं कि हमारे घर मरों की संख्या जियादा है और जीते हुओं की कम" इसके बाद बुद्धने उसको संसारके पदार्थोंकी अनित्यताका और क्षणिकताका ज्ञान दिया और समझाया कि संसारमें जितने पदार्थ देख पडते हैं नाशवान हैं.

परन्तु ऐसे विचार क्षणमात्रके लिये हृदयमें पैदा होकर लय हो जाते हैं. मनुष्य फिर सांसारिक पदार्थोंके मोहमें पड जाता है. दुःखसे उसमें ऐसे विचार उत्पन्न होते हैं और दुःखका अदृश्य होनेसें वेभी कारण अदृश्य होजाते हैं.क्योंकि अभीतक उस मनुष्य को पूर्ण ज्ञान नही हुआ होता जिससे कि वह अदृश्य को भी समझ सके.

मनुष्यकी आत्मा सच्चिदानन्दमय है. वह आनन्द स्वरुपी है. वह आनन्दको ही चाहता है. वह उसे ही खोजता है. कस्तूरी मृग अपनी नाभिमें कस्तुरी होनेपर भी कस्तुरीकी सुगन्धिसे आकर्षित हो उसे सारे जंगलमें ढूंढता फिरता है परन्तु उसे इस बातका ज्ञान नही होता कि वह कहां मिलेगी? इसीसें वह सब जगह भटकता फिरता है. वैसे ही आत्मामें स्वयमेव आनन्द है परन्तु उसे इसका ज्ञान नही होनेसे वह बाहरके विषयोंमें सुखकी प्राप्तिके लिये ढुंढता फिरता है. यहां सुख नही मिला तो वहां सुखको ढूंढता है. इस बातको स्पष्ट करनेके लिये एक ही इन्द्रियके विषय के बारेमें विचार करें. जैसे हम रस वृत्तिको ही लें. पहले स्वादिष्ट भोजन रसवृत्तिको आनन्द देनेवाला होता है और इसीसे मनुष्य उसमें सुख मानता है. स्वाद लगनेसे उस पदार्थको खूब खाने लगता है. उसकी जीभ ऐसे पदार्थको खानेके लिये लार टपकाती है. हद जियादा मनुष्य भोजन कर लेता है. परिणाम यह होता है कि अजीर्ण हो जाता है या किसी तरहकी व्याधि खडी हो जाती है. अब उसे मालूम होता है कि जिसे मैंने सुखकर माना था उसमेंमे तो दुरुपयोग करनेसे दुःख पैदा हुआ; इसमें सुख नही; चलो कोइ दूसरी चीज ढूंढे. पांचो इन्द्रियों के विषयोंकी यही दशा है. वे सब रसनाके विषयकी भांति दुःख गर्भीत है. भगवद्गीतामें कहा है.:—

मात्रा स्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्ण
सुखदुःखदाः।
आगमापायिनो नित्यास्तांस्तितिक्षस्व
भारत ॥

शीत उष्ण सुख और दुःख देनेवाले इन्द्रियोंके स्पर्श नित्य दुःख देनेवाले हैं. हे अर्जुन ! तू इन्हे सहन कर.

इस भांति स्वयं दुःख पानेपर मनुष्य को अनुभव होता है कि जिन २ वस्तुओंको मैं सुखकर मानता था आखिर कार वे दुःख देनेवाला ही है. और ऐसे उन पदार्थेकी ओर विराग पैदा हो जाता है.

ऐसे एक दो दफे दुःख होनेसे ही पदार्थकी अनित्यताका–असारताका यथार्थ रीतिसे बोध नही होता. पीछा मनुष्य उनकी ओर खिंच जाता है. परन्तु ज़ बार २ वखूब भारी २ संकट पडते हैं तभी मन उन २ पदार्थोंसे हट जाता है. इस तरहसे जो अनुभव होता है वह मनुष्यको शुद्ध मार्गकी ओर लेजाता है.

केवल ज्ञानसे–उपदेशसे जिनको वैराग्य उत्पन्न हुआ हो ऐसे मनुष्य तो विरल ही देखनेमें आते हैं. जिनको पुर्व जन्मके दृढ संस्कार हों ऐसे पुरुषोंको कदाचीत किसीके उपदेशसे वैराग्य उत्पन्न हो जाय परन्तु सामान्य नियमसे तो ऐसाही कहा जा सकता है कि जब मनुष्य अपने अनुभवसे किसी भी वस्तुको असार, तुच्छ, अनित्य और परिणाममें दुःखदायक समझता है तभी उसपरसे उसका मन उतर जाता है और आत्मा और आत्मिक गुणों की ओर उसका मन लगता है. इस नित्य और अनित्य वस्तु के भेद बतलाने वाले ज्ञानको शास्त्रोंमें विवेक कहते हैं. जिस मनुष्यमें विवेक उत्पन्न हो जाता है वह संसारके कि-सीभी पदार्थ के लिये अपनी आत्मा के किसी गुणको मलिन करने वाला कोइ भी काम कभी न करेगा. जिससे आत्मिक शक्तियोंका विकास हो और आत्माके स्वभावीक गुणोंका प्रादुर्भाव हो वह ऐसे मार्गको स्वीकार करता है. और सुख दुःखका समाधान उसके हृदय को हो जाता है. वैराग्यसे सुख दुःखका समाधान कैसे होता है इसके बारेमें एक दृष्टांत देते हैं.

एक समय मगध देशके राजाका देहान्त हो गया. उसकी गद्दी पर उसके पुत्र भद्रसिंह को बिठाया गया. उस समय उसके कंठमें एक रत्नसे जडा हुआ तावीज भी पहनाया गया. यह तावीज वंशपरंपरासे चला आता था. यह तावीज राजाके गलेमें क्यों पहनाया गया है इसकी किसीको भी खबर न थी परन्तु इस राज्यका यह दस्तुर था कि जो कोइ रइस गद्दी पर बैठे तो उसके कंठमें इस तावीजको पहनाया जाय और रइस इसे जीतेजी अपने पास सदा रखे. भद्रसिंहने भी इस तावीजको अपने कंठका भूषण किया.

कुछ समय बितने पर मालवेके पराक्रमी राजा वीरसिंहने मगध देश पर चढाइ की और उसने मगध देशकी सेनापर विजय पाइ. भद्रसिंहने जब देखा कि मेरे सैनिकों भग गये और अब विजय पानेकी कोइ आशा नही है तब वह अपने प्राणोंको बचाने के लिये अपने विश्वापात्र मनुष्यों के साथ काटके

के मार्गसे निकल गया. उसपर चिन्ताकी छाया पड गइथी. वह एक वृक्षकी छाया के नीचे विश्राम लेनेको बैठा और अपनी पूर्वकी स्थिति और वर्तमान दशाका विचार करने लगा. भूत और वर्तमान कालके चित्र उसकी आंखों सामने आ गये. उस समय उसकी दृष्टि उस रत्न जडे हुए तावीज पर पडी. उसने उस पर बहुत कुछ तर्कवितर्क किया पर कुछ ज्ञान नहीं हुआ. आखिर कार उसने उस तावीज को खोला. उसमेंसे एक दुगना भोज पत्रका टुकडा निकला. राजाने उसे बडी सावधानीसे पढकर देखा. उसपर ये शब्द लिखेथे "इदमपि गमिष्यति" This too shall pass away. यह भी चला जायगा. क्या चला जायगा? मेरे पास जानेको अब रहाही क्या है? इसतरह उसने उन शब्दोंपर विचार किया. अन्तमें उसने यह अर्थ समझाकि "यह मेरा पराजय (Defeat) भी चला जायगा अर्थात् मैं विजयी हूंगा." इस विचारसे उसमें नवीन पराक्रम आया. निराशामें आशा के चिन्ह दिखाइ दिये. उसे मालूम होने लगा कि अब मेरा जय होनेवाला है. वीरपुरुषों को जय आशा—उत्साह आता है तब वे क्या नहीं कर सकते? कैसाही कठिन कार्य हो उन्हे सरल जान पडता है.

भद्रसिंह धीरे २ नवीन लश्कर इकट्ठा करने लगा और लश्कर इकट्ठा कर मगध पर चढाइ कर बैठा. परिणाम यह हुआ कि उसने वीरसिंह को वहांसे निकाल दिया. और अपने राज्यपर फिर अधिकार कर लिया. इससे उसे बडा आनन्द हुआ, बडा हर्ष हुआ. उसके संतोष का ठिकाना न रहा परन्तु तत्क्षण उसकी दृष्टि उस तावीजपर पडी. उसे दिखाइ दिया कि "यह भी चला जायगा" इसमें उसके हृदय पर बडा प्रभाव पडा. यह विजय भी चला जायगा; इससे हर्ष क्यों मानना चाहिये? अच्छी बुरी दशा आती ही रहती है. इस विश्वमें दुःख सुख हुआही करते है. "कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा" न कोइ सदा सुखी रहता है और न कोइ सदा दुःखी. इस वास्ते सम्पत्ति के समय किसी को फूल कर स्वच्छंदी कुप्पा न होजाना चाहिए क्यों कि ऐसा करनेसे आत्मसंयम का गुण नष्ट होता है. और न दुःख के समय म्लान होकर अपने पुरुषार्थ को खोना चाहिए. परन्तु दुःख और सुख के समयमें "यह भी चला जायगा" ऐसा विचार मनका समाधान करना चाहिए.

वर्तमान समयमें बडे कहलाने और मान पूजा पाने के लिये वैराग्य वृत्ति धारण करने वालों के उदाहरण भरे पडे हैं. ऐसों ही के लिये कहा गया है कि:—

वैराग्य रंगः परवंचनाय
धर्मोपदेशो जनरञ्जनाय

औरोंको धोखा देनेके लिये वैराग्य और मनुष्योंके मन रंजन करनेके लिये धर्मोपदेशकला स्वीकार करनेवाले कभी आत्महित नहीं कर सकते. बल्कि पवित्र भेसके आसरेसे दुनियाको उलटे मार्गपर लगाते हैं. ऐसे उपदेशक पत्थर तुल्य हैं. स्वयं डूबते हैं और दुसरोंको भी संसार समुद्र में डुबाते हैं. परन्तु जो सचमुच अपना भला

किया चाहते हैं उनके आचार विचार समान होते हैं. वे जगतकी असारताका अनुभव कर-स्वयं अनुभव कर दुसरोंको भी उसका उपदेश करते है. स्वयं वैराग्य वृत्ति धारणकर दुसरोंको धारण कराते हैं.

जो सच्चे वैरागी हैं वेही राजजनक वस्तु पास होने परभी उनमें लिप्त नहि होते और जैसे कमल जलमें उगता है तो भी उससे पृथक् रहता वैसेही वेभी संसारमें रह कर भी उसके विकारोंसें दूर रहते है. ऐसेही मनुष्य मुक्ति पा सकते हैं. विवेक चूडामणि में ठीक कहा है कि:—

विषयाशा महापाशाद्यो
　　विमुक्तः सुदुस्त्यजात्
स एव कल्पते मुक्त्यै
　　नान्यः षट् शास्त्रवेद्यपि
आपात वैराग्यवतो मुमुक्षून्
　　भवाब्धिपारं प्रतियातु मुद्यतान्
आशाग्रहो मज्जयते ऽन्तराले
　　निगृह्य कंठे विनिवर्त्य वेगात्

जिसका त्याग करना कठिन है ऐसे विषयोंकी आशारुपी फांसीसे जो मनुष्य छूट गया है वही मनुष्य मोक्ष पानेका अधिकारी है—और नहीफिर चाहे छहों शास्त्रों का जानने वाला ही क्यों न हो

अढ़ वैराग्य वाले जो मुमुक्षु संसार समुद्रका पार पानेको तत्पर हो जाते हैं उन्हे आशारुपी मगर कंठ में पकड कर जल्दी से बड़े वेगसे डूबा देता है.

जिस मनुष्यको सच्चा वैराग्य नही हुआ है ऐसे मनुष्य जो मोक्ष पानेको तत्पर हो जाते हैं तो उन्हे आशारुपी स्त्री मोहमें फंसातीहै; वे किसी न किसी भांति आशा स्त्री के आधीन हो जाते हैं. जब तक हृदयमें आशा है तबतक कल्याण मार्ग दूर है. इसलिये आत्माके सिवाय सब वस्तु अनित्य है इसका अनुभव पहले करना चाहिए.

पांचवी कुंजी–वीर्य (सत्व)

छठा प्रकरण.
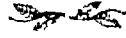
आत्म शक्तिका नाम वीर्य है. इसे सत्व भी कहते हैं. जिस मनुष्यके शरीरमें वीर्य नही है वह मनुष्यत्व के योग्यही नही है. इसी तरह जिसे आत्मा होने पर भी आत्म शक्तिमें और स्ववलमें विश्वास नही है वह धर्मके उंचे सोपान पर चढनेको असमर्थ है. शरीरके रोमरोममें कर्म लगे हुए हैं यह धर्म शास्त्रका विचार (प्रथम द्रष्टिसे) मनुष्यको कम हिम्मत और निरुत्साही बनाता है. "इतने कर्मोंका नाश हम कैसे कर सकेंगे?" यह विचार बडे भारी बलवानको निर्बल बना देनेको काफी है. परन्तु धर्मशास्त्रका मात्र किया हुआ दुसरा विचार भी भूल जाना न चाहिए. जिस कर्मको हमने बाधा है उसका नाश भी हम कर सकते हैं. आत्मा की शक्ति अनन्त है और इसीसे क्षणभरमें आत्मा अनन्त कर्म समुदायका नाश कर सकती है. प्रचण्ड सूर्यके साम्हने बद्दल देखतही देखते विखर जाते है. इसी तरह जब आत्मा अपना सच्चिदानन्दमय व ज्ञान दर्शन चारित्रमय स्वरुप का अनुभव करता है तब उसकी शक्ति बडी प्रबल हो जाती है और वह चाहे जैसे कर्म क्यों न हो उनके दलको दूर कर देती है. श्रीमद्‌भगवद्गीतामें लिखा है कि:–

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥

जैसे अच्छी तरह सलगती हुइ आग लकडियों को भस्म कर डालती है वैसे ही ज्ञानरुपी अग्नि सब कर्मोंको जला देता है. और भी कहा जाता है कि:—

अहोऽनन्तवीर्योऽयमात्मा विश्वप्रकाशकः।
त्रैलोक्यं चालयत्येव ध्यानशक्तिप्रभावतः॥

विश्वको प्रकाशित करने वाला यह आत्मा अनन्त शक्तिवाला है और ध्यान शक्तिके प्रभावसे यह तीनों लोकोंको चला सकता है. इससे हमे चाहिए कि हम आपत्तियां पडने परभी अनेक विघ्नों के आने परभी आत्मविश्वास को न छोडें. क्योंकि आत्मविश्वास न होनेसे हम किसी भी महत्व के कामको नही कर सक्ते. किसी भी महापुरुष के जीवन चरित्रको पढिए, आपको सहजमें मालूम होगा की उसमें और गुण हों या नही आत्मविश्वासका गुण अवश्य होगा. जिस मनुष्यको आत्मबलमें–अपने सामर्थ्य में विश्वास नही है वह कभी महत्वका काम करही नही सकता.

व्याख्यान देने वालेको इस गुणकी आवश्यक्ता है, लिखने वालेको इस गुणकी आवश्यक्ता है. युद्धवीरको इस गुणकी आवश्यकता है. मुनिजन भी इस गुणके विना

आत्म कल्याण कर नहीं सकते. कोइ महत्व का कार्य जिसे हम संसारको अचंभेमें डाल दे ऐसा कहें वह इस गुणके अभावमें पूर्ण नही हो सकता. इस लिए हम जिस सोपान खडे हो उससे आगे हिम्मत कर चढना चाहिए. " मुझसें क्या हो सक्ता है ? " " मैं क्या कर सक्ता हुं ? " ऐसे विचार रखने वाला मनुष्य कभी अपने निश्चित कार्यमें सफल नही होगा. कहनावत है " रोता जाय तो मरेकी खबर लावे " यह कहनावत ऐसे ही पस्त हिम्मत आदमियोंके लिये है.

मैं यह कहना नही चाहता कि हम एका-एक पहले सोपानसे सातवें सोपानको चढने के लिये उछल कर अपने पैरोंको तोड बैठे; परन्तु मेरे कहनेकी अभीप्राय यह है कि आत्मशक्तिमें विश्वास रखकर सीडी दर सीढी चढते जाना चाहिए. धीरे २ बडे २ पर्वतों के पार हो सकते है. जो उपर के सोपान पर चढे वे भी हमारे जैसे ही मनुष्य थे. वेभी आत्मिक बलसे ही उस दरजे पर पहुंचे थे. आत्मशक्तिमें विश्वास रख कर चलनेसे हम भी सफल मनोर्थ हो जायगे. " हिम्मते मरदा मददे खुदास्त " जिस कामको एक पुरुष कर सकता है उस कामको दुसरा न कर सके इसकी कोइ वजह नही है. इस लिये दुसरोंका भरोसा छोड आत्मबलके विश्वासपर हमें काम करना चाहिए कारण कि आत्मा के लिये कोइ काम असाध्य नही है. सारे जगतका अनुभव हम पांचो इन्द्रियोंसे करते हैं. इन्द्रियोंका स्वामी मन है और मनका स्वामी आत्मा. अत ए व आत्मा त्रिभुवनका स्वामी है. वही त्रिभुवनाधीश मेरे शरीरमें बैठा हुआ है. ऐसा विचार दृढतासे आवे तो मनुष्यकी [illegible]म्मत और धैर्यका पार ही न रहे.

ग्रीक का विद्वान डेमोस्थेनीस पी[illegible] बडा भारी वक्ता हो गया था. वह प[illegible] पहल जब राज सभामें बोलनेको उठा [illegible] उसपर सब लोग हँस पडे. उस समय उ[illegible] आत्मशक्तिमें विश्वास होनेके कारण व[illegible] कि " आप भलेही मुझ पर इस तराह [illegible] परन्तु आगे चलकर आपही मेरी प्र[illegible] करेंगें " बोलतेवक्त उसकी जिभ अटक[illegible] थी. उसने नदीके किनारे जा मुंहमें कंकर ड[illegible] वैसेही बोलना शुरु किया इस तरह अभ्य[illegible] करते २ वह एक प्रसिद्ध वक्ता हो ग[illegible] जो उसमें आत्मविश्वास न होता तो वह [illegible]सिद्ध वक्ता न होता. जो उसने निराश हो [illegible] दुसरीबार बोलनेका यत्न न किया ह[illegible] तो वह कभी अपने काममें सफल म[illegible] न होता.

पहले प्रयत्न मेंही मनुष्य सफलता [illegible] जाय ऐसा कोइ नियम नही है. चाहे [illegible] सफलता न मिले परन्तु प्रारम्भ किये [illegible] कार्य को कभी न छोडो. तुम्हे चाहे ह[illegible] बार निष्फलता हो परन्तु काम का न छो[illegible]

विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति

उत्तम मनुष्य विघ्नोंसे बार २ निष्फ[illegible] पाने पर भी आरम्भ किये हुए कामको [illegible] छोडते. ऐसा होनेसे कभी न कभी उस [illegible]म में सफलता मिलही जाती है. चाहे [illegible] यह मालूम हो कि हमारे कामका परि[illegible]

। निकला परन्तु यह निश्चय रक्खोकि ।। नहीं है. आप विजय पानेके समीप च- जाते हो. अन्ततः आत्मा विजयी है. जी- अवश्य मिलेगी. श्रीमती मिसिस एनीबे- ने लिखा है:-

"Have faith in the ultimate triph of the evolution of the soul thin you, which nothing can finally strate"

अन्ततः आपकी अन्तरात्माकी उन्नति विजय अवश्य है इसपर श्रद्धा रखिये ोंकि अन्त में उसके आडे कोइ विघ्न ही रहेगा. मोह राजा या दुनिया के विषय- ी सुभट आत्माको अपने जालमें फँसावे न्तु आत्मसिंह जब अपना सच्चा स्वरुप ट करेगा जाल स्वयमेव टूट जायगा और से जो मेडसा देख पडता है जाता रहेगा. समय उसे अनुभव हो जायगा कि मैं ही बुद्धमुक्त स्वरुप हुं.

श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यने कुमारपाल रा- को ज्ञान दिया था कि:-

यातु लक्ष्मीश्चलस्वभावा,
गुणा विवेक प्रमुखाः प्रयान्तु।
प्राणाश्च गच्छन्तु कृतप्रयाणाः
मा यातु सत्त्वंतु नृणां कदाचित्॥

चाहे चपल लक्ष्मी चली जाय, चाहे वेकादिक गुण न रहे और प्रयाणो- ख प्राण भी निकल जाय परन्तु ष्यका सत्व कभी न जाना चाहि- . "सत मत छोडे सांइया सत छोडता पत य" यों तो सत्व शब्द के अनेक अर्थ हैं परन्तु यहा पर इसका व्यवहार दो अर्थ में हुआ है अव्वल आत्म श्रद्धा और दुसरे वीर्य. जबतक मनुष्यमें आत्म श्रद्धा है तबतक वह कभी नही डरता, चाहे उसे सम्पूर्ण संसार क्यों न छोड दे, आत्म शक्तिमें श्रद्धा रखने वाला मनुष्य सम्पूर्ण जगतपर आत्म- बलसे अपनी सत्ता रखता है. सब गुण आ- त्माके आधिन है इस वास्ते चाहे मृत्यु हो जा- य परन्तु आत्मिक बलका नाश न करना चाहिए. इसके साथ ही कुमारपालको उपदे- श दिया गया कि आत्मबलकी भांति शारी- रिक वीर्य रक्षाकी भी आवश्यक्ता है.

वीर्य मनुष्य के शरीरका राजा है. जैसे राजा बिना राज्यमें अंधाधुंधी फैल जाती है, राज्य निरर्थक हो जाता है वैसेही वीर्यहीन मनुष्य निस्तेज होजाता है. उसके शरीरमें अनेक रोग होजाते हैं. शरीरके सातों धातुओंमें वीर्य मुख्य है. उसके बलसे शरीर के सब यन्त्र ठीक २ चलते हैं. परन्तु कहते हुए दुःख होता है कि उसकी-वीर्यकी ठीक २ रक्षा आजकल नही की जाती. उ- सका बुरी तरह नाश किया जा रहा है इससे हम उचित समझते हैं कि भावी सन्तानके लिये दो बातें लिखे.

बचपनसेही निष्कलंक रीतिसे ब्रह्मच- र्यका पालन किया जावे-बराबर वीर्यकी रक्षा की जावे, कसरत कर शरीरके अंग -प्रत्यं गकी पूर्णता की जावे और पुष्टिमद सादा खुराक खानेमें आवे तो वृद्ध होने तक मनु- ष्यका शरीर दृढ और बलवान रहेगा इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है जो भोजन हम करते हैं

उसे जठराग्नि पचाती है और उसका रक्त बन जाता है. उस खूनका वीर्य बनता है. वीर्यसे जठराग्नि प्रज्वलित होती है. इस भांति वीर्य और जठराग्निका परस्पर व्यवहार है. वे एक दुसरेके सहायक हैं. परन्तु इनमेंसे जो एकमें भी विकार अव्यवस्था होनेसे सब शरीरके रचनामें फरक पड जाता है.

प्राचीन समयमें जबतक विद्यार्थी पढते थे तबतक अखंड ब्रह्मचर्य पालन करते थे. इसीसे वे बद्धवीर्य और ऊर्ध्वरेता कहे जाते थे. वीर्यके संचनसे और उसका कुमार्गसे व्यय न होनेसे वह जठराग्निको प्रदीप्त कर शरीरके सब भागोंको बल देता था. इसीसे प्राचीन पुरुषोंके शरीरकी स्थिति बहुत अच्छीथी और इसीलिये जिन शक्तिसे दिनरात विद्यार्थियोंको काम पडता है वह मेधाशक्ति तीव्र और बलवाली रहतीथी. उनका अभ्यास अच्छा होताथा. उनकी स्मरण शक्ति ऐसी होतीथी कि जिसका हाल सुन आश्चर्य होता है और कभी कभी तो हम उसके सत्य होनेमेंही शंका कर बैठते हैं. ऐसा होनेका कारण हमारी शारीरिक निर्बलता और उससे उत्पन्न हुइ दिमागकी कमजोरी है.

प्रायः ऐसा भी होता है कि बालक कुसंगति के प्रभावसे कु आचरण के फंदे में पड जाते हैं. दुसरे बच्चोंके कुआचरण देखकर येभी कुचेष्टाओंसे वीर्यपात करने लग जाते हैं. भविष्यमें इसका परिणाम भयंकर हानिकारक होगा. इसका इन्हें स्वप्न में भी विचार नही होता. वे ऐसी २ क्रियाओंको एक प्रकारका खेल समजते हैं. परन्तु " पडीटेव टाली हुइ नहीं टलती " इस कथ के अनुकूल एक बार पडी हुइ आ बराबर कायम रहती है. इस तरह बचप ब्रह्मचर्यका भङ्ग होता है, वीर्यका सत्या होता है.

हे निर्दोष अज्ञान बालकों ! तुम ने कुआचरणके फंदेमें पड गये हो कि दे मार्गपर चल कर अपने शरीरके वीर्यका किस तरह नाश करते हो इस तुम्हें कुछ भी विचार नहीं है. ऐसे दुर्व पडे हुए बालक सचमुच दयापात्र हैं. मा और बडे बुडों का इस विषय में बडा भा कर्तव्य है कि इस बातपर पूरा ध दें कि उनके बालक कैसे साथियोंकी स तिमें रहते हैं. यदि कोइ रोग आदि कारण न होने पर भी बालक कम होता जान पडे तो इसबातकी तल करना चाहिए कि बच्चेमें कुटेव तो न गइ है. तलाशी करनेपर जो कुटेव ही ज पडे तो उसके महा दुःखदायक परिणाम विचार कर फोरन बच्चेको कुटेवसे छुड की तरकीब करना चाहिए. अफसोस ! फसोस ! बेहूदा शरम इस बारेमें सत्यान करती है और भविष्यत कबतक हानि क ती रहेगी यह कहा नही जा सकता है. औसी त ही कैसे की जाय, औसे हानिकारक वि र को छोड देना चाहिए और अज्ञान शरीर सम्पत्तिके नाशक कुए में पडे हुए च्चोंका उद्धार करना चाहिए; यह बडा फरज है.

जो मावाप इस कर्तव्यका पालन करें तो वे अपने एक महत्व के कर्तव्यसे विमुख होते हैं, ऐसा कहा जायगा.

वीर्यस्राव द्वारा शरीर सम्पत्तिके नष्ट होनेका इस समय एक और भी कारण उत्पन्न हो गया है. और वह भी प्रबल कारण है वह यह है कि घृणित उपन्यास, शृंगारसे बालब भरे हुए नाटकोंका देखना आदि, सब काम वासनाको उत्तेजित करते हैं और मनुष्यके हृदयमें कामका राज्य स्थापन कर देते हैं. उस समय मनुष्यका मन आधीन नहीं रहता. इन्द्रियें मनको अपने २ विषयकी ओर ले जाती हैं. कामदेवके आधीन हुए मनुष्यका वीर्य रुक नही सकता, चाहे फिर वह किसी भी तरह निकले.

कितनेही न्यायी और विचारशील मनुष्य यद्यपि पर स्त्रीको मा, बहन, बेटीकी दृष्टिसे ही देखते हैं ऐसा होने पर भी उनमेंसे कइ एक स्वस्त्रीमें इतने लोलुप रहते हैं कि वीर्यकी होती हुइ अपार हानिका वे विचार भी नहीं करते. केवल व्यभिचारसे ही वीर्यका नाश नही होता है; वीर्यका नाश होता है हद पार विषयासक्तिसे. यह बात भूलने योग्य नहीं है.

कितनेही बच्चोंके बलका नाश बाल विवाहसे हो जाता है. जो समय वीर्यके पकनेका होता है उसी समय वीर्यका अयोग्य व्यय कर दिया जाता है. इसका परिणाम यह होता है कि वे जवानीमें ही बुढ्ढे हो जाते हैं. उनके जाबु बैठ जाते हैं. आंखोंका तेज घट जाता है. मूंह पीला पड जाता है. शरीरकी कान्ति नही रहती. शरीरके धातुओंके राजाके नाश होनेसे जठराग्नि मंद पड जाती है. खाया पिया नहीं पचता, खून साफ नही बनता और न नवीन वीर्य पैदा होता है. इस भांति अनर्थ परंपरा होती जाती है. वीर्यका मस्तिष्कके साथ बडा सम्बन्ध है. वीर्य नष्ट होनेसे ज्ञान तंतु भी निर्बल हो जाते हैं. इससे बाल विवाहके भेट चढे हुए बच्चे विद्याभ्यास भी अच्छी तरह नहीं कर सकते. विद्या और स्त्रीका दुना बोझा पडनेसे वे बिलकुल अशक्त हो जाते हैं. ऐसी स्थितिमें पडते रहनेसे वे न कौमका भला कर सकते है और न अपना. उनका जन्म ही शारीरिक दुःखमय स्थितिमें ही व्यतीत होता है. आत्मश्रेय करनेके उनके विचार हृदयके हृदयमें ही रह जाते हैं. क्यों कारणकि उन २ विचारोंका काममें लानेकी शक्ति उनमें रहनी ही नही है.

इन सब बातोंका कारण ढुंढनेको हमें दूर नही जाना है. इस अयोग्य वीर्यनाशको रोकने के उपाय क्यों नही किये जाते हैं? मा बापका दोष है या बालकोंका यह विचार करने योग्य प्रश्न है. मेरे विचारमें तो लोकलाज बेहुदा शरम और इस विषयके ज्ञानका न होना ही इस अनर्थका कारण हैं. बच्चोंको हम ऐसी बात कैसे कहे? होती हुइ रीति क्यों कर तोडी जाय? ऐसी बातका कहना तो अश्लील है! ऐसी बातें करनेसे निर्लज कहे न जायगे? ये विचार ही खराबी पैदा कर रहे है. विवाह होनेके थोडे ही दिन बाद बेटे और बहुको एक दरमें सु-

लाते हुए तो माबाप आदिको लज्जा नही आती (बल्कि अपना चातुर्य समजते हैं) और अपने बेटेकी शारीरिक सम्पत्तिका नाश न होकर रोग न बढे इसके बारेमें उपदेश देते हुए लज्जा आती है. ऐसे ज्ञान देनेकी हिम्मत वे क्यों नही करते ? पश्चिम के देश में तो ऐसी २ शालाये हैं जहां इन विषयोंपर व्याख्यान दिये जाते हैं. शरीरकी रचना संबन्धी व्यावहारिक ज्ञान दिया जाता है. परन्तु अफसोसकी बात है भारतमें इस समय बेहूदा शरम-हानिकारक लोकलज्जाने घर घाला है. साथ ही यह भी कहना पडेगा कि शारीरिक तत्त्ववेत्ता भी अब बहुत कम हैं. सामान्य लोकमत कैसाही क्यों न हो परन्तु यह बात विचार कर काममें लाने योग्य अवश्य है. ऐसी २ पुस्तकें और इस विषयका ज्ञान जितना बढे उतना ही अच्छा. नैतिक हिम्मतकी हम लोगोंमें बडी कमी है. स्वतंत्र विचार प्रकट करने वाले कहां मिलते हैं ? जबतक गडरिया प्रवाहको न छोडेंगे और " बापके खारे कुएका पानी पीना " वाले विचारका त्याग कर जिस मार्गसे उन्नति हो उसे ग्रहण न करेंगे तबतक उदय की आशाके चिन्ह बहुत दूर हैं. यह मेरा मत अयोग्य नही है. इससे ब्रह्मचर्य कैसे अच्छी तरह पालन हो सक्ता है ? किस मार्ग पर चलनेसे वीर्यकी रक्षा हो सकेगी ? वीर्य नाशका शरीर सम्पत्तिके नाशके साथ क्या सम्बन्ध है ? ऐसे २ विषयोंको भिन्न २ का के प्रतिपादन करने वाला पुस्तकोंका खूब फैलाव होना चाहिए. भारतकी शारीरिक शक्तिकी कमी के समयमें वे बडी हीतकारक होगी. सदज्ञानके फैलनेसे अवनतिके कारण दूर होंगे और प्रजाका शारीरिक बल बढेगा.

जिनका शारीरिक बल और आत्मिक बल उच्च प्रकारका होगा वे भारीभारी संकट पडने पर भी अनेक विघ्नोंके आने परभी उस पर विजय पायेंगे. संकटोपर जय पानेसे उनके बलमें वृद्धि होगी, और आगे चल कर वे और भी कठिन मार्गपर चल सकेंगे और अन्तमें अपने साध्य की सिद्धि कर सकेंगे.

छठी कुंजी-ध्यान.

सातवा प्रकरण.
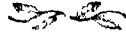
प्रथम प्रकरणमें गुरुदेवके दिये हुए उपदेशसे वाचक जनको मालुम हो गया होगा कि ध्यानका मार्ग बड़ा टेढा है. बिना किसी प्रकारका आसरा लिये बड़े भारी पर्वत पर चढजाना जितना कठिन है उससे भी कठिन ध्यानका मार्ग है. ऐसा होनेपर भी दयालु गुरुदेवने बताया था कि भूतकालमें अनेक सत्पुरुष इस मार्गको पार कर गये हैं और अब भी अनेक पुरुष इस मार्गपर चलते हैं. इस लिये इन वचनोंपर विश्वास रखनेसे आत्मशक्तिमें विशेष विश्वास जमता है और कठिन मार्गपर चलनेकी ओर अभिरुचि उत्पन्न होती है.

ध्यान मार्गका प्रथम सोपान प्रत्याहार या इंद्रियनिग्रह है. इन्द्रियां मनमाने मार्गपर जाती हों उन्हें रोक कर मनके आधीन करनेका नाम प्रत्याहार है. दुसरे शब्दोंमें कहें तो मनकी आज्ञा के अनुकुल इंद्रियां चले ऐसे चरित्रका रखनाही ध्यानका पहला सोपान है.

मनके विरुद्ध इन्द्रियां कई बार अपना बल प्रकट करती हैं. मनुष्य के ज्ञानको वे भुला देती हैं. अपने विषयकी तृप्तिके लिये मनको साधन बनाती है. मन उस समय स्वामीके बजाय दास बनता है. कठोपनिषद्में लिखा है कि " शरीर रथ है, मन सारथी है, आत्मा रथमें बैठनेवाला रथका स्वामी है. इन्द्रियां घोडे है और इन्द्रियोंके विषय मार्ग हैं."

इन्द्रियांरुपी घोडे अपनी इच्छासे चाहे जिधर न जाने पावे इस भांति मनरुपी सारथीको उन्हें अपने वशकर लेना चाहिए. [illegible] र मन चलावे उधरही जानेकी इन्द्रियोंको [illegible] प पडनी चाहिए. ऐसा करनेसे इन्द्रियां [illegible] पर जानेसे रोकेगी और चित्तको इन्द्रियोंको रोकनेका काम सुगम हो जायगा. ध्यानके अभ्यासियोंको इन्द्रियां वश करनेकी बडी भारी आवश्यकता है.

इन्द्रियोंको वशमें करनेकी एक अनुभूत प्रणाली यहांपर लिखते है. इसपर चलनेसे इन्द्रियां मनके आधीन हो जायगी और मनकी आज्ञानुसार चलेंगी. वह अनुभूत प्रणाली यह है:—

" इन्द्रियकी इच्छाके विरुद्ध किसी एक भी काम करनेका दृढ निश्चय करो. और जब कोइ इन्द्रिय प्रबल वेगमें हो अपने विषयकी तृप्तिके लिये तत्पर हो रही हो उसे पूरा करनेके लिये अत्यन्त उत्सुक हो इन्द्रियका विषय सन्मुख हो और उसके पानेमें कोइ प्रतिकूल कारण न हो और तुम उसके ग्रहण

करने के लिये तैयार हो गये हो ऐसा समय हो, उस वक्त तुम इन्द्रियको तृप्ति देनेका काम बंध रक्खो. उसे जना दो कि "तेरी अपेक्षा मैं विशेष शक्तिवाळा और सत्ताधारी हुं. और तुम्हे तेरी वासना पूर्ण न करने दूंगा" इसतरह अलग २ मौकेपर अलग २ इन्द्रियों के सम्बन्धमें महावरा डालते जाओ. ऐसा करते रहनेपर शरीर और इन्द्रियां तुम्हारी उन्नतिमें बाधा न डालेंगी. जबतक तुम्हें इसका अनुभव न होजावे कि शरीर और इन्द्रियां तुम्हारे दास है, तुम्हारे नोकर है, तुम्हारी इच्छानुकूल चलने वाले हैं तबतक उपर दिखाइ हुइ प्रणालीको काममें लाओ. मन जिस बातको धिकार दे ऐसे काम जो शरीर और इन्द्रियां तुमसे करावे तो तुम शरमाओ. मनकी आज्ञाको भूलकर इन्द्रियोंके आधीन होजाना मनुष्यत्व खोनेके बराबर है: इस विचारको हृदयमें धारण करो. जो हम पाशव वृत्तियोंको (Animal instincts) अपने बशमें न कर सकें तो पशुओंमें और हममें रत्तीभर भी अन्तर नही रहता. हम पशु तुल्य ही होजायगे. इसलिये आवश्यक है कि हम शरीर और इन्द्रियोंको वश करें.

जब मनुष्य शरीर इन्द्रियोंको बश कर लेता है तब वह सच्चे ध्यान मार्गका प्रारम्भ करता है. ध्यान मार्गका पहला सोपान इन्द्रियनिग्रह है और उसका दुसरा परन्तु वास्तवमें पहलाही सोपान मनोनिग्रह है. वह एकाग्रता और एक चित्ततासे होता है. मन इन्द्रियोंको वशमें रख सक्ता है परन्तु मनको वशमें करना बडा कठिन है. मन बन्दर है झंडी है, हाथीका कान है, पीपलका पान है, शरदृऋतुका वद्दल है. क्यों कि वह अति चंचल है. अभी इस विषयमें, क्षण भरमें दुसरे विषयमें भमता रहता है. उसे वशमें रखना सीधा और सहज नही है. उसके लिये एकाग्रता यह सर्वोत्तम साधन है. सफेद कागज पर काली बूंद लगाकर उसपर आंखको इतनी गाड देना कि वह दुखने लगे, माथा भमने लगे, सुधबुद्ध जाती रहे, यह एकाग्रता का अर्थ नही है; परन्तु एकाग्रताका अर्थ तो यह है कि मनुष्य मनपर अपना ऐसा अधिकार करले कि उससे जो चाहे करावे जिस बात स्थिर करना चाहे कर ले और जीतने समय तक चाहे वहां रोक रक्खे. इन्द्रियोंके निग्रहका नाम दम है और मनोनिग्रहका शम. दमसे शम विशेष कठिन है परन्तु वह न हो सकने जैसा नही है. जिनकी इच्छाशक्ति (Will-power) खूब प्रबल और अचलथी ऐसे बहुतसे महापुरुष मनको वश करने वाले पहले समयमें हो गये हैं और इस समयमें भी कहीं कहीं ऐसे महापुरुष मिलते हैं.

अस्थिर मनका निग्रह करना कितना मुश्कील है इस बातका बहुतसे मनुष्यको विचार भी नही है. जब तुम रस्तेमें चल रहे हो या गाडीमें बैठ कर हवा खोरीको जा रहे हो तब तुम अपनी विचार परम्पराको एकाएक रोक दो और निश्चय करो कि तुम क्या विचार कर रहेथे और क्यों कर रहे थे. इस

{ने पर ज्ञात होगा कि पांच मिनीट के दर एकके बाद एक करके तुम्हारे दमा- ां कितने विचार आये. और तुम्हे यह भी लूम होगा कि ये विचार तुम्हारे निजके ी थे परन्तु और मनुष्योंके छोडे हुओ विचा- की आकृतियां (Thought-Forms) ,जो तुम्हारे निरङ्कुश मनमें घुस गइ थीं.

जो हम किसी भी प्रकारकी उच्च श- को जागृत करनेकी इच्छा रखते हों तो से पहले हमे अपने मनको वशमें करनेकी वश्यकता है. मनको उसकी इच्छानुकूल रने देनेकी अपेक्षा उससे कुछ काम देना च्छा है.

जो हम मनको किसी काममें न लगावे दुसरोंके अनिष्ट विचार उसमें घुस जा- , जिनका घुसना बुरा हैं. ध्यान मार्गमें श करनेके पहले हमें अपने मनको अपना कर बना लेना चाहिए. क्योंकि उच्च शमें काम करनेके लिये चैतन्यका मन ा प्रबल साधन है.

सामान्य मनुष्यके लिये मनको वश क- का काम कठिनसे कठिन है. क्योंकि म- ो वश करनेकी न तो उन्हे आदत हूइ है र न इसकी आवश्यकता ही उन्हे जान ी है. जैसे तुम्हारा मन तुम्हारे आधीन ी है वैसेही तुम्हारा हाथ तुम्हारे आधीन ो. तुम्ह कुछ और कराना चाहो और कुछ और करेतो कैसी बीते ? तुमको मा- म होगाकि यह हाथ किसी कामका नही तुम्हे मालूम होगा कि इसे लकवा हो गया. ऐसेही जो तुम अपने मनको वशमें न कर सको तो वह मानसिक लकवा कहा जा- यगा. इस लिये मनको एकाग्र और वश करनेका अभ्यास करना चाहिए, जिससे तुम उससे जो चाहो काम ले सको.

मनकी अस्थिरता और उसे स्थिर कर- नेकी–वश करनेकी कठिनाइ हमेंही मालूम नही होती, हजारों वर्ष पहले अर्जुनको भी अैसी ही कठिनता जान पडीथी. उसने कहाथा किः—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन
तस्याहं न प्रपश्यामि चंचलत्वात् स्थितिं स्थिराम्
चंचलंहि मनः कृष्ण, प्रमाथि बलवद् दृढम्
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्

हे मधुसूदन ! साम्य भावसे सिद्ध होने- वाला जो योग आपने कहा उसकी स्थिर स्थितिको मै अच्छी तरह नही समझ सका; क्योंकि मन चंचल है, शरीर और इन्द्रियोंमें क्षोभ पैदा करदेने वाला है, बलवान है, दृढ है, वायुके वेगको रोकनेकी भांति इसका रोकना भी बडा क- ठिन है. इस प्रश्नके उत्तरमें मनको वश कर- नेका उपाय श्रीमद्‌भगवद्गीतामें यों लि- खा है कि:—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलं
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः

हे महाबाहू अर्जुन ! मनका वश करना कठिन है; मन चंचल है. परन्तु हे कुन्तीके

पुत्र ! अभ्यास और वैराग्यसे वह वश हो सकता है. जिसने अपनी आत्माको वश नही किया है ऐसे पुरुषोंके लिये योग-मनका निरोध का होना बहुत कठिन है, यह मेरा विचार है. परन्तु जिनकी आत्मा वशमें है और जो योगके लिये यत्न करते हैं वे पुरुष उपाय करनेसे योगको पा सकते हैं.

योग दर्शन प्रणेता महर्षि पतंजलिने भी मनको वश करनेके वही दो उपाय बतलाये हैं " अभ्यास वैराग्याभ्यांतन्निरोधः " अभ्यास और वैराग्यसे उनका- चित्त वृत्तियोंका निरोध होता है-योग होता है-मन वश होता है.

मनको वश करनेका और एकाग्र करनेका अभ्यास करनेकी बडी आवश्यकता है. तुम अपने सांसारिक व्यवहार के प्रत्येक काममें मनको एकाग्र करनेकी आदत डाल सकतेहो. तुम कोइ भी काम क्यों न करते हो वह फिर चाहे छोटा हो या बडा जल्दीका हो या देरका उसीमें मनको लगाकर करो. जो तुम चिट्ठी लिखो तो मन तल्लीन कर दो. जबतक वह पत्र पुरा न होजाय मनको स्थिर रक्खो. ऐसा करनेसे तुम अच्छी चिट्ठी लिख पाओगे. स्नान करते समय तुम ऐसे विचार करो कि बाह्य मलके साथ ही आन्तरिक मल भी दूर होजावें. आहार करते समय तुम ऐसी भावना करो कि यह अन्न पच जाय इससे मेरा शरीर दृढ हो और जितेन्द्रियता आवे और मेरा शरीर मेरी उच्च भावना के अनुकुल काम करनेमें समर्थ हो इत्यादि " इस तरह प्रत्येक कार्यमें मनको एकाग्र करनेसे जिस बातपर हम मनको लगाना चाह[ें] उसके सिवाय और विचारोंको रोकनेसे २ मन वश होजाता है.

मनको वश करनेकी दूसरी रीति वैराग्य[.] वैराग्यका विशेष वर्णन हम पांचवे प्रकरणमें [क]रगये हैं इस वास्ते यहांपर विशेष न लिख[कर] इतनाही लिखते हैं कि संसारकी क्षणिक [और] अनित्य वस्तुओंपर वैराग्य आनेसे मन उ[स] ओर आकर्षित नही होता. कुछ वस्तु [शरीर] और कुटुम्बके निर्वाह के लिये चाहिए उन्हें [पा]नेका मात्र मनुष्य यत्न करताहै, परन्तु उनके मिलनेपर सन्तोष वृत्ति धारण करता है. [बाह्य] व्यापारसे स्वतन्त्र होकर उसका मन अन्त[रा]त्माकी ओर झुकता है. बाह्यपदार्थ उसे अ[च्छे] नही लगते. वैराग्य के रंगमे रंगे हुए र[ं]... मनको वश करना बडा सुगम है. वह अ[पने] आप आत्माकी ताबेदारी कर उसकी आ[ज्ञाके] अनुकुल चलता है.

प्रत्येक मनुष्य मनको वश करनेकी [श]क्ति रखता है. परंतु उसे केवल इस बा[तका] विश्वास नही हुआ होता कि मुझमें यह [श]क्ति है. इस बारेमें यहांपर एक सच्चा [दृष्टा]न्त देते है.

एक समय अयोध्याके राजाने आ[पनी] राजसभामें कहा कि अपने शहर के उत्त[र] दरवाजे बहार एक महात्मा आये हुए [हैं] वे वहां बडके नीचे ठहरे हैं. वे इतने ध्या[नमें] लवलीन रहते है कि उन्हे हमारे तमाम [ल]श्कर के निकल जानेकी भी खबर न [हो]. इसबात पर चार दरबारी मुस्करा ऊठे. उ[न्हें] यह बात असत्य जान पडी. राजाने [उस] समय तो उन्हें कुछ न कहा परन्तु इस बा[त]

को सिद्ध कर दिखानेको एक मनमाने मार्ग को मनही मनमें स्थिर किया. बाद सभा विसर्जन हुइ.

एक रोज राजाने गुप्त रीतिसे उन दर्बारियोंके घरमें बडे कीमती जडाउ जेवर रखवा दिये और दुसरे दिन जाहिर किया कि सरकारी खजानेमें चोरी हो गइ है; जिसने चोरी कि हो माल लेकर हाजीर हो जाय और माफी मांगे. जो ऐसा नहीं करेगा और तलाशी लेने पर चोरी पकडी जायगी और तहकीकात से चोर साबित होगा तो उसे फांसी दी जायगी.

उन दरबारियोंको क्या खबर थी कि माल उनके यहां है ? उन्होंने अपने घरको देखा ही नहि. थोडी देरके बाद जब कोइ नहीं आया तब राजाने हुकुम दिया कि सब लोगोंकी तलाशी ली जाय और जिसके घरमें माल मिले वही बांध कर मेरे साम्हने लाया जावे. सिपाही सब घरोंमें तलाशी लेते हुए उन दरबारीयोंके घर आ पहुंचे. उनके घरोंकी तलाशीमें वे जेवर निकल आये. राजाकी आज्ञाके अनुकूल उनको बांध कर सिपाही उन्हे राजाके पास ले गये. ढिंढोरेके मुजिब उन्हें फांसीका हुकम दिया गया. परन्तु जब उन्होंने दयाकी भीख मांगी और अपनी इस चोरिके विषयमें सर्वथा अज्ञानता बतलाइ तब राजाने दया दिखलाने के तोर पर कहा कि जो तुम एक शर्त करो तो तुम्हें फांसीसे माफी दी जा सकती है; और वह शर्त यह है कि पानीसे लबालब भरे हुए ग्लासको लेकर तुम सारे शहरमें फिरो और ग्लासमेंसे एक बुंद भी पानी न गिरने पावे. जो पानीकी बुंद भी गिर गइ तो वहां पर साथ चला हुआ सिपाही तलवारसे सिर उडा देगा. जीव किसको प्यारा नहीं होता? मौतसे कौन बचना नही चाहता ? जैसे बने वैसे प्राण बचाने इस विचारसे उन्होंने इस शर्तको भी मंजूर कर लिया. चार ग्लास मंगवाये गये. चारोंको लबालब भर चारों दरबारियोंको दिया. उन्हें लेकर नगरमें डरते हुए चले. इधर गुप्त रीतिसें शहर वालोंको हुकुम दिया गया था कि आज शहरमें खूब आनन्द मनाया जावे. इससे सारे शहरमें कहीं गाना कहीं बजाना कहीं क्या कहीं क्या खूब रागरंग नाच तमाशे हो रहे थे. दुनियां तमाम आनन्दमें मग्न थी ऐसे समय सारे शहरमें घूम कर वे चारों सहीसलामत वापस आये. राजाने उन्हे आदरसे अपने पास बिठाया और कहा कि तुम्हें रास्तेमें कौन२ मिला और क्या क्या तमाशे देखे इसका विस्तृत वृत्तान्त कहो. चारोंने कहा कि हमने तो इस ग्लासके सिवाय और कुछ भी नहि देखा. हमें रास्तेमें कोइ नहि मिला और न कोइ खेल तमाशा दिखाइ दिया. हम तो इन ग्लासोंसे बुंद भी न गिरे केवल इसी विचार में मग्न थे और कुछ भी नही जानते. तब राजाने कहाः—

सज्जनो ! इस परसे आप समज सके होगे की जिस विषयमें मनुष्यको रस—आनंद होता है उसपर चित्तकी एकाग्रता की जा सकती है. यहांपर मरण के भयसें वे चित्तकी एकाग्रता कर सके थे. जब मरणका भय मनको एकाग्र कर सक्ता है तब आ-

त्मदर्शन के प्रेमसे मन एकाग्र क्यों नही हो सक्ता ? जो विषय नीरस हो उसपर भी आत्मशक्तिसे मनको स्थिर किया जा सक्ता है क्यों कि मन जैसे इन्द्रियोंका स्वामी है मनका स्वामी आत्मा है.

इस तरह मनको एकाग्र करनेकी आदत होने से मनुष्य ऐसा हो जाता है कि वह जिस वातपर चाहे मन को रोक सक्ता है और जितनी देर चाहे रोक सक्ता है. ऐसाही मनुष्य ध्यान करने योग्य होता है. ध्यानका लक्षण महर्षि पतंजलिने लिखा है:-

'तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्' किसी भी वस्तुके साथ तल्लीन होजानेको ध्यान कहते हैं. मनकी एकाग्रतासेभीध्यान कठिन मार्ग है. कारण कि जिसका ध्यान करते हों उसके साथ एकता न हो जाने और उसका ज्ञान प्राप्त करनेका नाम ध्यान है. इस ज्ञान के पानेमें वशीभूत मनको साधन-करण की तोर पर काममें लिया जाता है. यह काम कठिनसे कठिन होनेपर भी होने योग्य है. इसे भूतकालके अनेक पुरूषोंने किया है और वर्तमान कालके मनुष्य भी कर सकते हैं. अतएव कोइ कारण नहीं है कि तुम न कर सको. जब तुम्हारा मन वश हो जाय तब ध्यान मार्गमें लगो. जिस समय तुम्हें किसि प्रकारका उपद्रव न हो ऐसा समय पसन्द करो और हो सके तो प्रात:कालका समय पसन्द करो. इस समय अफसोस है कि बहुतसे मनुष्य ऐसी आलसी हो गये हैं कि कइ घडी दिन चढे तक पडे रहते हैं और सूर्यास्त होनेके बाद कृत्रिम रोशनीमें पढा लिखा करते हैं, जिससे उनकी आंखें खराब होकर चस्मा लगने की मोहताज हो जाती है. जो प्रात:कालका समय किसी कारणसे अनुकूल न हो तो कोइ दुसरा समय पसन्द करो. उसी समय प्रतिदिन ध्यान करो नियम पूर्वक ध्यान किये सिवाय एक रोज भी खाली न जानेदो. जो तुम शरीर सु धारनेके लिये किसी भांतिकी कसरत करते हो, एक दिन खू कसरत करना और आठ दिन तक बिलकुल न करना ठीक नही होगा. इससे ऐसा करना चाहिए कि चाहे तुम कितनी क कसरत करें परन्तु करें रोज; ऐसा करनेसे शरीरको लाभ होगा. वही हाल ध्यानका इसमें भी नियमितपना होना चाहिए. समय पसन्द करनेके सिवाय तुम ऐसा स्थान भी पसन्द करो जहांपर तुम्हे किसी प्रकारका विघ्न या उपद्रव न हो या कोइ तुम्हारे काममें विक्षेप न डाल सके. वहां स्वस्थ चित्त बैठो और ध्यानके लिये कोइ एक गंभीर विषयको चुन लो. फिर इस पर अपने वषीभूत मनको लगा दो. तुम्हे उस विषयमेंसे ऐसा ज्ञान प्राप्त होगा कि जिसका अनुभव तुम्हें कभी न हुआ था. ज्ञाता और ज्ञेयका सम्बन्ध होनेसे ज्ञान उत्पन्न हो यह स्वाभाविक बात है. इस संसारमें ध्यान करने योग्य विषयोंकी कुछ कमी नही है जो तुम्हें अच्छा लगे तो जैन धर्ममें प्रतिपादन की हुइ चार या बारह भावना, दश विध यति धर्म, शुक्ल ध्यान और धर्मध्यान के चारों विभागोंका ध्यान करो. जो तुम्हारी रुचि हो तो बुद्ध धर्ममें प्रतिपादन किये हु

तीन. रत्न और दश शीलका ध्यान करो. जो तुम्हारा भाव हो वैष्णव धर्मकी श्रीमद्भगवद्गीताके सोलवे अध्यायपर विचार कर उसमें बतलाये हुए दैवी सम्पत् के गुणोंमेंसे एक एकको लेकर उनपर ध्यान करो. वे गुण ये हैं:—

अभयं सत्त्वसंशुद्धि : ज्ञान योग व्यवस्थिति:।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यास्तप आर्जवम् ॥१॥
अहिंसासत्यमक्रोधस्त्याग : शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं हीरचापलम् ॥२॥
तेज: क्षमा धृति: शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवंति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

हे अर्जुन! दैवी सम्पदवाले मनुश्यमें ये गुण होते हैं:–अभय, शुद्ध अन्त:करण, ज्ञान योगमें स्थिति, दान, दम, (मानसिक) यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग-दान, शान्ति, अकौटिल्य, प्राणीमात्र पर दया, लोलुपताका नाश, नम्रता, विनय, मर्यादा, स्थिरता, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, अद्रोह, निरभिमानता, इनकी भावना या सदगुणोंमेंसे एकाधकी भावना या किसी एक गुणको लेकर अपने अनुकूल पडे उस रीतिसे भावना कर ध्यान करना चाहिए. ध्यान मार्गको न जाननेवाले परन्तु जिज्ञासुओंको ध्यान करनेकी एक दो रीतिके जणानेसे अति लाभ होगा इस विचार से यहां पर हम जणाना चाहते हैं.

अमुक गुणकी क्या आवश्यकता है? कुदरतमें वह कैसे पैदा हुआ? महापुरुषोंने कैसे उसे अपने चारित्रमें प्रकट किया? हम उसे कैसे अपने जिवन के व्यवहारमें काममें ला सकते हैं? भूतकालमें उस सद्गुणके व्यवहार करनेमें क्या क्या विघ्न उपस्थित हुए थे और वे दूर कैसे किये जा सके थे? इसपर विचार करनेसे तुम्हे उस सद्गुणका कुछ विचार आवेगा. तुम्हारी मानसिक शिक्षा बढेगी और उसमें अच्छे २ विचार आवेंगे और भी नये २ उत्तम विचार पैदा होंगे. मनुष्यके चारित्रका आधार उसके अच्छे और बुरे विचारोंपर है. शुभ विचारोंके आनेसे मनुष्यका चारित्र (Character) भी उत्तम होगा. जैसे जोरसे चलता हुआ चक्र उसपर आइ हुइ वस्तुको फौरन फैंक देता है वैसेही शुभ विचारोंके बलसे चलता हुआ मानसिक चक्र अशुभ विचारोंको स्वयमेव दूर फैंक देगा. प्रेमपर ध्यान करनेसे पहले प्रेमपात्र पर ध्यान करना सीखो.

जब तुम ध्यान करनेमें समर्थ हो जाओ तुम अपने मनको ध्यानमें अच्छी तरह लगा सको कोइ भी अनिष्ट विचार तुम अपनी इच्छाके विरूद्ध ध्यानके समय अपने मनमें न आने दो तब तुम ध्यानसे भी उत्तम दर्जेके योग्य बनोगे. यह दर्जा समाधिका है. जब मनपर पूर्ण अधिकार हो जाता है तभी समाधिमें सफलता होती है. अन्यथा समाधिलाभकी आशा व्यर्थ है.

ध्यान करते समय तुम्हे जान पडेगा कि तुम्हारे विचार किसी और ही प्रणालीमें खिंचे जाते हैं. बहुत दूर जाने बाद तुम इस बातको जान पाते हो और चमका उठते हो; परन्तु इससे तुम्हे घबराना न चाहिए.

कारण कि ध्यान मार्गके हरेक अभ्यासीको ऐसाही अनुभव होता है. तुम्हारे भटकते हुए मनको खास विषयपर लगानेका काम सो बार करना पडे, हजार बार करना पडे परन्तु इससे जरा भी हिम्मत न हारो और न अभ्यास छोडो. कारण कि मनका स्वामी आत्मा अनन्त शक्तिवाला है और मनको अपनी इच्छानुसार अपने सामर्थ्यसे चला सकता है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है.

जब तुम मनोनिग्रह कर सको और अपनी इच्छाके अनुसार ध्यानमें लगा सको तब समझो कि हमने आपने साध्य बिन्दुके पानेका योग्य साधन पाया है. मनोनिग्रह और ध्यान भी कुछ कम लाभ नही है तो भी ये समाधि लाभ के साधन ही है इस बातको भूल न जाना चाहिये.

अब किसी सद्गुणका ध्यान करनेके बजाय सब सद्गुणोंके केन्द्रस्थानरुप उच्चमेंउच्च पुरुषका आलम्बन ग्रहण करो. तुम कोइ भी नाम क्यों न लो उससे उसके स्वरुपमें कुछ भी भेद नही पडता. बुद्ध धर्मानुयायी बुद्धका चिन्तवन करें, सनातन धर्मानुयायी श्री कृष्ण राम या शिवका चिन्तवन करें, जैन चोइस तीर्थकरोंमेंसे किसी एकका ध्यान करे या महाविदेह क्षेत्रमें बिचरते हुए सीमन्धर स्वामीका ध्यान करे, किसी उच्च पुरुषको लीजिए परन्तु तुम्हारा मन उच्चसे उच्च रखिये.

जो पूज्य भाव, प्रेम और भक्ति तुम बता सको वह तुममें जिससे उत्पन्न हो शकती हो ऐसेही एकाध महात्मा पर… करो. पहले जो तुम सद्गुण पर … अब तुम अपनी उच्चभावनासे उस महापुरुषकी उत्तमसे उत्तम जैसी मानसिक तसवीर बना सकते हो बनाओ. इस सर्वोच्च परमात्मा की ओर अपनी भक्तिका प्रवाह बहने दो. तुम्हारी सारी शक्तिसे उस उच्च स्वरुपका अनुभव करनेका यत्न करो. उसके साथ अपनेको एक करनेका यत्न करो और उसका आनन्द और ज्ञानका अनुभव करनेमें प्रवृत्त हो. ऐसे निरन्तर करने रहनेपर तुम्हें उच्च जीवनका अनुभव होगा. अर्थात् समाधिकी एकाग्रतामें तुम अपनेको इस स्थूल शरीरसे निकला हुआ जान पाओगे. जब तुम अपनेको शरीरसे निकला हुआ पहले ही देखोगे तब तुम्हे मालूम होगा कि यह शरीर एक साधन मात्र है और देहाध्यास छूट जायगा. दुनियाका स्वरुप ही और का और देख पडेगा.

सच्चा जीवन क्या है इसका तुम्हे पहले पहल तभी अनुभव होगा. न भूख है न न प्यास है न थकावट आदि हैं ऐसे सूक्ष्म शरीरमें प्रवेश होनेसे जो आनन्द और सन्तोष तुम्हें होगा उसके साम्हने दुनियाका कोइ भी सुख कुछ नही है. परन्तु यह उच्च स्थिति बहुत समय तक नही रहती. फिर अन्धकार तुम्हारी आंखोंके साम्हने आ जायगा. तथापि दुनियाका स्वरूप पलटा हुआ रहेगा. इस समय दुनिया बहुत ही कम आकर्षण कर सकेगी. व जो तुम समाधि के लिये निरंतर यत्न करते रहोगे तो फिर

ानुभव कर सकोगे. इस
ॄश्य... और भी ज्यादा देर तक ठहर
...ा. ऐसे करते करते ऐसा समय आवे-
ा कि जब जागृत और निद्रा स्थितिके बी-
का पड़दा बिल्कुल अदृश्य हो जायगा और
ुम्हें अनुभव होगा कि-

ा निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी
ास्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः

सब प्राणियोंकी जो रात है उसमें संयमी
ानुष्य जगता है और जिसमें प्राणीमात्र ज-
ाते हैं वह देखते हुए मुनिके लिये रात है.
ुम सोते और जगते, रातमें और दिनमें स-
ानभावसे ज्ञान रख सकोगे. तुम रात और
ेन परोपकारके शुभ कामोंको कर सकोगे.
तना होने पर भी–यह उत्तम स्थिति भी हमारा
ाध्य बिन्दु नही है. यह तो निर्वाणसागर
ी एक बूंदके बराबर है. तोभी इस स्थि-
ीमें बहुत कुछ ज्ञान मिलेगा. तुम्हने जिसका
ानुभव नही कियाथा ऐसा बहुत कुछ अनु-
ाव प्राप्त होगा.

जो तुम निरंतर यत्न करते रहोगे और
ाुद्ध जीवन व्यतीत करोगे और जोजो ज्ञान
ाार शक्तियां मिले उन्हें परोपकारमें व्यतीत
ार सदुपयोग करते रहोगे तो इस स्वप्नाव-
थामें भी जो उच्च स्थिति सुषुप्ति अवस्था
तुम उसका अनुभव कर सकोगे और क्रमशः
ीयावस्था-निर्वाण दशा-मुक्ति भी पा सकोगे.

तुम कहोगे कि इन सबको पानेमें बहुत वर्ष लगेंगे. हम भी स्वीकार करते हैं कि बहुत वर्ष लगेंगे. कारण कि जिस स्थितिको प्राप्त करनेमें अनेक जन्म व्यतीत हो उसे पानेको तुम बड़े आतुर हो रहो; परन्तु इसमें कोइ सन्देह नही कि तुम इस बारेमें अपना जितना समय लगाओ, अपनी जितनी शक्ति खर्च करो उसका सदुपयोग ही होगा. कौन मनुष्य ऐसी स्थिति कितने जन्ममें पा सकेगा यह कोइ नही कह सकता. इस बातका आधार दो बातोंपर है. अव्वल उसमें आत्मबल कितना है और दूसरे उसके कर्म कितने रहे हैं. तुम इतने वर्षमें स्वप्नावस्था में पहुंच जाओगे ये भी नही कहा जा सकता. हां इतना कह सकते हैं कि तुम्हारे पूर्व पुरुषोंने इस बातका यत्न किया था और वे सफल मनोरथ भी हुए थे. सब महात्मा पहले तुम्हारे जैसे ही सामान्य मनुष्य ही और थे जैसे वे इस दर्जेको पहुंच सके वैसे ही तुम भी पहुंच सकते हैं. कितने ही शीघ्रतासे पहुंच सकते हैं तो कितने ही धीरतासे पहुंचते हैं; यह राजमार्ग सब समय सबके लिये खुला हुआ है क्योंकि ये दशायें आत्माकी ऋद्धियां हैं, आत्मा नित्य होनेसे उसकी ऋद्धियां भी नित्य हैं; परन्तु वर्णन किये हुए उच्चपद को पाने के लिये सबसे पहले इन्द्रियनिग्रह करना चाहिये.

आठवां प्रकरण.

सातवी कुंजी—प्रज्ञा (ज्ञान.)

इस प्रकरणमें हम अखीरी—सातवी कुंजी—प्रज्ञाका विचार करेंगे. सब कुंजियोंका आधार और सब कुंजियोंकी साध्य बिन्दु यह ज्ञानकी कुंजी है. हम जो कुछ यत्न करते हैं उनका उद्देश देखें तो यह जान पडेगा कि हम सुख चाहते हैं. प्रत्येक मनुष्य सुखके लियेही प्रयत्न करता है. परन्तु उसे इस बातका ज्ञान नहीं होता कि सुख मिलेगा कहांसे? इसीसे वह जुदी २ वस्तुयें पानेको लगा रहता है. परन्तु इस वस्तुको पाया कि उस वस्तुके पानेको लगता है. पहली वस्तुका मोह दूर होता है; जिसे वह सुखकारक जानता था वह सुखकारक नहीं मालूम होती. उसे उसमें दुःख देख पडता है. इसीसे वह दूसरी वस्तुकी ओर लपकता है. जबतक आत्मज्ञान न हो तबतक सुखको हेरता फिरता है. सच्चा सुख—सच्चा आनंद आत्मामेंही है. यह बात सच्च है कि जगतके पदार्थ भी सुख दे सकते हैं परन्तु वह सुख क्षणिक है; क्योंकि एक प्रकारके सुख मिलनेपर दूसरे प्रकारका सुख पानेकी इच्छा होती है. इसलिये शाश्वत सुख पानेकी इच्छा रखनेवालेको आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए. आत्मज्ञान पाने पर कुछ पानेको शेष नहीं रहता. वही सुखकी सीमा है. आत्मा परमानन्दमय है, ज्ञानमय है. वह अपना स्वभाव प्रकट करती है. वह ज्ञाताके रूपसे प्रकट होती है और परमानन्द भोगती है. आत्मज्ञान होनेसे सब प्रकारके ज्ञेय मालूम हो जाते हैं. सांख्य तत्ववेत्ताओंने इसीसे कहा है कि:

"सर्वं पश्यतु मा वा तत्त्वमिष्टंतु पश्यतु" सब वस्तुओंको जानो या मत जानो परन्तु इष्ट तत्त्व—आत्माको अवश्य जानो. इस बातको मनोहृदयमें लिख रखी हो इस भांति एक ग्रिसके विद्वानने भी कहा हैः " Know thyself " " तुम आत्मज्ञानी हो जाओ. जैनाचार्योंने भी ऐसा ही कहा हैः " एगं जाणइ सो सव्वं जाणइ ' जो एकको—आत्माको यथार्थ रीतीसें जानता है वह सबको जानता है क्यों कि आत्मामें सब वस्तुका प्रतिबिम्ब पडता है. " पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय" नाम ग्रंथके मंगला चरणमें लिखा हैः

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तै रनन्तपर्यायैः
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थ
मालिका यत्र ॥ १ ॥

दर्पणके तुल्य जिसमें सब पदार्थ मालिका प्रतिबिम्बित होती है वह परम ज्योति सदा जयवंत हो ! जिसने यथार्थ रीतिसे आत्माको जाना उसने सब जान लिया.

ांकि आत्मामें सबका प्रतिबिम्ब पडता है.

विवेक चूडामणि ग्रन्थमें महात्मा शंक-
चार्यजीने लिखा है:—

दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम् ॥
ः प्रयत्नात्ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञात्तत्त्वमात्मनः ॥

शब्दजालरूपी महारण्य चित्तको भमाने
ला है. इस लिये तत्त्वज्ञानीके पास यत्न-
क आत्मतत्त्व जानना चाहिए.

इस वचनोंसे जान पडता है कि हरेकने
त्येक महात्माने आत्मज्ञानका उपदेश किया
वही साध्य बिन्दु है; वही उत्कृष्ट पद है;
प्राप्तव्य है; वही सब सुखोंकी चरम
ा है. इस लिये आत्मज्ञान प्राप्त कर-
यही उत्तम मार्ग है. मुणुकोपनिषद्में
ला है:–

द्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
यन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

जब परमात्मतत्त्वका ज्ञान होता है
हृदयकी गांठ खुल जाती है. सब संशय
हो जाते हैं और सब कर्मोका नाश हो
ा है. अब उस आत्मज्ञान होनेके साधन
विचार करते हैं. आत्मज्ञानका विचार
नेके पहले इस बात पर विचार करनेकी
श्यक्ता है कि, एकाएक आत्मज्ञान होने
यत्न नहीं किया जा सक्ता. पहले तो
य संसारके प्रत्येक पदार्थका ज्ञान होने-
उद्योग करता है. विज्ञानवेत्ताकी भांति
वह प्रकृतिको देखता है, प्रयोग करता
तीर भांति २ का ज्ञान इकट्ठा करता है.
संसारमें इतना जियादा जानना है
जो मनुष्य जिंदगीभर उद्योग करे तो
विश्वके अनन्त भागमेंसे एक भागका भी
ज्ञान नहीं पा सक्ता. वृक्षके पत्तेके ज्ञानका
अभ्यास करनेमें भी मन थक जाता है और
प्रयास रुक जाता है; परन्तु जो वृक्षके मूलका
ज्ञान पानेकी कोशिश करे तो जल्द उसका
ज्ञान हो जायगा. मनुष्य मिट्टीके एवज घडे
का और सोनेकी एवज उसके विविध भूष-
णोंका अभ्यास आरम्भ कर देता है.
इससे वह उनका पार नहीं पाता और अ-
न्तमें थक जाता है. बडे २ विज्ञानी एक बा-
तका भी पूर्ण ज्ञान नहीं कर सकते तो फिर
सब बातोंका जानना तो बहुत दूर है.

तब क्या सर्वज्ञ होना असम्भव है ?
तब क्या कोइ मनुष्य सर्वज्ञानी हो ही नहीं
सक्ता ? विज्ञान (Science) की प्रणालीसे
तो सर्वज्ञ होना असम्भव है; क्यों कि प्रकृ-
ति के रूप (Matter) इतने जियादा है कि
मनुष्य अपनी जिंदगी में उनका अभ्यास कर
ही नहीं सकता. यद्यपि विज्ञान वेत्ताओं (Sci-
entists) के सूक्ष्मदर्शक यन्त्र और दूरबीन
आदि अनेक साधन हैं तो भी सम्पूर्ण ज्ञान
होना असम्भव है. इससे यह मतलब नहीं है
कि विज्ञानवेत्ताओंकी जांच पडताल व्यर्थ
है. विज्ञानकी जांच पडताल करनेमें मनुष्यमें
धैर्य, उद्योग, परीक्षण, सत्यशोधकतादि सद्-
गुण विकसित होते हैं, उनका मूल्य नहीं
किया जा सक्ता. इन गुणोंकी आत्मज्ञानाभि-
लाषियों को भी आवश्यक्ता है. परन्तु सर्वज्ञ
होनेका एक मार्ग और भी है, जो आर्याव-
र्तमें पहेलेसे ही प्रचलित है. उसमें बाह्य साध-
नकी कुछ भी आवश्यक्ता नहीं है. ज्ञान पाने

को न कहीं दूर जाना है और न पुस्तकोंकी आवश्यक्ता है. मुसाफरी भी करना नहीं है और न इन्द्रियोंकी आवश्यक्ता है. हां, उसके लिये हमें अन्तरात्माकी ओर झुकना पडता है. वहां ज्ञान सूर्य अपने तेजस्वी रूपसे प्रकाशित हो रहा है और उसके प्रकाशमें सर्व वस्तुयें अपने गुण और पर्याय सहित, अपने आप जानी जाती हैं. इस सूर्यका प्रतिबिम्ब स्वच्छ और शान्त मन-सरोवर पर गिरता है. इससे सिद्ध होता है कि आत्मज्ञान होनेके लिये चित्तकी शान्तता पवित्रता और मनःसंयम की आवश्यक्ता है. इन गुणोंके लिये हमें कहीं इधर उधर नहीं जाना है. क्यों कि जिनको आत्मदर्शन हुआ था ऐसे परोपकारी पुरुष लोककल्याण के लिये मार्ग बतला गये हैं. उस मार्गका पहला सोपान 'विवेक' है. उस विवेक को जैन शास्त्रोंमें 'सम्यक्त्व' के नामसे कहा गया है. वस्तुके यथार्थ रूपका नाम 'सम्यक्त्व' है. बुद्ध धर्मानुयायी इस बातको 'मनोद्वारा वर्जन' कहते हैं अर्थात् जब मनके द्वार खुल जाते हैं तब नित्य और अनित्य वस्तुका भेद अपने आप जाननेमें आ जाता है.

जब यह विवेक गुण ठीक तोर पर विकसित हो जाता है तब नित्य और अनित्य वस्तुका भेद मालूम हो जाता है और अनित्य-क्षणिक वस्तु पर वैराग्य उत्पन्न हो जाता है. जैन धर्म कहता है कि, ज्ञानका फल वैराग्य है. नित्यात्माकी प्रीति होने पर अनित्य वस्तुओं पर विराग उत्पन्न हो यह स्वाभाविक बात है. इसीने ऐसे मनुष्यको अनित्य वस्तुओं के लाभसे हर्ष नहीं होता और न मिलने से क्लेश भी नहीं होता. वह ... है कि क्षणिक वस्तु के मिलनेसे क्या प्र... होना ? और न मिलनेसे शोक किस बातका...

जब ऐसा हो जाता है तो मनुष्य वै...ग्य वृत्ति धारण करलेता है. उसे क्षणिक वस्...ओं के लिये राग-द्वेषमें नहीं पडना पड...उससे ये रागद्वेष दूर हो जाते हैं. उस...मन पर पूर्ण अधिकार होता है. उसकी मा...सिक शक्तिका कभी भंग नहीं होता. ...अच्छीभांति आत्मसंयम कर सकता है; क्...कि बाह्य वस्तुओं पर उसका मनही नहीं दौड...

मनःसंयमसे इन्द्रिय संयम होता है. इ...यों रूपी घोडेको रोकनेमें मन रुप सारथी ...इन्द्रियां मनकी गुलाम है. जिसकी इंद्रियां व...में हो उसका मन कदाचित् वश न भी... परन्तु जिसके वशमें मन है उसके वशमें इन्...यां अवश्य हैं, इसमें कुछ संदेह नहीं. ...कर्मेन्द्रियोंको रोक कर मनसे विषयोंका स्...रण करता है उसे श्रीमद् भगवद् गीत... मिथ्याचारी कहा गया है, यह बिल्कुल ठ...है; क्यों कि जब तक मन विरक्त न हुआ ... तब तक बाह्य विरक्तिसे कुछ नहीं हो... विषयोंको स्मरण करने वाला मन स... पाकर विषयोंमें लिप्त हो जाय तो कोइ अ...रज नहीं है. इस वास्ते मनोनिग्रह क... चाहिए. मनोनिग्रहसे इन्द्रियनिग्रह तुरंत ... जाता है.

मनकी शान्ति रखनेवाले पुरुषोंको ... सिद्धांत सदा स्मरण रखना चाहिए: ... सुख-दुःख आ कर पडे तब उन्हें समभा...

…लना चाहिये. उन सुख-दुःखका निमित्त …रण चाहे कोइ भी क्यों न हो परन्तु …का 'उपादान कारण' तो वह स्वयं …हमारी वर्तमान स्थिति, हमारे पूर्व …मके कार्य, विचार और वृत्तियोंका …णाम है. हमारा भविष्य सुखा… …और उसे उन्नत बनाना यह हमारी …ा पर निर्भर है. यह सब होने पर भी … जन्मके किये हुए कार्यके परिणाममें … सुख दुःख हम पर आ पडते हैं उन्हें स…शीलतासे सहन करनेमें ही हमारा भला … दुःखसे जो उपदेश हमें मिले ग्रहण कर… चाहिए और मनकी शान्तिमें-मनकी स्व…तामें कमी न पडे ऐसा चरित्र रखना …हिए.

… वेदान्तमें इस गुणको 'तितिक्षा' के …से कहा है. जिस मनुष्यमें यह गुण वि…त हो गया है वह मनुष्य भयंकर प्रसंग… अपने मनको स्थिर रख सकता है, … प्रसंगसे औरोंको बडी भयचतकिता हो. … मनकी शान्ति कायम रखनेके लिये …और गुणकी आवश्यक्ता है, जिसका … 'उपरति' है. जैन परिभाषामें इसे …भाव' कहते हैं. सब मनुष्यों के वि… जुदे जुदे होते हैं. कारण के वे वे … २ सिढियों पर होते हैं. इसीसे हम …ले सकते है. सबके विचार एक होना …व ही नही है. कहा है: "मुण्डे मुण्डे …भिन्नाः" जब विचारका एक होना स… नही है तो हमे विरुद्ध विचार वालेसे … होने पर उसके पास जो सीखने योग्य हो सीख लेना चाहिए और अपने पास जो सिखाने लायक हो सिखा देना चाहिए. जो उसके पास कोइ जानने योग्य अमूल तत्व हो तो वह नम्रतापूर्वक-कृतज्ञता पूर्वक जान लेना चाहिए. इसीका नाम 'परमत सहिष्णुता' (toleration) कहते हैं. इस गुणवाला सर्वप्रिय होजाता है. जो किसीका विरोधी नही है और जिसका कोइ विरोधी नही हैं वह अपने मनको शान्त-स्थिर रख शके, इसमें अचरज क्या है? अत एव इस गुणका विकास करनेकी बडी आवश्यकता है.

वर्तमान समयमें हमारी शक्तिका $\frac{१००}{८५}$ अंश परमतखंडनमें व्यय होता है. इसीकी एवजमें जो उसका व्यय अपने धर्मकी खूबीयां बतलानेमें तथा और २ मतकी भी उत्तम २ बातों के ग्रहण करनेमें हो तो धर्मके नामसे झगडे-टंटे होते हैं उन सबका अन्त हो जाय. सब धर्म वालेके साथ भ्रातृभाव हो जाय और सर्वत्र साम्यभाव उत्पन्न हो जाय.

संबोध सित्तरी नामक एक छोटेसे पुस्तकमें प्रभावोत्पादक शब्दोमें लिखा है: श्वेताम्बर हो, दिगम्बर हो, बौद्ध हो या और कोइ धर्मानुयायी हो परन्तु जिसकी आत्मामें समभाव है वह अवस्य २ मोक्ष पद पायगा."

ऐसा समभाव जिसमें व्याप्त हैं उसका मन कभी उद्वेग नही पाता. वह सदा चित्तकी शान्ति रख सकता है.

चितकी शान्ति के लिये आत्मश्रद्धा की भी आवश्यकता है.

मोहराजा और उसके सुभट कितना ही अपना बल दिखलाय, बाह्य संयोग कितनेही विकट और निरुत्साही बनानेवाले हो, तो भी मनुष्यको आत्मविश्वास नही खोना चाहिए. आत्मा स्वभाविक रीतिसे आनन्दमय होनेसे हमें सदा आनन्दमें रहना चाहिये. चिन्ताओंसे हमें अपने मनकी शान्तिका भंग न होने देना चाहिए.

अखीरी गुण मनकी समाधानता है. उपर बतलाये हुए सब सद्गुण जब विकसित हो जाते हैं तब मनुष्य मनके समाधानको स्थिर रख सकता है. सुख और दुःखमें वह हर्ष या शोक नहीं करता, क्यों कि सुख–दुःख शरीरसे सम्बन्ध रखते हैं और वह शरीरसे सर्वथा पृथक् है. और शरीरद्वारा काम करनेवाली आत्मा है. आत्मा तो साक्षी है, इस लिये शरीर सम्बन्धवाला सुख और दुःख आनेसे मनोनिग्रहके गुणका न खोना चाहिए. किन्तु मनके साम्य भावको कायम रखना चाहिए. युद्धमें हानि हो या लाभ, किसीकी जित हो या हार, देखनेवालेको उससे कुछ हानि–लाभ नहीं होता. इसी भांति शरीरद्वारा काम होनेपर भी साक्षी आत्म-सुख–दुःखमें या जय पराजयमें निर्लेप रह सकती है.

अहं वृत्तिसे ही मनुष्यके मनोनिग्रह या साम्यभावमें बाधा पहुंचती है. इस लिये फलकी आकांक्षाको छोडकर काम करते जाना चाहिए. परन्तु काम 'मैं' करता हूं, 'मैं' फल भोगता हूं ऐसा विचारका सर्वथा नाश कर देना चाहिए. ऐसा करनेसे थोडे ही समयमें मनकी समाधानताका गुण विकसित होगा. इस भांति जिसका मन पवित्र और शान्त है और जो मनोनिग्रह अच्छी तरह कर सकता है वह मनुष्य आत्मज्ञानका अधिकारी है.

जिसकी इंद्रियां अन्तरात्माकी ओर झुक गई है, जिसका मन शान्त और स्थिर है उसके आत्म सूर्यका प्रकाश उसके मन पर पडता है. आत्मामें जगतकी सब वस्तुओंका प्रतिबिम्ब पडनेसे आत्मज्ञान होने पर उन सबका भी ज्ञान हो जाता है, मार्ग खुल जाता है. उससे कोइ वस्तु छानी नहीं रहती और इसीसे ऐसा मनुष्य जगत के हितके लिये अपने कल्याणमय ज्ञानका उपयोग करता है. अपने ज्ञानद्वारा जाने हुए तत्वोंका वह लोगोंको उपदेश करते हैं; क्यों कि वे जानते हैं कि ज्ञान अज्ञानको दूर करनेके लिये है. आत्माका ज्ञानस्वरूप पूर्ण रूपसे प्रकाशित होता है. ऐसा उच्चज्ञान प्राप्त हो, ऐसी उत्तम अवस्थामें हम पहुंचे इसके लिये मनको शान्त व निर्मल बना कर 'संयम' पालन करनेकी आवश्यकता है और इन गुणोंका लाभ होनेके लिये उपर लिखे हुये गुणोंका विकास करते जाना चाहिए. एकदम हम अपने प्रयत्नमें सफल न होंगे; परन्तु हमें यही पाना है ऐसा विचार कर जो अपना सब आत्मबल लगा देंगे तो हम अवश्य सफल होंगे. सब आत्मायें इस बलको प्राप्त करें ऐसी अंतःकरणकी प्रार्थना कर इस कुंजि के साथ सब कुंजियोंकी समाप्ति की जाती है.

कृपालु गुरुदेवने जो मेरे जैसे अल्पज्ञ लेखकको दया कर दी हुई सुवर्णमय सातों कुंजियांका यथाशक्ति और यथामति विवेचन किया है. इनका सच्चा रहस्य तो आत्मज्ञानियों को छोड कर और कौन समझ सक्ता है? ऐसा होने पर भी इस पुस्तकमें वर्णन किया हुआ एकाध विचार भी किसीको भी सन्मार्गकी ओर लगादेनेमें समर्थ होगा तो यह लेखक अपने प्रयास और परिश्रमको सफल हुआ समझेंगे.

खुश खबर.

॥ ओ३म् ॥

पूज्यपादस्वामिविरचित

समाधिशतकम् ।

तदुपरिभावार्थ-हिन्दी-भाषाटीका-

अनुवादक मुनिमाणिक

(प्रभाचन्द्रसंस्कृतटीका के अनुसार)

प्रसिद्धकर्त्ता-

मेरठ आत्मसुधि पब्लिक-जैन-लाइब्रेरी के हितार्थ

वकील कीर्त्तिप्रसाद जी जैनी बी. ए. एल. एल. बी.

Printed by—

RAGHUBIR SARAN DUBLIS

At the Bhaskar Press, MEERUT. and Published by

B. KIRTIPRASAD B.A.L.L.B. Vakil Meerut.

प्रथमावृत्ति प्रति ५००] [कीमत =) तीन आना

वीर सं० २४४१, सन् १९१५

प्रस्तावना

—[]©[]—

समाधिशतक आत्महितचिन्तकों के लिये अपूर्व ग्रन्थ है जिसको दिगम्बराम्नाय के प्रसिद्ध मुनि पूज्यपाद स्वामी ने बनाया जिन्होंने यह ग्रन्थ बनाकर मन स्थिर करने की अमृत औषध हरेक भव्यात्माओं के लिये इसमें रखदी है इसमें किसी पक्ष पर आक्षेप न कर सर्वमान्य ग्रन्थ बनाया है, इस पर प्रभाचन्द्र जीने सरलटीका की है, जिसका अनुवाद गुजराती भाषा में करवा कर बड़ौदामहाराज ने अपने स्कूलों में प्रचलित किया है और अंग्रेजी अनुवाद मणिलाल नथुभाई द्विवेदी ब्राह्मण ने किया है इसका अनुवाद मराठी भाषा में भी होचुका है। मेरे को समाधि देने वाला होने से मैंने हिन्दीभाषा जानने वाले भ्राताओं के लिये श्लोकों का भावार्थ बनाया है। श्लोकों का अक्षरार्थ करने से गूढ ग्रन्थ का रहस्य बालजीवों को नहीं मिल सकता और पंडितों को अर्थ बताने की आवश्यकता नहीं है जिससे सिर्फ हिन्दी भावार्थ श्लोकों के साथ छपाया है। इस पर यदि कोई महाशय विशेष सरल शुद्ध शब्दार्थ लिखेंगे तो अधिक उपकार होगा। ऐसे ग्रन्थों की लाखों प्रति भेंट देकर लोगों को ज्ञान प्रकाश करने की आवश्यकता है जिसको पढ़कर आत्मार्थिओं को विषयानन्द जो सुखाभास है वह छूट जावेगा केवल सच्चा आत्मानन्द और चिरस्थायी शान्ति मिलेगी।

मुनिमाणिक

सेवक सिंदी

अथ

समाधिशतक

हिन्दी भाषान्तर सहित।

—*—

येनात्माऽबुध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम्।
अक्षयानन्तबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः ॥ १ ॥

जिसने आत्मा को जानलिया है और आत्मा से भिन्न जैसे अजीव पदार्थ शरीरादि को आत्मा से भिन्न जान कर उस का मोह त्यागदिया है तथा शुद्ध आत्मा का ध्यान करने से, माया-प्रपंच जाल छूट जाने से जिस को अनन्त ज्ञान (कैवल्यज्ञान) कभी नाश न होने वाला प्राप्त हुआ उस सिद्ध भगवान् को मेरा नमस्कार हो ॥ १ ॥

जयन्ति यस्यावदतोऽपि भारती,
विभूतयस्तीर्थकृतोऽप्यनीहितुः ।
शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे,
जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः॥२॥

जिस भगवान् की विना बोले भी वाणी की शोभा जगत् में यश फैला रही है और मोक्ष देने वाला तीर्थ प्रकट करने से सुरेन्द्र नरेन्द्रों से निरन्तर पूजनीय होने पर भी अहंकारादि से विमुख है, उस उपद्रव दूर करने वाले, मोक्षमार्ग की विधि बताने वाले, सुस्थान (सिद्धि) में बैठे हुए, अनन्त ज्ञान से जगत् में व्याप्त और कर्मशत्रुओं को जीतने वाले शुद्ध अखण्ड आत्मा को मेरा नमस्कार हो ॥

इस श्लोक में ग्रन्थकर्त्ता ने अपना निष्पक्षपात स्थापन करके धर्मों का जो क्लेश नाहक जगत् में फैल रहा है उसको दूर करने का मार्ग ग्रहण किया है ॥

श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्ति,
समाहितान्तः करणेन सम्यक्।
समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणाम्,
विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये॥३॥

जिनेश्वर प्रभु के कहे हुए सिद्धान्त से सहहेतु यथाशक्ति चित्त स्थिर करके अच्छी तरह से विचार करके एकान्तसुख के वाञ्छक भव्यजीवों को निर्मल निष्कलंक निरञ्जन निराबाध आत्मा का स्वरूप कहूंगा ॥ ३ ॥

इस श्लोक में ज्ञानी भगवान् के वचनानुसार ग्रन्थ करने का प्रयोजन बतलाया है। तथाहि "एगो मे सासओ अप्पा नाणदंसण संजुओ सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोग लक्खणा " और अपना प्रमाद दूर करके ग्रन्थ बनाया है जिस से श्रोताओं को पढ़ने में प्रमाद छोड़ कर पढ़ने को सूचित किया है और इस ग्रन्थ का अधिकारी संसार के दुःखमिश्रित सुख से विमुख होने वाला होना चाहिये।

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधाऽऽत्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत्॥ ४॥

इस संसार में जितने प्राणी हैं उन्हों में आत्मा विद्यमान होने पर भी चेष्टा भिन्न और विचित्र देख कर ज्ञानी भगवान् ने उस आत्मा को तीन प्रकार से शास्त्र में बताया है। तथाहि:— (१) बाह्यआत्मा (२) अभ्यन्तर आत्मा और (३) परमात्मा। इस से भव्यजीवों को वीतराग प्रभु उपदेश करते हैं कि हे भव्यजीवो! आप लोग अभ्यन्तर आत्मा में स्थिर होकर सदुपाय से बाह्य आत्मा की चेष्टा छोड़ कर परमात्मा का स्वरूप प्राप्त करो॥४॥

इस श्लोक में बालचेष्टा से जो जीव दुःख पाता है उस को छुड़ाने के लिये यह उपदेश दिया है कि आप बालचेष्टा छोड़ो।

बहिरात्माशरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्मातिनिर्मलः॥ ५॥

बाह्यआत्मा अपना शरीर धन औरत बेटे अपने से भिन्न होने पर भी अपने मान कर बाह्य वस्तु और शरीर के घटने बढ़ने पर हर्ष शोक करता है और नये पाप कर कर्मबन्ध से जन्म मरण का दुःख पाता है। किन्तु अभ्यन्तर आत्मा अपने दुष्ट कर्म क्षय और शान्त होने से किंवा सद्गुरु की सेवा और सदुपदेश मिलने से शरीरादि को भिन्न जान कर बाह्य वस्तु किंवा शरीरादि के घट बढ़ होने पर भी चित्त में खेद हर्ष नहीं करता है और परमात्मा कर्म से मुक्त हो कर निर्मलरूप में है ॥ ५ ॥

निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः ।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥ ६ ॥

जैनधर्म में परमात्मा को दो रूप से मानते हैं—१—साकार (अरिहन्त) और २—निराकार (सिद्ध)। अरिहन्त उपदेश देने वाले और सिद्ध मुक्ति में गये हुए। दोनों का कैवल्यज्ञान सम्पूर्ण होने से दोषों से मुक्त होने से कर्ममल से रहित निर्मल है। दोनों का मोह शरीरादि से दूर होने से भिन्न है, पाप से विमुक्त होने से शुद्ध है, फिर जन्ममरण न होने से पुद्गल (जड) समूह से न्यारा है, कर्मबन्ध दूर होने से सब का स्वामी है, अज्ञानता दूर होने से चिदानन्द स्वरूप बदलता नहीं है, श्रेष्ठता प्राप्त करने से श्रेष्ठ पद में रहता है, निर्मल आत्मा होने से संसारी जीवों से उत्तम है; गति भ्रमण से दूर होने से ईश्वर है और रागद्वेषादि शत्रुओं को जीतने से जिन है ॥ ६ ॥

बहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुखः ।
स्फुरितः स्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति ॥७॥

बाह्य आत्मा (विषयाभिलाषी) कान, आंख, नाक, जीभ और शरीर के उपयोग से कार्य करता हुआ उन इन्द्रियों को ही आत्मा जानता है और अपने चिदानन्द स्वरूप आत्मा को याद में नहीं लाता कि तू मेरा आत्मा शरीर के भीतर है, इस का ध्यान भी उस के हृदय में नहीं आता और शरीर को ही आत्मा

जान कर उसको बढ़ा घटा देख कर हर्ष शोक करता है ॥ ७ ॥

इस श्लोक में संसारी जीव जो पांच इन्द्रियों के विषय में सुख दुःख मान कर खाना पीना मौज मजा उड़ाते हैं और पैसा निकल जाने से किंवा राज्यादि सम्पदा नष्ट होने से तथा मान-हानि होने से खेद करते हैं उनको इस पंक्ति में गिनते हैं।

नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम्।
तिर्यंचं तिर्यगङ्गस्थं सुराङ्गस्थं सुरं तथा ॥ ८ ॥

यह विषयाभिलाषी बाह्य आत्मा आत्मज्ञान से विमुख होने से अपने आत्मा को निरञ्जन निराकार चिदानन्द स्वरूप से भूल कर मूर्खता से मनुष्य देह में आत्मा को रहता हुआ अपने को जान कर मानता है कि मैं नर हूं और पशु आदि के देह में देख कर मैं पशु हू-ऐसा मानता है और देवता के शरीर में अपने को रहता हुआ देख कर मैं देवता हूं,ऐसा मानता है।८॥

इस श्लोक में मूर्खों को उपदेश दिया है कि तुम देह से न्यारे हो तौ भी तुम अज्ञानता से नाहक अपने को नर,पशु तथा देवता मान बैठते हो और अहंकार दीनता हर घड़ी करते हो ॥

नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा।
अनन्तानन्तधीशक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः ॥ ९ ॥

वह ही बालबुद्धि बाह्य आत्मा नारक के शरीर में रहता हुआ अपने को नारक मानता है। ज्ञानी भगवान् ने कर्मभ्रमण से जीवों की चार गति बताई हैं कि जीव जैसा कर्म करता है वैसा फल भोगने के लिये देवता, नरक, मनुष्य और पशु आदिक तिर्यञ्च प्राणी का देह प्राप्त करता है किन्तु आत्मा शरीर से भिन्न है और वह शरीर में रहता हुआ आत्मा अनन्तज्ञान और अनन्तवीर्य (शक्ति) का मालिक है, निरन्तर कायम है और अपने ज्ञान से ही अनुभव करने योग्य है ॥ ९ ॥

इस श्लोक में उसने मूर्खों को समझाया है कि तुम देवता वा नारक नहीं हो,किन्तु तुम्हारा आत्मा शरीर में अनन्त ज्ञान और

वीर्य का मालिक है। किन्तु कर्म के सम्बन्ध से तुम को वह शरीर मिला है।

स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम्।
परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति ॥ १० ॥

अपने शरीर के मुआफिक अन्य जीवों की देह (शरीर) देखकर जैसे अपने आत्मा को भूलगया है वैसे ही दूसरे जीवों के आत्मा को भूल जाता है। किन्तु अचेतन शरीर को ही उसका आत्मा मानकर यह जुदा मनुष्य है वैसा मान्य करता है किन्तु मेरा आत्मा जैसा चिदानन्द स्वरूप है वैसा ही और प्राणी का भी है ऐसा नहीं मानता है ॥ १० ॥

इस श्लोक में कितनेक लोग दूसरे प्राणियों के आत्मा नहीं मानते हैं उनको हितशिक्षा दी है कि आप लोग अपने आत्मा के तुल्य और के भी आत्मा को जानो ॥

स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम्।
वर्त्तते विभ्रमः पुंसां पुत्रभार्यादिगोचरः ॥ ११ ॥

विषयाभिलाषी संसारसुख आकांक्षी मूढ पुरुष आत्मज्ञान से विमुख होने से दूसरे प्राणियों को पर जान कर उनके लिये विभ्रम उठाता है और मोह दशा में डूब कर अधर्म भी करता है और पुनः२ दुःख पाता है।

इस श्लोक में जो लोग अपने बच्चों तथा औरतों के लिये अनीति करते हैं और पाप करने से इस लोक में शिक्षा पाते हैं तथा हर्ष शोक करके अहंकार दीनता धारण करते हैं, उन को हितशिक्षा दी गई है कि वे बाल बच्चे तुम्हारे नहीं हैं, किन्तु कर्मसम्बन्ध से मिले हैं। कर्मबन्धन छूटने से वे भी अपना कर्म भोगने को कहां भी चले जायंगे। तुम उनके लिये अहंकार दीनता का भ्रम मत उठाओ, किन्तु आत्महित (परमार्थ) करके परमात्मरूप सम्पादन करो ॥

अविद्यासंज्ञितस्तस्मात् संस्कारो जायते दृढः।

येन लोकोङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते ॥ १२ ॥

कितनेक भोले प्राणियों को किंचिदुपकार वा नुकसान शरीरसे अनुभव होना देखकर उनके चित्त में दृढ होजाता है कि मैं शरीर ही हूं, किन्तु मेरा आत्मा अलग है और कर्मसम्बन्ध से यह अनुभव होता है वैसा विचार भी बिचारे को नहीं होता है ॥ १२ ॥

इस श्लोक में बताया गया है कि शरीर के दुःख से आत्मा को दुःखानुभव होता है तो भी दोनों न्यारे हैं इस लिये जान कर शरीरदुःख से आत्मा को क्लेश नहीं मानना और खेद नहीं करना, किन्तु कर्मसम्बन्ध तोड़ कर शरीर ही दूर करना आवश्यक है ॥

देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात् ।
स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनम् ॥१३॥

जो बिचारे भोले लोग शरीर को ही आत्मा जानते हैं और दुःख भोगने से आत्मा को ही शरीर निश्चय कर लेते हैं, वे बिचारे आत्मा के शुद्ध स्वरूप से सर्वथा विमुख होकर जो आत्मा है उनको भी भूल जाते हैं और शरीर के लिये ही प्रयास करते हैं ॥१३॥

इस श्लोक में जो आत्मा को भूलते हैं उनको बतलाया गया है कि शरीर में आत्मा न्यारा है ऐसा समझो ।

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः ।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं जगत् ॥ १४ ॥

जिस भोले जीव को शरीर को आत्मबुद्धि का अध्यवसाय होता है वह बिचारा आत्मा को भूलकर शरीरधारी जीवों को कर्मसम्बन्ध से जो प्राणियों का सम्बन्ध हुआ है, उनको अपने पुत्र भार्या मानकर, उनको अपनी सम्पत्ति मान कर हर्ष शोक से अहंकार दीनता करता है इस तरह से सब जगत् दुनिया के सब ही भोले जीव दुःख पा रहे हैं और झगड़ा करते हैं ॥ १४ ॥

इस श्लोक में हितशिक्षा दी है कि शरीर पुत्र भार्या आदि अपनी जान के जो जीव झगड़े करते हैं और दुःख पाते हैं, हर्ष शोक करते हैं, उन सब झगड़ों को छोड़ कर आत्महित करो ।

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः ।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यावृतेन्द्रियः ॥१५॥

विचारवान् पुरुषों को अब मालूम होगा कि शरीर को आत्मा मान लेने से संसार दुःखी है यानी सब दुःखों का मूल यह मूर्खता है कि शरीर को आत्मा मानना, जिससे आप लोग हृदय में सोचें कि वह दुर्विचार त्याग के शरीर से भिन्न आत्मा से भिन्न जानकर इस के सुख का विचार छोड़ के आत्महित में चित रखना ॥१५॥

इस श्लोक में इन्द्रियों के वश होकर जो मूर्ख दुःखों की जड डालते हैं और अनादिकाल से जन्म मरण के दुःख भोगते हैं उनके लिये हितशिक्षा दी है कि इन्द्रियों को कब्जे में रक्खो ।

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो विषयेष्वहम् ।
तान् प्रपद्याहमिति मां पुरा वेद न तत्त्वतः ॥ १६ ॥

जिस बुद्धिमान् आदमी को आत्मा शरीर से भिन्न मालूम हुआ है वह सुज्ञ पुरुष हृदय में विचारता है कि मैंने इन्द्रिय द्वारों से ज्ञान होना देखकर, इन्द्रियों को ही आत्मा जानकर, इन्द्रियों के वश हो कर, आत्महित से पतित (भ्रष्ट) होकर, विषयों में लीन होकर बहुत दुःख पाया है । मेरा अब फर्ज है कि इन इन्द्रियों का परवशपना छोड़कर आत्महित सोचूं । अहा ! इतने दिनों में मैंने अपने को भी नहीं जाना कि मैं आत्मा हूं ॥१६॥

इस श्लोक में समझाया है कि आप इन्द्रियां नहीं हो, किन्तु आत्मा हो । इन्द्रियां भिन्न हैं ।

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः ।
एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः ॥ १७ ॥

जिस आदमी ने आत्मा को जानलिया है वह ज्ञानीपुरुष बाह्य कायचेष्टा को छोड़ता है और सद्गुरु से प्रार्थना करता है कि हे सद्गुरो ! मेरे को आप योग बताइये, जिससे मेरे को शान्ति होवे । इन भव्यजीवों को यह उपदेश है कि आप लोग पहिले

अपनी जीभ को वश में करो, किसी के साथ बात मत करो और फिर पीछे मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं पुष्ट, मैं कमताकत, मैं बादशाह, मैं कंगाल—इस प्रकार के अन्तर में विकल्प मत करो। यह योग साधने की संक्षिप्त शिक्षा है और इस तरह से अपना शुद्ध स्वरूप जो परमात्मा के तुल्य है वह प्रकाशक हो जावेगा ॥ १७ ॥

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥ १८ ॥

जिस पुरुष का चित्त स्थिर नहीं होता है और जिसे बातों का बहुत अभ्यास है उस पुरुष को यह हितशिक्षा है कि आप मन में सोचोगे और आत्मध्यान करोगे तब यह हृदय में अध्यवसाय होगा कि मैं जो किसी का शरीर (रूप) देखता हूं वह जड होने से किसी के साथ बात करता नहीं और मेरा कहना वह बिलकुल जानता नहीं है और जिस का आत्मा मेरा कहना जानता है वह आत्मा अरूपी होने से मेरे देखने में नहीं आता तब मैं किस के साथ बात करूं ? यह विचार करने से जिह्वा से जो जिस तिस के साथ झगड़ा और गालागाली होती है वह आत्मज्ञानी पुरुष को नहीं होगी ॥ १८ ॥

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः ॥ १९ ॥

जो दूसरे को बोध देते हैं या दूसरे से बोध पाते हैं और अहङ्कार दीनता लाते हैं वह पुरुष मन में जब आत्मज्ञान लावेगा तब उस को मालूम होता है कि मैं न किसी से बोध पाता हूं किंवा न मैं किसी को बोध करता हूं किन्तु सब का ज्ञान सब के पास ही है और दूसरा पुरुष निमित्तमात्र है किन्तु आत्मा का ज्ञानावरण दूर होता है। तब ज्ञान प्रकाश होता है तो मैं किसी से कैसे बोध पाऊंगा किंवा मैं बोध कर सकूंगा तब मुझे नाहक क्यों हर्ष शोक से अहङ्कार दीनता लाना। मैं निर्विकल्प हूं मेरे को यह खटपट छोड़ देना और मैंने जो अहङ्कार दीनता की

सो मेरा उन्मत्त चेष्टित कर्म है ।

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति ।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥ २० ॥

जो प्रज्ञ (विद्वान्) पुरुष है और आत्मध्यान करता है वह पुरुष अग्राह्य (क्रोधादि) ग्रहण नहीं करता है और आत्मज्ञान जो चिदानन्दरूप केवल ज्ञान है सो कभी भी छोड़ता नहीं है और इस ज्ञान से सब पदार्थों का सम्पूर्ण स्वरूप जानता है जिस से विचार करता है कि मेरे को मालूम होता है कि मैं अपने ज्ञान से अपने को जानूं ॥ २० ॥

इस श्लोक में आत्मध्यान करने वाले को सूचना दी है कि आप अपने आत्मा की परीक्षा अपने अनुभव से करो और किसी को पूछने की आवश्यकता नहीं है कि मेरा आत्मा कहां है और कैसा है ? आप के पास ही शरीर से भिन्न शरीर में बैठा है ।

उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितम् ।
तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं देहादिष्वात्मविभ्रमात् ॥ २१ ॥

आत्मज्ञान होने से हृदय में यह विचार होता है कि मैंने शरीर को आत्मा मानने में कैसी मूर्खता की है कि जैसे किसी की पेड़ के ठुण्ठ (सूखा हुआ वृक्ष का अंशविशेष जो पृथिवी पर खड़ा रह जाता है) को पुरुष मान कर उस से बोलना और रागद्वेष करना और इसलिये हर्ष शोक करना यह जैसी निरर्थक चेष्टा है वैसी शरीर के लिये मेरी पूर्व चेष्टा थी और मैंने नाहक दुःख पाया, किन्तु जहां तक मैंने चेष्टा की है सो मेरी भूल है ।

इस श्लोक में शरीर को ही आत्मा मानने वाले का आत्म-ज्ञान हो जाने पर पश्चात्ताप बताया है कि ऐसी भूल फिर से न होवे।

यथाऽसौ चेष्टते स्थाणौ निवृत्ते पुरुषग्रहे ।
तथाचेष्टोऽस्मि देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः २२ ॥

जिस पुरुष को आत्मज्ञान प्रकट हुआ है वह पश्चात्ताप करके अपनी भूल को सुधार कर आत्मज्ञान में लीन होता है कि जैसे पेड़ के ठुएठ से पुरुष भ्रान्ति निकल जाने से ठुएठ के रूप में ही देखता है और रागद्वेषादि की चेष्टा छोड़ देता है वैसे ही शरीर से आत्मा भिन्न जान कर जड़ शरीर का मोह छोड़ कर उसके पुष्ट होने से हर्ष और पतले होने से शोक नहीं करूंगा और अहंकार दीनता भी न लाना अपना फर्ज़ समझूंगा ऐसा विचार मन में स्वाभाविक उत्पन्न होता है और शरीर का मोह भी शनैः २ छूट जाता है ॥ २२ ॥

येनात्मनानुभूयेऽहमात्मनैवात्मनात्मनि ।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः ॥ २३ ॥

जिस भव्यात्मा को आत्मज्ञान हो जाता है वह जीव अपने आत्मा को आत्मा से अनुभव करता है तब उसको मालूम होता है कि मैं पुरुष स्त्री वा नपुंसक नहीं हूं, मैं एक हूं न बहुत हूं, किन्तु मेरा आत्मा चिदानन्दस्वरूप निर्मल है सो ही मैं हूं। अब तक मैंने इसको नहीं जाना जिससे मैं अपने को पुरुष, स्त्री वा नपुंसक मानकर हर्ष शोक तथा दीनता अहंकार करता था२३॥

इस श्लोक में कर्मपरिणाम को भूल कर जो लोग मैं पुरुष, मैं स्त्री हूं ऐसा मान कर आत्मस्वरूप को भूल जाते हैं उनको हितशिक्षा दी है कि तुम आत्मतत्त्व को पहिचानो।

यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः ।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥ २४ ॥

जिस पुण्यवान् पुरुष ने आत्मध्यान शुरू किया है उसके दिल में यह भाव उत्पन्न होता है कि मैं आत्मज्ञान से विमुख था जिस से मैं आत्मज्ञान में लीन न था, किन्तु शरीरादि में रक्त था। अब आत्मतत्त्व ज्ञान का अनुभव होता है जिस से मैं जानता हूं कि पहिले सुवर्ण तुल्य दिन व्यर्थ खोये हैं। अब मैं जागृत हुआ हूं

और जागृत होने से मुझे मालूम होता है कि मेरा आत्मा मेरी इन्द्रियों से देखने में नहीं आवेगा, किन्तु इन्द्रियों को शान्त करके ध्यान करने से ही मेरे आत्मा का मुझे अनुभव होता है जिससे मैं शरीर से भिन्न आत्मा हूं सोही मैं हूं।

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्नमे शत्रुर्न च प्रियः॥ २५॥

उसको आत्मज्ञान हो जाने से उस पुण्यवान् आत्मा के राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं और आत्मा में तत्त्वज्ञान दृढ़ हो जाने से स्वयं आत्मा का अनुभव करके अपने आत्मा को देखता हुआ चिदानन्द स्वरूप उसका देखकर अपने आत्मा के मलिन भाव जो कर्मजनित पुद्गल (जड) का समूह रूप है सो देखकर आत्मा को कलुषित नहीं करता, किन्तु विचारता है कि आत्मा चिदानन्द स्वरूप है उसके ऊपर कर्म सिवाय किसी का उपकार तथा अपकार नहीं होता है और सब उपकार तथा अपकार करने वाले निमित्त मात्र हैं सो मेरे को न तो कोई उपकार करने वाला है न कोई अपकार करने वाला है जिससे मेरा न कोई शत्रु है न मित्र॥२५॥

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः॥ २६॥

मेरे को देखने वाले लोग बहुत कम हैं। जो मुझे देखते नहीं हैं वे मेरे शत्रु मित्र कभी नहीं हो सकते जिससे वे लोग मेरे शत्रु नहीं हैं और मित्र भी नहीं हैं और देखने वाले जो अतीन्द्रिय ज्ञानी हैं वे लोग किसी के मित्र शत्रु नहीं होते हैं इस लिये वे लोग भी मेरे शत्रु वा मित्र नहीं हैं तब मुझे रागद्वेष क्यों करना चाहिये॥ २६॥

इस श्लोक में सूचना दी है कि आप लोग जिस को शत्रु वा मित्र मानते हैं वे लोग जो अतीन्द्रिय ज्ञानी नहीं होंगे तो

आपके अरूपी आत्मा को कैसे देखेंगे ? इस लिये वे शत्रु मित्र नहीं हैं और जो कैवल्यज्ञानी तुम्हारे अरूपी आत्मा को देखते हैं वे रागद्वेष से रहित होने से तुम्हारे शत्रु वा मित्र नहीं हैं। इस लिये रागद्वेष छोड़ो।

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः।
भावयेत् परमात्मानं सर्वसङ्कल्पवर्जितम् ॥ २७ ॥

आत्मज्ञानी सत्पुरुषों को वीतराग ज्ञानी प्रभु ने यह निवेदन किया है कि पूर्व में जो कहा है इस पर ख्याल करके बाह्य आत्मा के लक्षण छोड़ के अभ्यन्तर आत्मज्ञान में स्थित होकर अपना इष्टदेव परमात्मा जो सर्व कर्मों के उपद्रवों से वर्जित है और संसार के किसी जाति के प्रपंचजाल और संकल्प से सर्वथा वर्जित है उस का ध्यान करो।

इस श्लोक में सांसारिक क्रीड़ा में मूढ होकर परमात्मा को भी वैसी लीला करने वाला मानकर उस में सुख मान कर ईश्वर की प्रार्थना में वह संसारी सुख मांगते हैं उस लोगों की दुर्बुद्धि को आत्मज्ञानी को छोड़ देना चाहिये।

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनः स्थितम् ॥ २८ ॥

परमात्मा आत्मगुणघातक कर्मों से वर्जित होने से निर्मल है और अपना आत्मा उन कर्मों में लिप्त होने से परमात्मा का आलम्बन होने से मैं भी आत्मा हूं और आत्मा है सो ही मैं हूं— ऐसे परमात्मा के आलम्बन से परमात्मा के सदृश अपना आत्मा निर्मल होगा। ऐसी भावना बार २ करने से आत्मा में कर्मजनित पुद्गल सङ्कल्प धीमे२ दूर हो जाने से दृढसंस्कार आत्मा में आत्मस्वरूप के हो जाने से वह ही आत्मा अपनी आत्मा की आत्मस्थिति पाता है और आत्मस्थिति मिलने से अपूर्व शान्ति का अनुभव भी होना शुरू होगा।

मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम् ।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ॥ २९ ॥

आत्मज्ञान प्राप्त करना आरम्भ में कठिन है जिस से मूढ पुरुष विचारा इन्द्रियों के आनन्द में विश्वास करता है और आत्मज्ञान का विचार भी नहीं करता। उसको यह हितशिक्षा है कि भो बन्धो! जहां तुम विश्वास रख कर बैठे हो वह स्थान तुम्हारे लिये भयकारी है और जहां तुम को अभी भय दीखता है वह आत्मज्ञान तुम्हारा निर्भय स्थान है। अतः आप लोग इन्द्रियों के सुख के लिये जो श्रम उठाते हो और कर्म उपाधि से प्राप्त हुए पुत्र धन मान इत्यादि से नाहक दुःख पाते हो उस को छोड़ कर आत्महित चिन्तन करो जिस से तुम्हारा भय सर्वथा दूर हो जाये।

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना ।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः ॥ ३० ॥

आत्मध्यान करने वाले को इन्द्रियों का ज़ोर बहुत होने से विघ्न होता है इस लिये यह हितशिक्षा है कि पांच इन्द्रियों अर्थात् कान, आंख, नाक, जीभ और शरीर को प्रथम स्थिर करो। एक क्षण भी स्थिर होकर तुम आत्मा में अनुभव करोगे तो तुरन्त आत्मा के निर्मल अंश का अनुभव होगा। वह ही परमात्मा का तत्त्व है अर्थात् आप स्वयं ही परमात्मा के निर्मल स्वरूप को पाने की योग्यता बतलाते हो ॥ ३० ॥

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः ।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥ ३१ ॥

समुद्र की तरंग के बीच जब नाव हिलती है तब दृश्य (दिखाव) विचित्र होता है, जब स्थिर होती है तब उसका मूलस्वरूप दीखता है। इसी तरह से आत्मा इन्द्रियों से बहुत

होता है तब विरूप भासता है, जब इन्द्रियों को स्थिर करके आत्मस्वरूप देखता है तब वह परमात्मा तुल्य अपने को भी देखेगा और मन में विचार भी होगा कि परमात्मा के आलम्बन से अपने आत्मस्वरूप को धीमे २ प्राप्त कर सकूंगा तो मेरे को फिर मेरी ही उपासना करनी रही है और मेरा जो आत्मा है सो ही परमात्मा है और कोई मेरा नहीं है। फिर मैं नाहक़ शरीरादि में मोह क्यों करता हूं?

प्राच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितम्।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिर्वृतम्॥ ३२॥

जो शरीरादि से मोह छोड़ता है वह धर्मात्मा अपने हृदय में सोचता है कि मैं अपने आत्माको आत्मा में स्थिर करके पांच इन्द्रियों के परवशपने से छुड़ाऊं। मैं अब परम आनन्द से अपने आत्मा को ज्ञानस्वरूप में रहा हुआ देखता हूं। इस सुखस्वरूप को प्राप्त हो कर मैं फिर क्यों इन्द्रियों के मोहजाल में फसूंगा?

यह हितशिक्षा में बतलाया गया है कि आत्मध्यान में लीन होने वाले को इन्द्रियों का विषयाभिलाष छोड़ना चाहिये। जो इन्द्रियों को अपने वश में नहीं रक्खेगा उसको आत्मध्यान में आनन्द नहीं मिलेगा।

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम्।
लभते न स निर्वाणं तप्त्वापि परमं तपः॥ ३३॥

कितनेक लोग तपश्चर्या बहुत करते हैं किन्तु वे जन आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं जानते हैं जिस से वे बेचारे तपानुष्ठान करके भी इन्द्रियों में प्रत्यक्ष सुख देखने से मोहित होकर इन्द्रियों के ही सुख चाहते हैं—राज्य, पैसा, कुटुम्ब, सत्ता, मान, महत्त्व, बगीचे,

रमणी, लक्ष्मी आदि की ही वाञ्छा करते हैं किंवा स्वर्ग में देव देवांगना के विलास को चाहते हैं किंवा इन्द्र होने की इच्छा करते हैं जिस से उस तपश्चर्या का फल उन की उन वासनाओं के अनुकूल ही मिलता है, किन्तु उस तपश्चर्या से जो मुक्तिपद मिलना चाहिये सो नहीं मिलता । इसी लिये भव्यात्माओं को सूचना की है कि आप लोग तपश्चर्या से मुक्ति की वाञ्छा रक्खो और इन्द्रियों के सांसारिकसुख की इच्छा मत करो ।

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः ।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते ॥ ३४ ॥

कोई बालबुद्धिजीव शङ्का करेगा कि अग्नि जला के तपश्चर्या करने का जैनशास्त्रों में सर्वथा निषेध (मना) है जिस से जीवों को निरर्थक दुःख न होवे । सो उपवासादि लंघन करने से जीवों को जो दुःख होगा उन दुःखों के कारण आर्तध्यान होने से मुक्ति कैसे मिलेगी ? ऐसे बालजीवों को वीतराग प्रभु हितशिक्षा देते हैं कि आत्मा से शरीर भिन्न मानने वाले आत्मा में जब स्थित होते हैं तब उन को आत्मा में स्वाभाविक आनन्द उत्पन्न होता है, उस समय में क्षुधा बाधा नहीं करती है किंवा मनोबल मज़बूत होने से वे क्षुधा आदि के दुःखों को सर्वथा भूल जाते हैं, क्योंकि वह भव्यात्मा जानता है कि मेरा आत्मा अमर है, शरीर भिन्न है । आहार से केवल शरीर ही पुष्ट होता है और यह शरीर पुष्ट न होगा तो भी मेरा आत्मा तो क़ायम ही है इस में न तो बढ़ाव और न कुछ घटाव होता है ।

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम् ।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स तत्त्वं नेतरो जनः ॥ ३५ ॥

कर्म तोड़ के मुक्ति में जाने वाले मुमुक्षुओं को तपश्चर्या में खेद नहीं मानना चाहिये किंवा थोड़ा आहार मिले अथवा

रूखा सूखा मिले किंवा दो चार दिन आहार बिलकुल नहीं मिले तो भी मनकल्पनाओं को रागद्वेष से व्याप्त करके अस्थिर न करना, किन्तु आत्मध्यान से चित्त स्थिर करके देहादि का मोह छोड़ना चाहिये। जो सज्जन इस तरह से आत्मध्यान में आनन्दित होकर चित्त स्थिर करेगा वह पुरुष ही आत्मतत्त्व को अच्छी तरह से प्राप्त होगा। किन्तु जो मन डगा करके तपश्चर्या का भङ्ग करेगा किंवा आहारादि कम मिलने से दूसरे के ऊपर क्रोधित होवेगा किंवा मनमें अनिष्ट चितवन करेगा वह निर्भागी मुक्ति न पा सकेगा किंवा आत्मानन्द भी न मिला सकेगा किंवा आत्मतत्त्व की पहिचान भी उसको दुर्लभ होगी।

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः।
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः॥ ३६॥

ज्ञानी प्रभु बालजीव को हितशिक्षा देते हैं कि भो भद्रक! जो मन में रागद्वेष न होंगे तो जान लेना कि मैं आत्मतत्त्व में स्थित हूं और जो मन में रागद्वेष होने लगे तो जान लेना कि मैं आत्मतत्त्व से अतिरिक्त (भिन्न) शरीरादि में फंसता हूं और आत्मतत्त्व में मेरी भ्रान्ति हुई है जिस से रागद्वेष को छोड़ कर विक्षेप न लाना कि मेरा नाश हो गया या मेरा अपमान करते हैं, मेरा वह बिगाड़ करने वाला है, मेरा यह मित्र है, मेरा वह शत्रु है, मेरा इसने द्रव्य छीन लियाहै। इस सब विचारों को छोड़ कर सिर्फ कर्म का दोष निकाल के अपने आत्मा में स्थित होकर मन के विकल्पों को छोड़ना चाहिये।

अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते॥ ३७॥

बालबुद्धियों को पुनः पुनः (वारंवार) अज्ञानता के पूर्व के संस्कार होने से उनका मन परवश हो कर उनके मन में विकल्प होते हैं और रागद्वेष, अहङ्कार, दीनता, मान,अपमान, मेरा तेरा,

मित्र शत्रु भाव उत्पन्न होने से आत्मा को नये कर्म का बन्ध हो जाने से वारंवार जन्ममरण के दुःख भोगने पड़ते हैं और जहां तक आत्मतत्त्व का बोध नहीं होगा वहां तक वह ही जन्ममरण का दुःख क़ायम रहेगा, इसलिये हितशिक्षा दी है कि भो भव्यात्मन् ! तुम आत्मतत्त्व का ज्ञान हासिल करो और वह ज्ञान संस्कार जब हृदय में प्रकाश करेगा कि तुरन्त मन के संकल्प सब दूर हो जावेंगे, नया कर्मबन्ध नहीं होगा और आत्मतत्त्व में स्थित होने से दुःखसुख आने पर भी विकल्प न होगा कि मैं सुखी हूं मैं दुःखी हूं, किन्तु यही विचार होगा कि मैं आत्मा चिदानन्दस्वरूप अनन्त सुख का स्वामी हूं।

अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः ।
नापमानादयस्तस्य न क्षेपो यस्य चेतसः ॥ ३८ ॥

जिस भोले जीव को मन में विक्षेप होता है, विकल्पों में ग्रस्त रहता है वह बेचारा अपमान मान कर दुःख पाता है, मुख पर उदासी लाता है, दूसरे का बिगाड़ करने की तय्यारी करता है और आप ही अपने दिल में वैर रख कर निरन्तर जलता है, उस को सुख की नींद भी नहीं आती और मिले हुए मनुष्यजन्म को और गुरु के सद्बोध को और पूर्व के ज्ञान को भी विसार कर फिर २ यह विचार मन में लाता है कि मैं कब इस का बदला लेऊं। वारंवार वैसे दुष्ट विचारों से पीडित होकर अकृत्य करने से भी डरता नहीं है। और जो पुरुष मन में विक्षेप लाता नहीं, किन्तु मैंने पूर्व में कोई पाप किया होगा इस का मैं फल भोगता हूं, इसमें अपमान करने वाले का क्या दोष है वैसा विचार लाकर अपमान को कुछ गिनता नहीं, क्रोध लाता नहीं, किसी का बिगाड़ करता नहीं इस से उस के आत्मा में अपूर्व शान्ति रहती है।

यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः ।

तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात् ॥३९॥

बालजीव बेचारे क्रोधादिक करके नाहक़ जलते हैं, किन्तु संसारजञ्जाल से विरक्त तपस्वियों को भी कभी २ रागद्वेष हो जाता है। इन को वीतराग प्रभु हितशिक्षा देते हैं कि-भो मोक्ष-मार्ग के पन्थिनः (मुमुक्षुओ) ! आप लोगों को कभी मोह हो जावे और आप के दिल में कभी रागद्वेष हो जावे तो, आप लोग हृदय में शान्ति रख के आत्मा को स्थिर करके आत्मस्वरूप का विचार करलो, जिस से क्षणभर में आप लोगों का रागद्वेष दूर हो जावेगा शत्रु मित्र भाव, अहङ्कार, दीनता, सुखी दुखी भाव, मेरा तेरा यह सब ही आत्मा से भ्रष्ट करने वाले दुष्ट भाव दूर हो जावेंगे और अपूर्वशांति फिर से उत्पन्न हो जावेगी।

यत्र काये मुनेः प्रेम ततः प्राच्याव्य देहिनम् ॥
बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति ॥ ४० ॥

गुरु महाराज मुनिराजों को हितशिक्षा देते हैं कि आप लोगों का प्रेम अपनी काया पर किंवा शिष्य उपासक की काया पर होवे उसके पुष्टपने से किंवा शुष्कपने से तुम्हारे दिल में हर्ष शोक होवे तो तुम लोग अपने विचारों को पलट कर, काया से आत्मा भिन्न है ऐसा तत्व जानकर, काया का मोह छोड़ कर मैं आत्मा हूं और काया के सम्बन्धी कर्म सम्बन्धित (जोड़े) हुए हैं मुझ को इस फन्द में क्यों फंसना चाहिये, सब अपने कर्म्मों के आधीन हैं, आयुष्य पूरा होने पर नये कर्म भोगने को शिष्य उपासक भी चले जायगे। मैं तो केवल हितशिक्षा देनेवाला हूं, मुझे तो अपनी काया की भी चिन्ता न करनी चाहिये और न शिष्य उपासक की काया की ही चिन्ता करनी चाहिये— इस प्रकार की भावना से मोह नष्ट हो जावेगा।

आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति ।
नायतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वाऽपि परमं तपः ॥ ४१ ॥

आतमज्ञान से जिस समय कोई विमुख होता है उस समय उसको दुःख की शुरुआत होती है, किन्तु वह पुण्यात्मा जो फिर आतमज्ञान में दृढ हो जावे तो दुःख भी दूर हो जावेगा। किन्तु जो प्रमाद से किंवा अज्ञान से लिप्त रहवे और आतमतत्त्व को न जाने, न ध्यान में लावे तो उत्कृष्ट तपश्चर्या करने वाला भी मोक्षमार्ग नहीं पा सकता, क्योंकि जहां तक आत्मा आतमज्ञान से अतिरिक्त (दूर) है वहां तक रागद्वेष नहीं छोड़ता, अहङ्कार दीनता क़ायम रहती है। दुःखी सुखी भावना दृढ होती है और काया तथा काया के सम्बन्धी कर्मजनित जो पदार्थ हैं उनके लिये प्रयास करने में अपना आतमहित याद नहीं आता है। खंधक मुनि के ५०० शिष्य मुक्ति का प्राप्त हुए किन्तु आचार्य को मुक्ति नहीं मिली ॥

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ॥ ४२ ॥

कोई २ जन तपश्चर्या करके दूसरे की काया मनोहर देखकर किंवा शास्त्र में से देवों के दिव्यभोग श्रवण करके वैसे भोगों की वाञ्छा करता है और ध्यान में वह शरीर में ही रहते हैं और शरीर में ही आत्मबुद्धि रह जाने से मरके फिर वैसे भोग पाकर सुख में लिप्त (ग़र्क़ाब) होजाता है, किन्तु आत्मा को भी सर्वथा भूल जाता है। फिर वह पुण्य जो तपश्चर्या से प्राप्त किया था उसके पूर्ण हो जाने पर अशुभकर्म के फल भोगने के लिये अभिलषित पदार्थों को भी भोगता है और रातदिन दुःख से रोता रहता है। ऐसी स्थिति प्रायः सर्वत्र देखने में आती है, किन्तु तत्त्वज्ञानी शुभ शरीर और दिव्यभोगों को भी जडपुद्गल जान कर अपने चेतन आत्मा से भिन्न मानकर स्वप्न में भी वाञ्छा नहीं करता है।

परत्राहंमतिः स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम्।
स्वस्मिन्नहंमतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः ॥ ४३ ॥

जो अध्यात्मा है उस को ज्ञानी भगवान् हितशिक्षा देते हैं कि जो मूर्ख अपनी आत्मा को छोड़ कर और जगह पर मैं हूं या मेरा है ऐसी मति करनेवाला है निश्चय वह राग करके कर्म बांध कर वहीं उत्पन्न होताहै और जन्म जरा मृत्यु के दुःखको निरन्तर भोगता है; और जो ज्ञानी पुरुष है वह धर्मात्मा आत्मा के सिवाय और कहीं भी अपनेपन को या अहंभाव को धारण नहीं करता वह जन्मादिक के दुःख को भोगता नहीं है और जो कुछ कर्म भोगने शेष रहे हैं उन को भी शान्ति से भोगकर आत्मभावना में ही स्थित होकर मैं आत्मा हूं, मैं जड़ नहीं हूं; मेरा कोई नहीं है, मैं किसी का नहीं हूं, मेरा ज्ञान अनन्त है, मेरे को मोह करना उचित नहीं है, यह सुन्दरता फंसाने वाली है, मैं नहीं फंसूगा-ऐसे शुद्धभावों से वह मुक्ति अवश्य पावेगा।

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम् ॥ ४४ ॥

बेचारा कम-अकल आदमी आत्मज्ञान से विमुख होजाने से वह अपने शरीर को आत्मा जानकर आत्मा को लिङ्ग लगाता है कि मैं पुरुष हूं मैं स्त्री हूं, मैं नपुंसक हूं-वैसा मान कर आत्मा लिंग से विमुक्त है तो भी स्वयं लिंगवाला हो जाता है और कर्मबन्धन में पड़ कर जन्ममरण भोगता है, किन्तु आत्मज्ञानी आत्मा को चिदानन्दस्वरूप मानकर मैं न तो पुरुष हूं, न स्त्री हूं और न नपुंसक ही हूं, किन्तु यह स्त्री भोगने की पुरुष को और पुरुष का संग करने की स्त्री को जो इच्छा होती है सो पुरुषवेद और स्त्रीवेद कहा है सो कर्मजनित है। मेरे को यह इच्छा भी नहीं होनी चाहिये। इच्छा करने से रागद्वेष होता है और राग-द्वेष से फिर स्त्री के उदर में जन्म लेना पड़ेगा, इस लिये मेरा आत्मा लिंगवर्जित है सोही भावना में चित्त स्थिर करना योग्यहै।

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि ।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद्भ्रान्तिं भूयोऽपि गच्छति ॥ ४५ ॥

ज्ञानी प्रभु ज्ञान से सर्वजीवों की चेष्टा देखकर आत्मज्ञानियों को समझाते हैं कि आप लोग आत्मज्ञान जानते हो और शरीर से आत्मा को भिन्न जानकर भावना भी भाते हो तो भी ध्यान में रक्खो कि पूर्व के विभ्रम के संस्कारों के हृदय में जमे हुए होने से फिर से भी आत्मा में भ्रान्ति हो जावेगी कि मैं पुरुष हूं मैं गोरा हूं, मैं काला हूं मैं पुष्ट हूं, मैं पतला हूं, मैं रोगी हूं, मैं दुःखी हूं—ऐसे संस्कार होने से आत्मभ्रान्ति होगी और आत्मभ्रान्ति होने से अहङ्कार दीनता होगी और अपूर्वशान्ति नष्ट हो जाने से फिर कर्मबन्धन होगा और जन्ममरण का दुःख शिर पर क़ायम ही रहेगा । इस लिये मुझ को फिर भ्रान्ति न होगी ऐसा विचार भरोसे से न बैठना, किन्तु भ्रान्ति होवे तो तुरन्त दूर करना ।

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः ।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः ॥ ४६ ॥

जब आत्मभ्रान्ति होवे तब उस भव्यात्मा को हृदय में सोचना चाहिये कि मैं जो बाह्यशरीर देखता हूं वह शरीर अचेतन जड पुद्गल का समूह है और मैं किंवा मेरा आत्मा चेतन है सिर्फ़ कर्मसम्बन्ध से दोनों का सम्बन्ध है और शरीर से भिन्न ही हूं और मुझ को ज्ञान से मालूम होता है और अनुभव से जानता भी हूं कि मैं चिदानन्दस्वरूप हूं । तब मैं कहां सुख मानूं किंवा कहां दुःख मानूं और मैं भी देखता हूं कि रोष तोष करनेवाले राजा, महाराजा, वैद्य, हकीम, सेठ आदि सभी अपने २ माननीय पुष्ट गौरशरीर को छोड़ के हाथ-मलते अपने कृत्यों के अनुसार फल भोगने को चले गये तब मेरा फ़र्ज़ है कि मुझे शरीर किंवा शरीर के कर्मद्वारा मिले हुए सम्बन्धी पुत्रपौत्रादि पर रागद्वेष छोड़ कर मध्यस्थ होना चाहिये ।

त्यागदाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित् ।
नान्तर्बहिरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः ॥ ४७ ॥

जो मूढ तत्त्वज्ञान से विमुख है वह बेचारा अपनी इच्छा के अनुसार पदार्थों का संग्रह करेगा किंवा त्याग करेगा, किन्तु राग-द्वेषपूर्वक करने से नये कर्म का बन्ध अवश्य ही करेगा; और जो आत्मज्ञानी है वह प्रज्ञ पुरुष न तो संग्रह ही करेगा और न कभी त्याग करेगा और कभी ज़रूरत पड़ी तो रागद्वेष करे विना अपने आत्महित का चिन्तन करके संग्रह त्याग करेगा, किन्तु जैसे तैल का दाग़ उतारने के लिये साबुन और जल का उपयोग वस्त्र पर करना पड़ेगा तो भी तैल किंवा साबुन, पानी के साथ सम्बन्ध नहीं है केवल ज़रूरत सफ़ेद वस्त्र की है। इस तरह से आत्मा के ऊपर कर्मों का आवरणरूप मैल लगा है उस के दूर करने के लिये देवगुरु, धर्मदान पूजा सामायिक की ज़रूरत है और पापव्यापार का छोड़नाभी है तौभी आवश्यक तो शुद्धात्मा के स्वरूप मिलने की है

युञ्जीत मनसाऽऽत्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत् ।
मनसा व्यवहारं तु त्यजेद्वाक्काययोजितम् ॥ ४८ ॥

पहिले आत्मा स्थिर करने के अभिप्राय से आत्मा को मन के साथ जोड़ कर वाचा और काया की चेष्टा दूर करनी चाहिये और वाचा काया शान्त होने पीछे मन से रक्खा हुआ व्यवहार भी वाक् काया से छोड़ देना चाहिये। इस श्लोक में आचार्य महाराज ने प्रवृति में पड़े हुए को सूचना की है कि आप लोग पहले आत्मज्ञान प्राप्त करो और शान्ति पाने के लिये वचन काया की प्रवृति कम करो और दोनों के स्थिर हुए पीछे मन से भी आत्मा को अलग करके आत्मभाव में स्थिर होओ। ऐसा ध्यान करने वाले को व्यवहार प्रवृत्ति कम करना चाहिये किंवा व्यवहार प्रवृति छूटने में विघ्न आते होवें तो प्रवृति करते हुए भी आप उस के बाह्य प्रवृति में विशेष चित्त मत रक्खो, रागद्वेष

करे। विना अपना व्यवहार करके अपना चित्त तो आत्मध्यान में और आत्महित में ही रक्खो।

जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव च।
स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः ॥४९॥

बेचारे भोले लोग जो आत्मज्ञान से विमुख हैं वे बेचारे निर्भाग्य लोग अपने बच्चे औरत नौकर आदि की बातों में बड़ा आनन्द मानते हैं और अधम लोग तो दुराचारिणी वेश्या किंवा कुलटाओं के साथ शृंगार रस की बातों में आनन्द मानेंगे किंवा मित्र की सलाह पर विश्वास रक्खेंगे, किन्तु आत्मज्ञानी आत्मा से अतिरिक्त कोई भी हो उस के साथ बातों में आनन्द नहीं मानेगा, बल्कि आत्मध्यान में ही आनन्द मानेगा और इसी में विश्वास रक्खेगा। किन्तु पुत्र कलत्र आदि में न तो उसकी रति होगी और न उस का विश्वास होगा। जिसने शास्त्रज्ञान प्राप्त कर लिया है और आत्मस्वरूप में जिसकी दृष्टि हुई है उस साधु को यह भावना अति उत्तम है, पर नये शिष्यों को योग्यता पाने के लिये गुरु महाराज के पास पहिले शास्त्र श्रवण कर आत्मस्वरूप की पहिचान कर आत्मभावना में बैठना—यह अनुकूल और हितकारी होगा।

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात्किञ्चिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥ ५० ॥

आत्मज्ञानी मुमुक्षुओं को यह हितशिक्षा है कि और किसी कार्य को बुद्धि में बहुत काल तक मत रक्खो ताकि तुम्हारे हृदय में संकल्पों की तरंग उत्पन्न न होवें और मन में रागद्वेष न होवे। पर यदि परोपकार के लिए व्याख्यान और निर्वाह के लिये भोजन आदि जरूरी कार्य करना पड़े तो वाचा और काया से करो, किन्तु उस में उत्कंठा मत रक्खो, नहीं तो रागद्वेष हो जाने से नया कर्म का बन्ध हो जाने पर फिर दुःख पाओगे।

यत्पश्यमीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः ।
अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्य ज्योतिरुत्तमम् ॥ ५१ ॥

आतमज्ञानी के सिर्फ हितशिक्षा दी है कि आप लोगों के हृदय में यह भावना पहिले होनी चाहिये कि मैं जो इन्द्रियों से देखता हूं वह मेरा नहीं है और वह मैं भी नहीं हूं, किन्तु मैं जब इन्द्रियों को कब्जे में लेकर हृदय में स्थिरता करके अन्दर देखता हूं तब मेरे को आनन्द अनुभव होता है सो ज्ञानस्वरूप आतमा का उत्तम स्वरूप है लोक में ज्योति दीपक को कहते हैं। किन्तु वह ज्योति पुद्गल होने से इन्द्रियों से देखी जावेगी, पर आतमज्योति ज्ञानस्वरूप अरूपी होने से केवल ज्ञानी साक्षात् देखेंगे । हम लोगों को तो सिर्फ ध्यान करने से शान्ति और आनन्द अनुभव में आवेगा और शुद्ध परिणाम के अनुसार कर्म कटने से शान्ति आनन्द दिन पर दिन बढ़ता रहेगा और परम्परा से कैवल्यज्ञान होजाने पर साक्षात् भी दीखेगा ।

सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दुःखमथात्मनि ।
बहिरेवासुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः ॥ ५२ ॥

जो भव्यात्मा आत्मध्यान की शुरुआत करता है इस को बाह्य विषय में जो सुख है वैसा सुख अध्यात्म में न होगा क्योंकि विषयों की सुन्दरता का राग छोड़ना अति दुर्लभ है । ललना, लक्ष्मी, मान, सत्ता, पुत्र, परिवार सुखदायी बारंबार दीखता है जिस से न तो उन को छोड़ना अच्छा लगता है न आत्मध्यान अच्छा लगता है, किन्तु ज़बरदस्ती से किंवा देखादेखी किंवा भविष्य में उस ध्यान से आनन्द अनुपम मिलेगा । वैसी भावना से जो पुरुष कभी आतमध्यान में बैठे तो पहिले एक कंटक रूप

हो आत्मध्यान दीखेगा और जिसको आत्मध्यान का आनन्द अनुभव हो रहा है वह धर्मात्मा न रमणी रमा के भोग में फंसेगा . उनके लिये रागद्वेष करेगा किन्तु साधु होकर परमार्थ में जीवन व्यतीत करता हुवा आत्मध्यान में ही रक्त होकर वाह्य व्याख्यान गोचरी (भोजन) में अतृप्त होवेगा, क्योंकि आत्मध्यान के सिवाय उसको कहीं भी आनन्द सुख नहीं दीखता है ।

तद्ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत् ।
येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत् ॥५३॥

अध्यात्मज्ञानी को यह हितशिक्षा है कि कभी आप को आत्मज्ञान में बहुत काल तक स्थिरता न होवे तो आप वही बचन बोलो वही बात दूसरे से पूछो वही इच्छा करो उसी में तत्पर रहो जिससे आप लोगों के आत्मज्ञान की भ्रान्ति जो अविद्या रूप है वह नाश हो जावे और तत्त्वज्ञान आप को प्राप्त होवे । इस श्लोक में बताया गया है कि प्रवृति में दूढ पुरुषों को आत्मध्यान में स्थिरता न होवे तो उसी चर्चा में समय लगाओ जिस से आत्मध्यानमें सहायता होवे धर्मकथा इत्यादि में जो चित्त लगे तो स्वपर उपकार करके भी अन्त में वही सार लाना चाहिये कि जिस से आत्मज्ञान होवे और आत्मध्यान में स्थिरता होवे । संसार में रक्तता यह अविद्या है और विरक्तता यह सुविद्या है ।

शरीरे वाचि चात्मानं संधत्ते वाक्शरीरयोः ।
भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्वं पृथगेषां निबुध्यते ॥ ५४ ॥

जो बेचारे भोले जीव हैं वे आत्मज्ञान से विमुख होने से आत्मा को शरीर मानते हैं किंवा बोलने वाली जिह्वा को ही आत्मा मान लेते हैं । वे जीव भ्रान्ति में पड़े हैं, उनको मालूम नहीं है कि आत्मा के साथ कर्म लगे हैं जिस से जिह्वा मिली है और वाचा का और काया का व्यापार होता है । किन्तु आत्म-

ज्ञानी आत्मा को न तो शरीर मानता न वाचा मानता है, किन्तु आत्मशरीर वाचा से भिन्न है सो ही मेरा आत्मा है। वह पुरुष आत्मध्यान से च्युत नहीं है और वह भ्रान्ति से गिरा हुआ भी पीछे ठिकाने आ सकता है।

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत्क्षेमङ्करमात्मनः।
तथाऽपि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात्॥ ५५॥

जो आत्मा में सुख है निर्वाण का कारण है दुःख का विध्वंस है वह इन्द्रियों के विषय में सर्वथा नहीं है। यत्किञ्चित् दीखता है वह भी आनन्दाभास है जिस में बेचारे भोले जीव अज्ञानता से फंस जाते हैं और इन्द्रियों के विषय में सुख मानते हुवे अपना तन मन धन सब अर्पण करके भी भोगों की वांछा करते हैं जो बहुतसों को प्राप्त हो जाते हैं बहुतसों को नहीं होते, तो भी तृष्णा नहीं मिटती है और अन्य पुण्यवान् पुरुषों की ईर्षा कर के दिनरात जलते हैं, हाय २ करते हैं, अनाचार से वर्तते हैं, अकृत्य करते हैं, राजाओं की शिक्षा पाते हैं, कुल की आबरू गांठ का पैसा और मनुष्यजन्म निरर्थक गवांते हैं तो भी बेचारे न तो सुख पाते हैं न सद्गति बल्कि नरक को जाते हैं।

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मनः कुयोनिषु।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति॥ ५६॥

विषय आनन्दी भोले जीवों के प्रति यह हितशिक्षा है कि आप बहुत काल से संसार में भ्रमण करते हुए चौरासी लाख योनियों में होते हुए इधर आये हो। वह पूर्व का अभ्यास जो अविद्या का है सो अब भी तुमको भ्रान्ति में डालता है और यह यह मेरा है, यह शरीर मैं हूं, मेरा घर, बाग़बगीचे, औरत, बेटे हैं, मैं इनका पालन करने वाला हूं, मेरे भरोसे पर बैठे हैं मेरे हितचिन्तक हैं—ऐसे विचार करते हुए आत्मज्ञान से विमुख हो कर इन्द्रियज्ञान और बाह्य पदार्थ जो आत्मा से अतिरिक्त और

कर्मसम्बन्ध से मिले हुए हैं इस में वे जागृत हैं और इसी में हर्ष शोक अहंकार दीनता सुख दुःख मानते हुए जन्म मरण का दुःख परवश होकर भोग रहे हैं ।

पश्येन्निरन्तरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा ।
अपरात्मधियाऽन्येषा मात्मतत्त्वे व्यवस्थितः ॥ ५७ ॥

अपने शरीर को निरन्तर आत्मा से भिन्न देखना चाहिये और अपने आत्मा में स्थिर होकर अन्य पुरुषों की देह को भी आत्मा से भिन्न मानना चाहिये, क्योंकि उनकी देह को भी आत्मबुद्धि से देखने से फिर रागद्वेष होगा और भ्रान्ति होगी, इस लिये मन में निश्चय करे कि मेरा आत्मा जैसा अरूपी है वैसा अन्य का भी अरूपी है और अरूपी आत्मा का सम्बन्ध हो नहीं सकता, इस से रागद्वेष क्यों करें ।

अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा ।
मूढात्मानस्ततस्तेषां वृथा मे ज्ञापनश्रमः ॥ ५८ ॥

कितनेक प्राणी ऐसे भी हैं जिनको आत्मतत्त्व का ज्ञानाभ्यास बिल्कुल नहीं है, वे रातदिन विषयानन्दी होकर हर्ष शोक का दुःख पाते हैं । वे यदि प्रयास करें तो भी इन्द्रियों का साथ छोड़ने में अशक्त हैं और कभी मैं हितशिक्षा कहने को जाऊं तो वे लोग नहीं समझेंगे, किन्तु मेरे को भी नाहक श्रम होगा, इसलिये उन मूढ आत्माओं को आत्मज्ञान का उपदेश करना निष्फल है फिर मैं नाहक क्यों प्रयास करूं ।

यद्बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः ।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये ॥ ५९ ॥

वे लोग जो इन्द्रियप्रियों को बोध देने को जाते हैं उनको यह हितशिक्षा है कि तुम को सोचना चाहिये कि मैं जिसको बोध देना चाहता हूं वह मैं नहीं हूं और मैं किसी से ग्राह्य भी नहीं हूं, मैं अरूपी हूं और ग्राह्य जो शरीर है उस से आत्मा अलग है

तब मैं क्या किसी को समझाऊं ? जो कर्म का पर्दा उसका खुला होगा तो वह आत्महित चिन्तवन करके आत्मानन्दियों से मिल कर आत्मतत्त्व की शोध करेगा । रोगियों को पहिले मालूम होना चाहिये कि मैं रोग से व्याप्त हूं और दवा करने से निरोगी हो सकूंगा । तब वह वैद्य की शोध में जाकर दवा लेकर निरोगी होगा । इस तरह से शरीर को भिन्न मानने वाला ही आत्महित करने का उद्यम करेगा और कर्म तोड़ने का उद्यम कर कर्मबन्धन से मुक्त हो सकेगा मेरा प्रयास मेरे आत्मतत्त्व चिन्तन के लिये ही योग्य है

बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे ।
तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुकः ॥६० ॥

जो संसार में भ्रमण करने वाले आत्मज्ञान से विमुख मूढ आत्मा हैं वे बाह्य आडम्बर और इन्द्रियविषय में आनन्द मानते हैं और जो आत्मानन्दी प्रज्ञ जीव है वह बाह्य कौतुक चेष्टा से विमुख होकर आत्मतत्त्व में रक्त हैं और आत्मज्ञान से प्रबुद्ध होकर आत्मा में ही सन्तुष्ट हैं ।

न जानन्ति शरीराणि सुखदुःखान्यबुद्धयः ।
निग्रहानुग्रहधियं तथाऽप्यत्रैव कुर्वते ॥ ६१ ॥

जो आत्मज्ञान से विमुख हैं वे बेचारे नहीं जानते कि जो शरीर है वही सुखदुःख है और ऐसा न जानने से वे लोग अपने शरीर में रागद्वेष करके उस पर अनुग्रह निग्रह करते हैं, पहिले शरीर को पुष्ट करने को स्वादिष्ट व्यञ्जन खाते हैं और रोगादि होने से रेचक (जुलाब) पदार्थ लेंगे किंवा उपवास आदि करेंगे किंवा शरीरशोभा के लिये स्वर्ण मोती के आभूषण धारण करेंगे और शरीर से जो अकार्य होगा तो फिर शरीर को शिक्षा करेंगे कोई तो अपघात भी करते हैं । जैसे शरीर को शिक्षा करते हैं वैसे परिवार को भी अनुग्रह निग्रह करते हैं । किन्तु कर्म सम्ब-

न्ध को भूल जाते हैं कि आत्मा से अतिरिक्त शरीर पर क्यों रागद्वेष किया जाय ।

स्वबुद्धया यावद्गृह्णीयात् कायवाक् चेतसां त्रयम् ।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥ ६२ ॥

जहां तक अपना आत्मा आत्मा से विमुख होकर शरीर वाणी और मन में ममता रक्खेंगे किंवा अपना मान कर रागद्वेष करेंगे जब तक ही पुद्गलसमूह कर्म सम्बन्ध से लगकर संसार में जन्म मरण कर भ्रमण करेंगे और दुःख पावेंगे, किन्तु आत्मा में दृढता रखके उन तीनों को न्यारा जानकर उन पर से रागद्वेष दूर करेंगे । तब पुद्गलसमूह दूर होकर आत्मा स्वयं जुदी हो जावेगी और जन्ममरण के दुःख दूर होवेंगे फिर अहङ्कार, दीनता, काम, क्रोध, कपट का काम ही न रहेगा । इस श्लोक में सूचित किया है कि आत्मा से अतिरिक्त काया वचन और मन मानना चाहिये, यदि नहीं मानेंगे तो संसार में भ्रमण होगा और न्यारा मानेंगे तो भ्रमण मिट जावेगा ।

घने वस्त्रे यथात्मानं न घनं मन्यते तथा ।
घने स्वदेहेऽप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः ॥ ६३ ॥

बेचारे भोले जीवों को बारम्बार कहने पर भी याद नहीं रहता है । इस लिये उनको यह हितशिक्षा दी है कि आप लोग कपड़े बहुत पहिनते हो और कपड़े मोटे होने पर भी आप अपनी आत्मा को पुष्ट नहीं मानते हो, इसी तरह से आपको आत्मा में स्थिरता करके सोचना चाहिये कि शरीर पुष्ट होने से आत्मा पुष्ट कैसे होगी ? क्योंकि कपड़े जैसे आत्मा से अलग हैं वैसे ही शरीर भी आत्मा से अलग है । क्योंकि अपने घर में या गांव में किसी की मृत्यु हो जाती है तब आप लोग यह मान कर कि शरीर से जीव अलग हो गया इस (शरीर) को जला देते हैं किंवा गढ़े में दबा देते हैं किंवा जल में डाल देते हैं यदि आत्मा पृथक्

न होता तो पहिले क्यों नहीं जलाते ? और जलाते हो तो आत्मा अलग क्यों नहीं ? यदि अलग है तो शरीर पर क्यों मोह रखना और पुष्ट मानना चाहिये ?

जीर्णे वस्त्रे यथात्मानं न जीर्णं मन्यते तथा ।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः ॥ ६४ ॥

करुणा के सागर गुरु महाराज बालबुद्धिजनको समझाते हैं कि भो भव्यात्मन् ! आप लोग अंग पर पहिरे हुए कपड़े जीर्ण होजाने से अपने आत्मा को जीर्ण नहीं मानते हो । जैसे पुराने कपड़े को फेंक देते हो वैसे आत्माको निकला हुवा नहीं मानते हो किन्तु शरीर में बैठा हुवा ही मानते हो । इसी तरह से जो पुरुष बुध और प्रज्ञहैंवे आत्मज्ञानी पुरुष देह जीर्ण होने से अपने को जीर्ण नहीं मानते हैं; क्योंकि जीर्ण मानने से खेद, दीनता, दुःख और व्याकुलता होगी । कितने भोले जीव अपनी मृत्यु यानी शरीर से अपना अलग होना जानकर पहिले से व्याकुलता करेंगे किन्तु पंडित पुरुष शरीर नाश होने से भी व्याकुल नहीं होता है और न आत्मा में दीनता लाता है ।

नष्टे वस्त्रे यथात्मानं न नष्टं मन्यते तथा ।
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥ ६५ ॥

और भी बाल जीवों को वीतराग प्रभु समझाते हैं भो भद्रक! तुम लोग जिस समय अपना कपड़ा जलता हुवा देखते हो तो कपड़े को दूर फेंक देते हो किंवा कपड़े को बुझा डालते हो यदि सब कपड़ा जल जावे तो आप उसको नष्ट हुवा कहेंगे और मानेंगे किन्तु आप ऐसा न मानेंगे और न कहेंगे कि मेरी आत्मा नष्ट हो गई । इसी प्रकार पंडित पुरुष अपनी काया को नष्ट हुई देख कर यह नहीं मानता कि मैं या मेरी आत्मा नष्ट हो गयी और आत्मा को वैसा नहीं मानने से काया नष्ट होने पर भी आत्मा में दीनता खेद दुःख नहीं लाता है किन्तु शान्ति से

देखता है कि जैसे कर्म होंगे वैसा मेरा शरीर मिलेगा और कर्म न होंगे तो मुक्ति विना इच्छा मिल जायगी ऐसा बुद्धि के अनुसार आप भी मानो और खेद मत करो।

रक्ते वस्त्रे यथात्मानं न रक्तं मन्यते तथा।
रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः॥ ६६॥

कपड़े से शरीर को शोभायमान बनाने वालों को हितशिक्षा है कि कपड़े रंगीन होने पर भी आप लोग आत्मा को रंगीन नहीं मानते हैं वैसे ही आत्मज्ञानी शरीर को रक्त होने पर भी अपनी आत्मा को रंगीन नहीं मानते हैं। जो भोले जीव हैं वे बेचारे ऐसा नहीं जानने से अपने शरीर को सुवर्ण किंवा गुलाबी रंग किंवा गौरवर्ण का देख कर अहंकार करते हैं और श्यामरंग देख कर दीनता बताते और हर्ष शोक करते हैं। दुःख सुख मानते हैं किन्तु आत्मज्ञानी बुद्धिमान् पुरुष अच्छे वर्ण मे न तो आनन्द मानता और न श्यामवर्ण मे खेद मानता है। किन्तु पूर्व कर्म का फल मान कर समता धारण करता है। मैं अर्थात् मेरी आत्मा इस शरीर से भिन्न अरूपी है मेरे को इस वर्ण के साथ क्या निस्बत है?

यस्य सस्पन्दमाभाति निःस्पन्देन समं जगत्।
अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति नेतरः॥ ६७॥

जो आत्मा में स्थिर हुए हैं उनका यह लक्षण है कि जगत् में अनेक व्यावहारिक चेष्टा हो रही हैं गायन रुदन होरहा है जय नाद वा भागने की हायपीट की आवाज हो रही है तौ भी इनके दिल में जगत् शून्यवत् दीखता है और चेष्टा करने वालों को भी जड़ मानता है। उनका सुख स्वाद किंवा दुःख भोगना पुतलियों के खेल के समान होता है। अपने आत्मा को वह सब चेष्टाओं से अलग चिदानन्दस्वरूप मानता है वही स्थिर आत्मा सच्चे सुख को पाता है। किन्तु वैसे सुख दुःखों मे हर्षशोक मे

अहंकार दीनता से अपने को व्याप्त मानता है वह बाह्य आत्मा बालबुद्धि कभी सुख नहीं पा सकता है, किन्तु उसको विषय भोगने से भी सुख या तृप्ति नहीं मिलेगी ॥

शरीरकञ्चुकेनात्मा संवृतज्ञानविग्रहः ।
नात्मानं बुध्यते तस्माद्भ्रमत्यतिचिरं भवे ॥ ६८ ॥

बेचारा भोला जीव ज्ञानी गुरु के समझाने पर भी अपना ज्ञान शरीर आवरण से ढक जाने से नहीं जान सकता कि मैं कौन हूं। यह शरीर दो प्रकार के हैं एक तो बाह्य स्थूल शरीर, और दूसरा अभ्यतर सूक्ष्म शरीर। स्थूल शरीर आयु पूर्ण होने से दूर हो जाता है, किन्तु सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जावे तब अभ्यतर सूक्ष्म शरीर नष्ट हो जाता है और मुक्ति मिल जाती है। जहां तक सूक्ष्म शरीर नष्ट न होवे वहां तक नया स्थूल शरीर मिलता है और सुख दुःख भोगना पड़ता है। इस लिये ज्ञानी भगवान् ने इस श्लोक में हितशिक्षा दी है कि सूक्ष्म शरीर के परदे से आपकी बुद्धि में भ्रम होता है कि मैं शरीर हूं किन्तु भ्रांति छोड़कर, शरीर को भिन्न मान कर शरीर से रागद्वेष दूर करो और आत्मानन्द पाने का अभ्यास करो और भवभ्रमण से छूटो ॥

प्रविशद्गलतां व्यूहे देहेऽणूना समाकृतौ ।
स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तमात्मानमबुद्धयः ॥ ६९ ॥

भोले जीव शरीर को ही आत्मा क्यों मानते हैं? क्योंकि आत्मा शरीर के भीतर रहता है और जितना शरीर उतनाही आत्मा कर्म के सम्बन्ध से होता है। एक स्थूल शरीर छोड़ कर आत्मा सूक्ष्म शरीर के साथ जाता है, और कर्म के अनुसार नया शरीर मिलता है। इतने स्थूल शरीर में आत्मा व्याप्त हो जाती है चींटी की आत्मा हाथी में हाथी तुल्य हो जाती है और हाथी की आत्मा चींटी के शरीर में जाती है तब हाथी बड़ा होने पर

भी चींटी के शरीर तुल्य हो कर चींटी के शरीर में रहता है। जिस में बाह्यआत्मा जो बालबुद्धि वे बेचारे भ्रम में पड़ते हैं कि वह शरीर ही आत्मा है और बढ़ता घटता पुद्गलराशि शरीर आत्मा है किन्तु इतना नहीं जानता है कि वह फेरफार कर्मजनित हैं और कर्म छूट जाने पर आत्मा में कोई फेरफार नहीं होता है और शरीर स्थूल और सूक्ष्म छूट जाने पर भी आत्मा चिदानन्द स्वरूप कायम रहता व सुखदुःख का कृत्रिमआभास बन्द होजाता है।

गौरः स्थूलः कृशोवाहमित्यङ्गेनाविशेषयन् ।
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलज्ञप्तिविग्रहम् ॥ ७० ॥

मैं गोरा मैं काला मैं स्थूल मैं पतला ऐसा शरीर देख कर आत्मा को ऐसा मत मानो किन्तु मेरा आत्मा यानी मैं (आत्मा) न काला हूं न गोरा हूं न पुष्ट हूं न कृश हूं। उस शरीर से मैं भिन्न हूं मेरा आत्मा अनन्त ज्ञानमय (कैवल्य ज्ञान) है यानी पदार्थमात्र को जानना यही मेरा स्वरूप है। ऐसी भावना नित्य धारण करने से हर्ष शोक आदि सब दूर हो जावेंगे। इस भावना को भावने वाले गृहस्थी भी अनाचार से दूर रहेंगे क्योंकि अज्ञानता किंवा मोह से या रूप से मोहित हो कर परस्त्री के फांस में फंस कर इस लोक में मान, शिक्षा, लज्जा, निर्धनता और रोगादि को प्राप्त होते हैं और जो रूप से मोहित न होंगे वे धर्मात्मा अपनी स्त्री में संतोष कर आबरू पा कर सद्गति में जायेंगे और परम्परा से मुक्ति में भी जायगे ॥

मुक्तिरैकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला धृतिः ।
तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः ॥७१॥

जिस के चित्त में अचल धीरज है कि मैं आत्मा हूं शरीर से भिन्न हूं मैं तो कर्म पुद्गल से छूटने पर अवश्य मोक्ष में जाऊंगा ऐसे अचल धीरज वाला पुरुष मुक्ति में जायगा और इस में कोई

भी विघ्न नहीं कर सकता, किन्तु दिन पर दिन आत्मानन्दी होकर शान्ति पावेगा और जो मुक्ति के विषय में धीरज नहीं रक्खेगा किंवा मेरे को मुक्ति मिलेगी अथवा नहीं मिलेगी ऐसी शंका करेगा किंवा बाह्य विकल्पों से मन में चिन्ता रक्खेगा उस पुरुष की मुक्ति होनी दुर्लभ है । क्योंकि अनेक प्रकार के मोह के फांसे सामने आ कर खड़े रहेंगे और वह विषयानन्दी हो जावेगा किंवा मैंने नाहक विषय सुख व्यर्थ किया ऐसे विकल्पों से तृष्णा से पीड़ित हो कर दुःख पावेगा, इस लिये मुमुक्षुओं को आत्म ध्यान में अटल धैर्य रखना चाहिये ।

जनेभ्यो वाक्ततः स्पन्दो मनसश्चित्रविभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥ ७२ ॥

मनुष्यों से बात चीत करने से चित्त में विकल्प होता है और संसर्ग से विकथा होती है इस लिये आत्मानन्दी योगियों को मनुष्य का संसर्ग छोड़ना चाहिये । जो संग अधिक रक्खेंगे तो धर्मकथा में रस नहीं आने से धीमे २ योगी भी गृहस्थी का खुश करने के लिये उन की स्त्रीकथा भोजनकथा देशकथा राजकथा में प्रवृत्त होगा और प्रवृत्ति में पड़ने से मन में विकल्प होगा और विकल्प होने से स्थिरता रहनी कठिन होगी इस लिये योगी को गृहस्थों का संसर्ग अवश्य कम रखना चाहिये । गोचरी धर्मोपदेशादि कारणे प्रसङ्गवश से संसर्ग हो जावे तो उस में उत्कंठा न रक्खे किन्तु आत्मानन्द में विघ्न न आवे इस तरह से अल्प परिचय कर के मन में तो वही भावना रक्खे कि मैं कब आत्महित साधूं ?

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः ॥ ७३ ॥

चाहे कोई ग्राम में निवास करे किंवा अरण्य में निवास करे किन्तु दोनों निवास जो आत्मानन्दी नहीं है उनको दुःख के कारण

हैं। किन्तु जिसको आत्मानन्द हो रहा है वह आत्मा पण्यवान् जीव चाहे जंगल में रहो चाहे शहर में रहो तौ भी उसका जीव आत्मा में भिन्न उस देह से विमुख होकर आत्मा में ही अपना निवास मानता है। जो आत्मा से विमुख होकर अरण्य में रहवे चाहे शहरमें रहवे तौ भी अज्ञानतासे मोहदशा में पीडित होकर दुर्गति में जाता है, इसीलिये भगवान् ने कहा है कि आप अकेले हो किंवा समुदाय में हो जंगल में हो किंवा शहर में अथवा दुःखी या सुखी तौ भी अपने आनन्द से भ्रष्ट मत हो आत्मा में ही मेरापन रक्खो और आत्मा से भिन्न किसी बाह्य उपाधि में मत पड़ो।

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥ ७४ ॥

जिस पुरुष को मुक्ति अवश्य चाहिये उसको यह उपाय बताया है कि दूसरा भाव मिलने का बीज यह अपनी देह में आत्मभावना रखने का है और देह से मुक्त होने का बीज आत्मा में ही आत्म-भावना रखनी चाहिये। यदि आप लोग देहबन्धन से और दुःख-समूह से मुक्त होने की इच्छा करते हो तो अपनी देह को आत्मा मत मानो किन्तु शरीर से भिन्न आत्मज्ञानस्वरूप मानो जिस का स्वभाव इन्द्रियों की वशता से दूर होकर आत्मानन्द में ही दृढ़ रहे।

नयत्यात्मानमात्मैव जन्मनिर्वाणमेव वा।
गुरुरात्माऽत्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥ ७५ ॥

आत्मा को अपनी आत्मा ही जन्ममरण के फांसे में डालता है किंवा जन्ममरण से मुक्त करता है परन्तु और कोई जन्ममरण का फांसा डालने में समर्थ नहीं हैं किंवा जन्ममरण की पीड़ा से छुड़ाने वाला आत्मा के सिवाय कोई नहीं है। इस लिये आत्मा को परमार्थ की बुद्धि से देखा जावे तौ आत्मा का ही उपकार अपकार है और आत्मा का हितशिक्षक गुरु आत्मा ही है और

दुर्गति में डालने वाला भी आत्मा ही है इस लिये सज्जनों को चाहिये कि अपनी आत्मा को अपनी ही आत्मदुर्गति में न लेजावें इस लिये आत्मा से अपर उस देह के सम्बन्धी पुत्रादि का मोह छोड़कर आत्मा में स्थिरता करनी चाहिये।

देहात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः।
मित्रादिभिर्वियोगं च बिभेति मरणाद्भृशम् ॥ ७६ ॥

इस संसार में यह जो बालबुद्धि मोहग्रस्त जीव हैं वह बेचारे अपनी देह में ही आत्मबुद्धि मानकर जिस समय मृत्यु आती है उस समय अपने मित्र कुटम्ब परिवार से अपना वियोग होने से, मरने से बहुत डरते हैं और व्याकुलता दर्शाते हैं। किन्तु मैं आत्मा हूं अमर हूं नाश होने वाला शरीर है मैं इस से अतिरिक्त ज्ञानमय पुण्य पाप का फल भोगने वाला कर्म सम्बन्ध से मिला हुवा शरीर के भीतर हूं और किये हुए कृत्यों के अनुसार फिर नया शरीर बन्धनरूप मिलेगा इस लिये मेरे को व्यर्थ शोक क्यों करना चाहिये। ऐसी भावना भी हृदय में नहीं होती जिस से मरने वाला भयभीत होकर डरता है और उसके अनुयायी भी सभी इस तरह के वियोग को देख कर रोते हैं किन्तु शरीरभिन्न आत्मा होने से स्थूल शरीर को छोड़कर मरने वाला अपने सूक्ष्म शरीर को लेकर नये जन्म में चला जाता है और रोने वाले अनुयायी रोते ही रह जाते हैं।

आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मनः।
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रान्तरग्रहम् ॥ ७७ ॥

जिस पुण्यवान् जीव को आत्मज्ञान हुआ है वह शरीर में आत्मबुद्धि रखता है किन्तु शरीर से भिन्न आत्मा को मानकर शरीर का नाश होते हुए देखकर भी जैसे बालक अवस्था से युवक होता है और युवक से बुड्ढा होता है ऐसे ही बुढ़ापे से

कोई नयी अवस्था मिलेगी ऐसा मानकर कि जैसे कपड़ा फट जाने से पुरुष नये वस्त्र बदलता है और असन्तुष्ट नहीं होता है, इसी प्रकार एक शरीर नष्ट होने पर दूसरा शरीर मिलने से असन्तुष्ट नहीं होता है और भय भी नहीं लाता है। न व्याकुल होता है न रोता है किन्तु धैर्यता रखके अपने अनुयायी, मित्र, परिवार को हितशिक्षा देता है कि जैसे मेरा शरीर कर्म सम्बन्ध पूरा हो जाने से बदलेगा वैसे ही आप का शरीर बदलेगा किन्तु जहांतक थोड़ भी कर्म भोगने बाकी हैं वहां तक फिर नया शरीर मिलेगा और नये सम्बन्धी से संयोग और सब जगह खेद होगा। जिस से यह काया बन्धन से छूट जावे ऐसा उपाय करो जिस से कि हर्ष शोक की जरूरत न रहवे।

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन्सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥ ७८ ॥

जो पुरुष अपनी आत्मभावना छोड़कर व्यवहार में प्रवृत्ति रखता है वह आत्मानन्दी नहीं हो सकता। इन को यह हितशिक्षा दी है कि आप यदि व्यवहार में प्रवृत्ति कम रक्खोगे तो आत्मदृष्टि जागृत हो जावेगी और आत्मानन्द बढ़ता रहेगा और जो आप व्यवहार में प्रवृत्ति अधिक रक्खोगे तो ज्ञान से विमुख रहोगे। इसी आत्मानन्दी होने वाले को बाह्यप्रवृत्ति कम करनी चाहिये और आत्मभावना में दृढ़ होना चाहिये। संसारमें कुशलपुरुषों को भी संभाल रखनी चाहिये कि जब तक आप आत्मा में दृढ़ता नहीं रक्खोगे तब तक आप को बाह्यकुशलता से स्थिर आनन्द नहीं होवेगा किन्तु खेदमिश्रित हर्ष होवेगा और दुर्ध्यान होने पर कुशलता भी चली जावेगी। इस लिये बाह्यप्रवृत्ति करनेवालोंको भी आत्मज्ञान बढ़ाने की मुख्य आवश्यकता है।

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः।
तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत् ॥ ७९ ॥

सद्गुरु महाराज परमकरुणा से फिर हितशिक्षा कहते हैं- भो भव्यात्मन् ! तुम अपनी आत्मा को आत्मस्वरूप से देखो और बाह्यशरीर को और उपाधि (लक्ष्मीललना) को बाह्यसमझ कर दोनों को भिन्न जानकर आत्मा का आत्मा में ही ध्यान करने का अभ्यास करो । जिस से आप लोग अच्युत हो जावें क्योंकि जो आत्मा स्थिर होता है उस को रागद्वेष कम होते हैं और रागद्वेष कम होने से पुद्गलसमूह का नया सम्बन्ध नहीं होता है और पुराना समूह भी धीरे २ क्षय होकर नष्ट हो जाता है। उस की आत्मा निर्मल होती है और निर्मलता बढ़ने से नया जन्ममरण नहीं होता। किन्तु मुक्तिस्थान में जाकर अच्युतपद पाता है। इसी लिये आत्मा और देह की भिन्नता हृदय में निरन्तर विचारनी चाहिये।

पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत् ।
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात्काष्ठपाषाणरूपवत् ॥ ८० ॥

आरम्भ में आत्मतत्त्व का अभ्यास करने वाले भव्यात्माओं को इस जगत् की चेष्टा में रमणी के विलास खेल तमाशे उस उन्मत्त की नाईं दीखते हैं जैसे यदि मदिरा पी कर कोई आदमी बुरी चेष्टा करेगा तो उस पर सज्जन ख़याल नहीं करते किन्तु बेचारे ने नाहक जन्म गंवाया ऐसा मान कर उस पर दया लाते हैं। इसी प्रकार आत्मध्यानी भी खिलाड़ियों और विषयाभिलाषियों पर दया लाते हैं किन्तु स्थिर आत्मध्यानियों को इस जगत् की चेष्टा करने वालों पर ख़याल भी नहीं आता। किन्तु काष्ठपाषाण की तरह स्थिर पड़े हुए मालूम होते हैं। इस तरह स्थिर दीखने से न हंसी आती न खेद होता है।

शृण्वन्नप्यन्यतः कामं वदन्नपि कलेवरात् ।
नात्मानं भावयेद्भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक् ॥ ८१ ॥

भोले जीव जो मन्द बुद्धि हैं वे गुरु से बहुत श्रवण करते हैं और देखादेखी बड़े जोर से यह भी कहते हैं कि आत्मा शरीर से भिन्न है किंवा जब तक आत्मा में दृढ़ भावना शरीर से भिन्न आत्मा की न होगी तब तक मोक्षप्राप्ति होनी असम्भव है। इस लिये मुमुक्षुओं को चाहिये कि श्रवण कर के न बैठे रहैं किन्तु निरन्तर यही भावना रहनी चाहिये कि मैं शरीर से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा हूं मेरे को इस मायाजाल रूपी संसारी विषयों के फंदे में फसना नहीं चाहिये। मैं पूर्व में फंसा था जिस से मेरे को इतना दुःख भोगना पड़ा और जब तक शरीर से मोह नहीं छूटेगा तब तक यह संसारी प्रपंच क़ायम ही रहेगा। जैसे गौ चरने को जाती है किन्तु ध्यान बछड़े में ही है ऐसे ही मुमुक्षु को भी संसारी प्रवृत्ति कार्य्य भ्रात् करें परन्तु ध्यान आत्मा में ही रहना चाहिये॥

तथैव भावयेद्देहाद् व्यावृत्यात्मानमात्मनि।
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत्॥ ८२॥

आत्मानन्दी मुमुक्षुओं को वीतराग प्रभु यह हितशिक्षा देते हैं कि आप लोग ऐसी दृढ भावना देह से भिन्न आत्मा की भाओ जिस से आत्मा में आत्मा स्थिर हो जावे और स्वप्न में भी यह ख़याल न होवे कि मैं शरीर जड़ हूं और जड शरीर मेरा है। किन्तु स्वप्न में भी ख़याल होना चाहिये कि मैं आत्मा चिदानन्द और ज्ञानस्वरूप हूं मेरा इस संसार में कुछ नहीं है मेरी आत्मा निर्बाध, निरामय, अक्षय, अरूप इन्द्रियों से अग्राह्य केवलज्ञान से ज्ञेय है कर्म सम्बन्ध से मैं शरीरबंधन में क़ैद हूं मैं बिना कारण शरीर से मोह करके दुःख भोगता था मैं समझता हूं कि अब मैं इस प्रपंच में नहीं गिरूंगा।

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत्॥ ८३॥

व्रत पालने से पुण्य होता है और पुण्य है सो साता वेदनी देताहै और पाप अव्रत है इस अव्रत से अशान्ति होती है जिससे पहिले अव्रत और पीछे व्रत छोडना चाहिये जिस से न तो असाता दुःख का बंध होवे और न साता (सुख) का बन्ध होवे किन्तु ध्यान रखना कि पाप इतना प्रबल है कि मनुष्य की बुद्धि बारम्बार विगाड़ देता है । इस लिये परमगुरु महाराज जब योग्यता देखें तब आज्ञा दें तो व्रतों का विकल्प छोड़ना चाहिये नहीं तो न घर का न मोक्ष का रह कर बीच में ही घिसटेगा इस लिये अव्रत को छोड़ने में खूब उद्यम करना चाहिये । हिंसा झूठ, चोरी, स्त्रीसंग, परिग्रह इनका छोडना यह व्रत है और हिंसादिक करना यह अव्रत है इस अव्रत को पहिले छोड़ कर व्रत धारण करो और व्रत में हिंसा नहीं है और अव्रत हो जाने से नरक में जाना पड़ेगा । व्रत छोड़ने का अर्थ यही है कि मैं आत्मा हूं आत्मानन्दी हूं बाह्य प्रपंच से मुक्त हूं शिष्यादि सब परिवार से मैं भिन्न हूं । मेरी आत्मा ही मेरी तारक है, मैं न किसी से तरनेवाला और न किसी को तराने वाला हूं ।

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः ।
त्यजेंत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः ॥ ८४ ॥

पहिले अव्रत छोड़ना जिस से किसी जीवको पीड़ा न होवे और पाप छूट जावें और आत्मानन्द की पूर्ण योग्यता हो जावे और गुरु महाराज योग्य समझे तब आत्मा में पूर्ण स्थिरता करके कर्म को काटना चाहिये इस समय आत्मा की इतनी स्थिरता होनी दुर्लभ है कि यदि कोई अंग पर आग लगावे,या चन्दन लगावे तो भी एक पर द्वेष और दूसरे पर रागदशा न होवे । तौ भी पुण्यवान् पुरुषों को धीमे२ अभ्यास पड़ने से ऐसी समाधि आसकती है।

यदन्तर्जल्पसंपृक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मनः ।
मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम् ॥ ८५ ॥

जब तक चिन्ताजाल है तब तक आत्मा को सम्पूर्ण शान्ति नहीं मिलती। इस लिये पहिले दुःखों का मूल अव्रत और सांसारिक विषयस्वाद छोड़ना पीछे स्थिरता होने पर व्यवहार चारित्र जो व्रत विकल्प है और शिष्यादिकों की संभाल और झगड़े हैं वे भी योग्य शिष्यों को सौंप कर संपूर्ण आत्मानन्दी हो जाने से अभिलषित चिरस्थायी मोक्षपद का बीज कैवल्यज्ञान प्राप्त होता है

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः।
परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परोभवेत् ॥ ८६ ॥

पहले संसारभ्रमण का बीज अव्रत छोड़ कर व्रत धारण करना और फिर व्रती होकर गुरु महाराज की सेवा से क्रम से स्थिरता करके ज्ञान पढ़ने में तत्पर होना जीव अजीव पदार्थ का सम्पूर्ण ज्ञान होने पर आत्मानन्दी और अच्छी तरह से आत्मभावना में स्थिर हो कर क्षपक श्रेणी में चढ़ कर कैवल्यज्ञान प्राप्त करो जिस से मोह और अज्ञान का आवरण सम्पूर्ण नष्ट होने पर बिना गुरुकी सहायता के भी आप तर सकेंगे और अन्य भव्यात्माओं को सद्बोध देकर परमपद दे सकेंगे।

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताग्रहाः ॥ ८७ ॥

कितनेक भोलेजीव ऐसा मानते हैं कि ब्राह्मणादिजाति के अतिरिक्त मोक्ष किसी को नहीं मिलता और कितनेक ऐसा मानते हैं कि जटादि चिन्ह बिना मोक्ष नहीं मिलता। उन सब लोगों को यह हितशिक्षा दी है कि जाति और जटादि देह उपाधि के साथ सम्बन्ध रखते हैं। इस लिये ऐसे आग्रह रखने वाले आत्मतत्त्व से विमुख होने के कारण मुक्ति नहीं पा सकते। जिनका आग्रह शरीरादि उपाधि, और जटादि जंजाल में नहीं है किन्तु आत्मा को ही आत्मा मान कर उसकी भावना शरीर से भिन्न भाते हैं,

वे सब अवश्य मुक्ति पायंगे। इसलिये जाति और लिंग का कदाग्रह छोड़ कर किन्तु आत्मभावना में भाव रख कर शरीरादि का मोह छोड़ना चाहिये।

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्तेये जातिकृताग्रहाः ॥ ८८ ॥

पूर्व के श्लोक में जाति और लिंग दोनों का आग्रह बताया है इस लिये आत्मार्थियों को उस कदाग्रह को छोड़ देना चाहिये, और सब प्राणी पर समभाव रखना चाहिये। किसी को नीच जान कर उसका अपमान मत करो क्योंकि वह मनुष्य पूर्व जन्म में जाति का अहङ्कार करने से उस जाति में उत्पन्न हुवा है। यदि वह पुरुष अपने पूर्व अहंकार को निन्दा करे तो अवश्य कर्ममुक्त होकर मुक्ति में जावेगा। यह खूब याद रखना चाहिये कि शरीर पर रागद्वेष रखने से मुक्ति नहीं होती, किन्तु आत्मा की भिन्न भावना से होती है।

जातिलिङ्गविकल्पेन येषां च समयाग्रहः।
तेऽपि न आप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः ॥ ८९ ॥

बालजीवों को फिर भी मन में ऊंचनीच जाति के विकल्पों से यदि अहंकार दीनता आवे तो इनको यह हितशिक्षा है कि आप लोग मैं ऊंच जाति हूं मैं साधु वेषधारी हूं.ऐसीकल्पना मत लाओ और न इसके भरोसे बैठे रहो क्योंकि केवल इस से ही मुक्ति न होगी। ऐसा विचार छोड़ कर यह मानना चाहिये कि मैं आत्मा हूं, मैं अनन्त ज्ञानी हूं, मैं पुद्गल से भिन्न हूं, शरीर जड़ से न्यारा हूं यदि मैं कर्म तोड़ने का अभ्यास करूंगा तो शरीर बन्धन से छूटूंगा। ऐसी भावना से ऊंचनीच का किंवा साधुवेषधारी किंवा गृहस्थीवेषधारी भी कर्म तोड़के परमात्मा होगा। किन्तु जो ऐसा आग्रह रक्खें कि नीच जाति की मुक्ति नहीं हो

सकती किंवा विना साधुवेष मुक्ति नहीं मिल सकती, ऐसे सिद्धान्त पर चलने वाले की मुक्ति नहीं हो सकती इसलिये जाति लिंग का ऐसा कदाग्रह मुमुक्षुओं को छोड़ना चाहिये ।

यत्त्यागाय निवर्तन्ते भोगेभ्यो यदवाप्तये ।
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिनः ॥ ९० ॥

जो बेचारे भोले लोग जाति लिंग का कदाग्रह न छोड़ेंगे उनके दिल में साधुवेष और ऊंच जातिपर प्रीति होगी और अन्य वेष व नीच जाति पर द्वेष होगा इस लिये इन लोगों को संसार के भोग छोड़ने पर भी मोह होने से मुक्ति होनी दुर्लभ होगी । इस लिये मुमुक्षुओं को आत्मदृष्टि पर विशेष भाव रखकर समता धारण करनी चाहिये और समता में ही उनकी मुक्ति होगी । साधुवेष यद्यपि पूजनीय है तो भी आत्मानन्दियों को पूज्यता को लक्ष में रखने से मुक्ति न होगी किन्तु आत्मस्थिरता से ही मुक्ति होगी यह विचारना चाहिये ।

अनन्तरज्ञः सन्धत्ते दृष्टिं पङ्गोर्यथान्धके ।
संयोगाद् दृष्टिमङ्गेऽपि सन्धत्ते तद्वदात्मनः ॥ ९१ ॥

आत्मस्थिरता होने पर भी शंका होगी कि शरीर को ही मूर्ख लोग क्यों आत्मा मानते हैं इसलिये उनको यह हित शिक्षा है कि जिस प्रकार अन्धा और लङ्गड़ा मिल कर चलते हैं तो मंदबुद्धि दूरसे यह कहेगा कि अंधे के चक्षु हैं अर्थात् देखता हुवा मनुष्य चला आता है किन्तु पास जाने से अथवा विचार करने से वह भ्रम दूर हो जावेगा । इसी तरह से शरीर और आत्मा का कर्म सम्बन्ध से संयोग होने से सृष्टिव्यवहार भी चलता है और शरीर में चलने हिलने बोलने की चेतन शक्ति भी देखने में आती है जिससे बालबुद्धि अविवेकी जन शरीर को ही आत्मा मानते हैं और इसके भरोसे रहकर रागद्वेष से नये कर्म में

सम्बन्ध कर जन्म पाते हैं । इसलिये मुमुक्षुओं को ऐसा भ्रम दूर कर अपने आत्मा को भिन्न मानकर आत्मानन्दी होने पर खास ध्यान देना चाहिये जिससे स्वप्न में भी ऐसा भ्रम न होवे ।

दृष्टभेदो यथा दृष्टिं पङ्गोरन्धे न योजयेत् ।
तथा न योजयेद्देहे दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः ॥ ९२ ॥

ज्ञानी गुरु जी कहते हैं कि आप इसी प्रकार आत्मा में समझो जैसे लंगड़े की दृष्टि अन्धे में नहीं हो सकती, किन्तु सम्बन्ध से मूर्खों को यही भ्रम होता है । विचारवान् तो कभी भी अंधे को लंगड़े की दृष्टि आरोपण नहीं करेंगे और न भ्रम में पड़ेंगे किन्तु विचार से निर्णय कर लेंगे । इसी तरह से आप लोग भ्रम में न पड़ो किन्तु आत्मा को शरीर से भिन्न मान कर आत्मभावना में दृढ़ रहो ।

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमोऽनात्मदर्शिनाम् ।
विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य सर्वावस्थात्मदर्शिनः ॥ ९३ ॥

बालबुद्धिजनों को सोने किंवा नशे की अवस्था में अज्ञानता की ही विभ्रम वाली अवस्था दीखतीहै, किन्तु आत्मज्ञानियों को संसारी जीवों की सब अवस्था भ्रम रूप ही दीखती हैं । मैं संसार की चेष्टाओं में भूल से भी न फंसूंगा ।

विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते ।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ॥ ९४ ॥

सब शास्त्रों का ज्ञाता जागृत होने पर भी देह से आत्मा को भिन्न न मानेगा तो मुक्ति नहीं पा सकता, किन्तु आत्मा को देह से भिन्न मानने वाला पुरुष यदि सोता हो किंवा प्रमाद में हो तो भी आत्मज्ञान आजाने पर वह पुरुष कर्म से मुक्त होकर मुक्ति में जावेगा इस लिये भव्य जीवों को हमेशा काया से आत्मा को भिन्न मानना चाहिये ।

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते ।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥ ९५ ॥

भव्यात्माओं को यह हितशिक्षा है कि आप खूब याद रक्खें कि जिसकी जहां बुद्धि है, वहीं उसकी श्रद्धा होगी और चित्त लीन होगा। इस से यह समझो कि यदि आप की बुद्धि शरीर में रहेगी तो आपकी श्रद्धा शरीर में ही रहेगी और चित्त भी शरीर में ही लीन होगा। अन्तिम भावना के जोर से गति भी शरीर के साथ रहेगी किन्तु मुक्ति नहीं मिलेगी। जो आत्मा में बुद्धि रक्खेगा तो उसी में श्रद्धा रहेगी और चित भी आत्मा में ही लीन रहेगा तो अन्त में आत्मा शरीर से मुक्त हो जायगी इस लिये आत्मा में ही बुद्धि, श्रद्धा और चित्त रखना चाहिये।

यत्रैवाऽहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्तते ।
यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः ॥ ९६ ॥

जिसकी जहां बुद्धि नहीं है वहां उसकी श्रद्धा नहीं होती और जहां श्रद्धा नहीं है वहां चित्त लय नहीं होता। इस लिये भव्यात्माओंको अपनी बुद्धि शरीरसे दूरकर आत्मामें लानीचाहिये।

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः ।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥ ९७॥

किसी पुरुष को आत्मभावना न हो अर्थात् चित्त स्थिर न होता हो अथवा बालबुद्धि है उन को आत्मस्वरूप मालूम नहीं होता इस लिये भ्रम होता है, ऐसे प्राणी को यह दृष्टान्त बताया है कि आप लोग अपने घर में दीपक जलते देखते हो और दीवेट (समई) को जलती हुई दीपक के रूप में देखते हो। इसी तरह आप लोग यदि अपनी आत्मा को न पहिचानो तो परमात्मा के निर्मल स्वरूप का ध्यान करो। जिस से परमात्मा का निर्मल स्वरूप हृदय में ठस जाने से आप खुद ही परमात्मा हो सकेंगे, किन्तु परमात्मा में तल्लीनता होनी चाहिये।

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा ।
मथित्वाऽत्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः ॥ ९८ ॥

जिनकी बुद्धि आतमा में स्थिर होगई है उनको यह दृष्टान्त है जैसे वृक्ष की डालों (शाखों) में आपस में घिसने से अग्नि प्रकट हो जाती है इसी प्रकार आतमा आतमा के साथ आलम्बन करने से शरीर से भिन्न परमातमा हो जावेगी । इस लिये परमातमा के आलम्बन से धीमे२ अपने आतमा के शुद्धस्वरूप को ध्यान में लाकर काया का मोह छोड़ना चाहिये ।

इतीदं भावयेन्नित्यमवाचागोचरं पदम् ।
स्वत एव तदाप्नोति यतो नावर्तते पुनः ॥ ९९ ॥

स्थिर आतमाओं को फिर भी हितशिक्षा देते हैं कि बाह्य निमित्त छोड़ के आतमा में ऐसी स्थिरता करो कि जिस का वर्णन वाणी से न होसके । मोक्षपद का ऐसा ध्यान करो कि वहां से फिर लौटना न होवे ऐसा अचल स्थिरपद मिले ।

अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्तत्वं भूतजं यदि ।
अन्यथा योगतस्तस्मान्न दुःख योगिनां क्वचित् ॥ १०० ॥

जो ज्ञानस्वरूप आतमा को भिन्न नहीं मानते उन नास्तिकों को यह सूचना है कि जो आतमा जड़ से भिन्न न होवे तो योगियों को शरीर वेदना सुख दुःख का अनुभव ही न होना चाहिये किन्तु ऐसा होता है यह सब जानते ही हैं । जिस से आतमा भिन्न है वह निश्चय हो जाता है और जो मतान्तरी (अन्यमत वाले) एक आतमा को निर्मल ही मानते हैं, उन योगियों को बिना प्रयास के ही मोक्ष मिलेगा ।

स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि न नाशोऽस्ति यथात्मनः ।
तथा जागरदृष्टेऽपि विपर्यासाविशेषतः ॥ १०१ ॥

क्या किसी ने कभी अपनी आतमा को स्वप्न में नष्ट हुवा देखा ? तो जैसे आत्मा को नष्ट नहीं मानते इसी तरह स्थूल शरीर

न्यारा होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता क्योंकि शरीर आत्मा से भिन्न है। दोनों में विपर्यास समान है।

अदुःखभावितज्ञानं क्षीयते दुःखसंनिधौ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः ॥ १०२ ॥

जिस पुरुष को दुःख सहन करने की आदत नहीं है उस की उत्तम भावना दुःख पड़ने पर नष्ट हो जायगी। इस लिये आत्मध्यानियों को दुःख सहन करने की धीरे २ आदत डालनी चाहिये जिस से उपसर्ग परिषह के विघ्न आवें तो भी आत्मध्यान न छूटे और अकार्य्य करने की आवश्यकता न पड़े।

प्रयत्नादात्मनोवायुरिच्छाद्वेषप्रवर्त्तितात्।
वायोः शरीरय न्त्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु ॥ १०३ ॥

आत्मा में इच्छा होती है तो रागद्वेष को आत्मा का वायु प्रकट करता है और वायु से अपने अपने कार्यों में शरीरयंत्र चलते हैं (कर्मसम्बन्ध जहां तक है वहां तक वायु का भी सम्बन्ध है वह वायु प्राणवायु कहलाता है)

तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्तेसुखं जड़ः।
त्यक्त्वारोपं पुनर्विद्वान्प्राप्नोति परमं पदम् ॥ १०४ ॥

जड़पुरुष बेशरीर यन्त्रों को इन्द्रियों के साथ मिला कर आत्मा में सुख मानता है और अनुकूलता से आनन्द प्रदर्शित करता है, किंतु विद्वान् उन यन्त्रों को भिन्न मान कर रागद्वेष छोड़कर मुक्ति को प्राप्त करता है।

मुक्त्वापरत्र परबुद्धिमहंधियंच संसारदुःखजननीं जननाद्विमुक्तः। ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठस्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितंत्रम् ॥ १०५ ॥

पर में अहंभाव की बुद्धि छोड़कर संसारदुःख की माता से जन्म लेना छोड़कर परमात्मामें रक्त पुरुष चिदानन्द स्वरूपप्राप्त करताहैयहसमाधिशतक ग्रन्थका रहस्यहैसोसमझकर मुक्ति मिलाओ।

संस्कृत टीकाकार के प्रथम अन्तिम श्लोकः—

सिद्धं जिनेंद्रमलमप्रतिमप्रबोधंनिर्वाणमार्गममलंविबुधेन्द्रवंद्यं
संसारसागरसमुत्तरणप्रपोतं वक्ष्ये समाधिशतकं प्रणिपत्यवीरं ॥
येनात्माबहिरन्तरुत्तमभिदात्रेधाविवृत्योदितो मोक्षोऽनन्तचतुष्ट
यामलवपुःसद्ध्यानतःकीर्त्तितः॥जीयात्सोऽत्रजिनःसमस्तविषयः
श्रीपादपूज्योऽमलो,भव्यानंदकरःसमाधिशतकश्रीमत्प्रभेंदुप्रभुः

शांतिनाथप्रभोः स्तुतिः ।

कर्मघ्नं गुणवर्धक जिनपतिं शांतिप्रभुं सेव्यतां
येनात्र स्वतनुं विहन्य विहिता रक्षा कपोतस्य भो
लब्ध्वा चक्रिपदं तथा जिनपदं शांतिर्गतो यच्छिवं
सदत्तेऽत्र परत्र तत्सुखभरं नूनं सदा श्रीपतिः [१]
ये रागादिजयाजिनागतमला स्तीर्णास्तयागारका
स्तीर्थंयैः प्रकटीकृतं तनुभृतां दुःखौघनाशं यतः
ज्ञात्वा शुद्धनिजस्वरूपमचिरान्मुक्तिंश्रिता साधव
स्ते कुर्वंतु सदाशिवं जनपदे देवेंद्रपूज्यांघ्रयः [२]
तत्त्वानां खलुबोधकं जिनपतेर्वक्त्रोद्भवं शासकं
मोहारि प्रलयं सुखस्य निलयं सेव्यं सदा शारदं
रोगे रोगहरं भये भयहरं स्वात्यादि धर्मात्मकं
कः सेवेत न भव्य दुःखहरणं ज्ञानं श्रुतंसुक्तये [३]
गोमेधः सुखदोजिनेधृतरुचौ भव्ये पुरा पुण्यतो
निर्वाणी शिवदायिनी भयहरी तीर्थेशचरणानता
स्तुत्या तीर्थपतेः सदैवभविनां कल्याणराशिर्भवेत्
माणिक्यादिमुखं नमेव लभते भक्तो न किं श्रीपतेः
अनवरपुरे वीरसंवत् २४४१वर्षे चैत्रमासे कृष्णपक्षे
शुक्रवासरेद्वादशीतिथौमाणिक्यमुनिनापन्यासहर्ष
मुनिप्रसादात् विनिर्मिता षोडशजिनपतेः स्तुतिं
सर्वसंपद्दायिनी वक्तृश्रोतृणां च भवतु [५]

शुद्धिपत्रम् ।

—o—

पृष्ठ	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१	८	आमा	आत्मा
३	१३	सम्पर्ण	संपूर्ण
३	१८	चिदामद्	चिदानन्द
३	२८	तप	तब
८	१६	महीं	नहीं
८	२९	अङ्कुकार	अहङ्कार
१२	१३	कोहा	क्रोहा
१३	४	विचारा	बिचारा
१४	२०	देहाद्व	देहादेव
१८	१३	वुद्ध्या	बुद्ध्या
१९	२२	अभिलषत	अनभिलषित
२४	१	पश्यमी	पश्यामी
२८	१६	न्युद्धयः	न्यबुद्धयः
३२	७	ठक	ठक
३३	२	बालवुद्धि	बालबुद्धि है
३४	१४	सर्ग	संसर्ग
३७	१४	छाड़कर	छोड़ कर
३८	८	आमा	आत्मा
३८	१८	ता	तो
३८	२४	खद	खेद
३९	३	किंवा	किन्तु
४०	१३	छाड़	छोड़
४६	२५	जागर	जागरहू
४८	१६	भव	भवं
५८	२६	स्तुतिं	स्तुतिः

मदद करने वालों के नाम।

१५) बा० किशनलाल गोठी इंदौरवाले हेडक्लार्क
एजन्सी सरजन्स औफिस
१३) बा० ऋषभदास जैनी वकील
५) बा० उमरावसिंह वकील मेरठ
५) ला० उमरावसिंह लालचन्द खिवाई वाले
३) ला० सुमेर न्द मुरारीलाल बिनौली वाले
२) बा० दयाचन्द जी ओवरसियर
१) ला० श्रीचंदजी बिनौलीवाले
॥) चुन्नालाल जी अनवरपुर वाले

मिलने के पतेः--

आत्मलब्धि पबलिक जैन लाइब्रेरी मेरठ (तहसील के निकट)
आत्मानन्द जैन लाइब्रेरी, छोटा दरीबा, देहली।
आत्मानन्द पुस्तकप्रचारकमण्डल, देहली और आगरा।
नत्थूराम जैनी जीरा (पंजाब)
सरस्वती पबलिक लाइब्रेरी, हापुड़ (मेरठ)
जैनमित्र मण्डलसभा मांडल जिला अहमदाबाद।
[यहां ग्रन्थकर्ता के दूसरे ग्रन्थ भी मिलसकते हैं]
भीमसिंहमाणिकजैन बुकसेलर, मांडवीशाकगली नं०१ मुम्बई

॥ श्री ॥

॥ छहढाला ॥

पण्डित बुधजन कृत

जिसको

सर्व जैन धर्म्मावलम्बी भ्रातृगणों के हितार्थ मुन्शी नाथूराम लमेचू करहल निवासी ने भाषा टीकाकर

स्थान लखनऊ

लाला कन्हैयालाल भगवानदास जैन के जैनप्रेस में मुद्रित कराकर प्रकाश किया

अक्टूबर सन् १८९८ ई०

प्रथमबार १००० प्रति] [न्यौछावर ≡)

❀ प्रस्तावना ❀

हमारी निंजी छपाई हुई पुस्तकें हमारी दूकान कटनी मुड़वारा में तैयार हैं जिन भाइयों को चाहना होवे वैल्यू पेबिल वा टिकट भेजकर मँगवालेवें उचित दामों पर दीजावेंगी ॥

जैन प्रथम पुस्तक ।) जैन द्वितिय पुस्तक ।।) भाषापूजन विधान संग्रह जिसमें १२ पूजा ३ बिधान व शांति विनती विसर्जन हैं ।।=) पंचकल्याणमंगल -)।। आलोचना पाठ सटीक-)।। वाईसपरीषह योगीरासा -)।। तत्त्वार्थसूत्र मूल मोटे ≡) छहढाला बुधजन कृत सटीक≥) छहढाला द्यानतदासकृत सटीक=)।। ज्ञानानंदरत्नाकर प्र० भाग =)।। ज्ञानानंदरत्नाकर द्वि० भाग ।≥) जैनव्रतकथा ९ रत्न ।=) इनके सिवाय ५० प्रकार-की जैन पुस्तकें बाहर की छपी हैं जिनभाइयों को चाहिये मँगालेवें ॥

आपका कृपापात्र

मुन्शी नाथूराम

बुक्सेलर कटनी मुड़वारा

529

॥ ओम् नमः सिद्धं ॥

अथ छहढाला पं० बुधजनकृत प्रारम्भः

* इष्ट वन्दना (सोरठा) *

सर्व द्रव्य में सार आतम को हितकार है।
नमो ताहि चितधार नित्य निरंजन जानके ॥ १ ॥

जीवद्रव्य, अजीवद्रव्य, धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य और आकाशद्रव्य इन छहों द्रव्यों में सार कहिये श्रेष्ठ जो जीव द्रव्य तिसको हितकारी जो सकल परमात्मा अरिहंत और निकल परमात्मा सिद्ध तिन को नित्य अविनाशी और निरंजन अतींद्रिय सुख के भोक्ता जानकर मैं ग्रंथ कर्त्ता बुधजन चित्त मे धारण कर अर्थात् मन वचन कायसे प्रणाम करताहूं !!!

॥ अथ प्रथम ढाल ॥

* १५ मात्रा (चौपाई छंद) *

॥ इसमें जीवोंके संसार भ्रमण दुःखका कथनहै ॥

आयु घटे तेरी दिनरात। हो निश्चिन्त्य रहो क्यों भ्रात ॥
योबनतनधनकिंकरनारि। हैं सब जलबुद२ उनहारि १ ॥
पूरे आयु वढे क्षण नाहिं। दियें कोटि धन तीरथ माहिं ॥
इन्द्रचक्र पतिभीक्याकरें। आयु अन्तपरते भी मरें २ ॥

यों संसार असार महान । सार आपमें आपा जान ॥
सुखसेदुखदुखसेसुखहोय । समताचारोंगतिनाहिं कोय३ ॥
अनन्तकाल गति२ दुखलहो । बाकी कालअनन्ता कहो॥
सदाअकेलाचेतन्यएक । तो माही गुणबसत अनेक ४ ॥

हे भाई ! तेरा आयु दिनरात क्रमशः घटतोजाती है । तू कैसा बेफिकर होरहा है । यह जवानी, शरीर, लक्ष्मी, सेवक और स्त्री सब पानी के बुलबुला समान क्षण भंगुर विनाशीक हैं ॥ १ ॥ आयु पूर्ण होजाने पर क्षणभर नहीं बढ़ताहै । चाहो करोड़ों रुपये तीर्थ में दान करो ॥ इंद्र चक्रवार्ति भी आयु पूर्णभये पीछे मरतेही हैं । कुछ भी बचाव नहीं कर सकते हैं ॥ २ ॥ ऐसे यह संसार असार है । इसमें सार एक आत्माही है!!! इस संसार चक्रमें क्रमशः सुखके पीछे दुःख और दुःख के पीछे सुख होतारहता है । किसी गति में शांतिता नहीं है ॥ ३ ॥ इस जीवने अनन्तकाल से देव मनुष्य नर्क तिर्यंच चारोंगति में भांति २ के दुःख सहे हैं । और आगे अनन्तकाल सहेगा । यह आत्मा एकेलाही जन्मे है । एकेला ही मरे है एकेलाही चतुर्गति में भ्रमता है । और एकेलाही मुक्तहो सिद्धालय को जाताहै ॥ इस आत्मा में ज्ञानादि अनेक गुण व्याप्त हैं ॥ ४ ॥

तून किसीका तोर न कोइ । तेरा दुख सुख तो को होई ॥
यासे तुझको तू उरधार । परद्रव्यों से मोह निवार ५ ॥
हाड़ मान्सतन लपटा चाम । रुधिर मूत्रमल पूरितधाम ॥
सो भी थिरनरहैक्षयहोइ । याको तजे मिले शिवलोइ६॥
हितअनहिततनकुलजनमाहिं । खोटीबानिहरोक्योंनाहिं॥
यासे पुद्गल कर्म नियोग । प्रणवे दायकसुखदुःखरोग७॥
पांचो इंद्रिन का तजफैल । चित्त निरोध लागशिवगैल ॥
तुझमें तेरी तू करसैल । रहो कहा हो कोल्हू बैल ॥ ८ ॥

हे जीव तू किसी का सम्बन्धी नहीं है। और न तेरा कोई सम्बन्धी है । तेरो दुःख सुख तुझको ही व्यापेगा अन्य को नहीं इसमे तू आत्म स्वरूप का विचार कर । और पुद्गलादि परद्रव्य देहादिक तिनसे प्रेम छोड़दे ॥ ५ ॥ यह शरीर हाड़ मांसका बनाहुआ है । और चमड़े से मढ़ा है । अर्थात् खाल से ढका है । रुधिर और मल मूत्रसे भरा है । तिस परभी स्थिर नहीं रहता नियम कर विनश ही जाता है । इसको छोड़ने से जीव मुक्त होताहै ॥ ६ ॥ अपनी भलाई बुराई और शरीर तथा कुटुम्ब वालों से हानि कारक भाव क्यों नहीं छोड़ता है ? इस मिथ्या प्रवृत्ति से कर्मों का निमित्त पाय पुद्गल वर्गना जिनसे कि शरीर बनता है दुःख सुख रोग को देनेवाली परणवे हैं ॥ ७ ॥ इसमे पांचों इन्द्रियों के विषयों को रोककर मोक्षमार्ग में प्रवर्त्तन कर । अपने आत्मीक गुणों में रमण कर । क्यों कोल्हू के बैल की नाई आलसी अन्धा बना सन्सार में भ्रमण करता है ॥ ८ ॥

तज कषायमनकी चल चाल । ध्यावो अपना रूपरसाल॥
झड़ें कर्म बन्धन दुःखदान । बहुरि प्रकाशे केवलज्ञान ९॥
तेरा जन्म हुआ नहीं जहां । ऐसा कोई क्षेत्र सो कहां ॥
याहीजन्मभूमिका रचो । चलो निकलतो विधिसेबचो १०॥
सब व्यवहार क्रियाका ज्ञान । भयो अनन्तबारप्रधान ॥
निपटकठिनअपनीपहिचान ताकोपावतहोयकल्याण ११॥
धर्म स्वभाव आप श्रद्धाण । धर्म न शीलन न्हौन नदान॥
बुधजन गुरुकीशीखविचार । गहो धर्मआपननिर्धार १२॥

क्रोधादि कषाय और मनकी कुटिल चंचल चाल छोड़ । और अपने अनूपम आत्म सुरूप का ध्यानकर ॥ जिससे दुःख के देनेवाले कर्म बन्धन छूट जावें । और केवल ज्ञान प्रगट होवे ॥ ९ ॥ लोक में ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है तहां तेरा जन्म न हुआ होवे । अर्थात् पवन कायके जीव सर्वत्र होते हैं सिद्धों के स्थान में भी होते हैं । तू इसी जन्म भूमिको अपनी मान मोहित हुआ है ॥ यदि सम्यक् उपाय कर निकले तो कर्म बन्धन से बचे अर्थात् छूटे ॥ १० ॥ सब

प्रकार की व्यवहार क्रियाओं का ज्ञान अनन्त वार हुआ है । परन्तु निज सुरूप का ज्ञान जो अत्यन्त कठिन है सो नहीं हुआ जिसके जानने से परम कल्याण आत्म हित होता है ॥ ११ ॥ स्वाभाविक धर्म निज सुरूप का श्रद्धाण है । मैथुन त्याग स्नान दानादि ये स्वाभाविक धर्म नहीं व्यवहारक कृत्रिम धर्म हैं ॥ धर्म के साधन हैं ॥ इससे (बुधजन काव्य कर्त्ता कहते हैं) हे बुधजनो गुरुकी शिक्षापर विचार करो । और निर्णय करके आत्मधर्म को ग्रहण करो ॥ १२ ॥

इति प्रथम ढाल सम्पूर्ण ! ! !

* अथ द्वितिय ढाल *

२८ मात्रा (नरेन्द्र छंद) जिसे योगी रासा भी कहते हैं॥

इस में प्रथम ढालके प्रयोजन का कारण ग्रहीत अग्रहीत मिथ्या दर्शन ज्ञान चारित्र का कथन है ॥

सुनरे जीव कहतहों तुझ से तेरे हित के काजे ।
होनिश्चल मन जो तू धारे तो कुछ इकतोहिलाजे ॥
जिस दुःखसे थावर तन पाया बरण सकों सो नाहीं ।
अठदशबारमरा और जन्मा एकस्वासकेमाहीं ॥ १ ॥
काल अनन्तानन्त रहो यों पुन विकलत्रय हूवो ।
बहुरि असेनी निपट अज्ञाणी छण छण जन्मो मूवो ॥
पुण्य उदय सेती पशु हूवो बहुत ज्ञान नहिंभालो ।
ऐसे जन्म गये कर्मों वश तेरा जोर न चालो ॥ २ ॥

हे जीव तेरे हितको कुछ उपदेश करताहूं सो तू सुन । जो तू चित्तको स्थिर कर अवधारण करे । तो तू अपने सुरूप को विचार लज्जित होवे (कि हाय मैंने

बिना जाने इतने कष्ट सहे) । स्थावर योनि जनित शरीर साधारण कर २ जो जे दुःख सहे हैं तिनको मैं नहीं कह सकता सर्वज्ञही जानते हैं ॥ जहां निगोद शरीर में एकही स्वास में अठारह बार जन्म मरण हुआ है ॥ १ ॥ सो अनन्त काल तो तिस निगोद योनिही में रहा। फिर विकलत्रय (दो इंद्री तेइंद्री चौइंद्री) क्रमशः हुआ। फिर महा अज्ञान असेनी पंचेंद्री हुआ तहांभी क्षण २ में असंख्य जन्मन मरण किये ॥ फिर किसी पुण्य के उदयसे पंचेंद्री सेनी पशु हुआ मन पाया तोभी विशेष ज्ञान न पाया। इस तरह कर्मों के वशमें पड़ अनन्त जन्म खोय परंतु विचार बिना तेरा कुछभी बल न चला ॥ २ ॥

जबर मिलो तब तोहि सतायो, निबल मिलो तें खायो।
मात त्रिया सम भोगी पापी ताते नर्क सिधायो ॥
कोटिक बिच्छू काटें जैसे ऐसी भूमि जहां है।
रुधिर रांधि जल छार बहे जहां दुर्गंधि निपटत हां है ३ ॥
घाव करें असि पत्र अंगमें शीत उष्ण तन गालें।
कोई काटें कर गहि केई पावक में पर जालें ॥
यथायोग्य सागर स्थिति भुगतें दुःखका अन्त न आवे।
कर्म बिपाक ऐसाही होवे मानुष गति तब पावे ४ ॥

जब तुझे तुझसे बलवान मिला उसने तुझे मारा खाया और तुझसे निर्बल मिला उसे तूने मारा खाया। तूने पशु योनि में जिस माता से जन्म पाया उसी से तरुण होकर स्त्री के समान काम सेवन किया और तिस महा पापसे नर्क में पड़ा। तहां की भूमि ऐसी दुःख देनेवाली है कि जैसे करोड़ो बिच्छू काटते होवें। ऐसा महा कष्ट भूमि स्पर्श से होता है ॥ जहां दुर्गंधित रुधिर, पीव और क्षार जलसे बैतरनी नदी बहती है ॥ ३ ॥ और तलवार के समान सेमल के पत्ते देह पर गिरकर घाव करते हैं। और अत्यन्त शीतता पालावत और अत्यन्त उष्णता अग्नि ज्वालावत देहको जलाती है ॥ और नारकी कई एक पकड़कर काटते हैं कईएक अग्निमें जलाते हैं ऐसे सागरों पर्यन्त बन्धके अनुसार दुःखभुगतने पड़ते हैं ॥

जबकभी कि ऐसा कर्म विपाक होवे कि किंचित शांति भाव होवें तो मरकर मनुष्य जन्म पाता है ॥ ४ ॥

मात उदर में रहै गेंद हो निकसतही बिललावे ।
डाथा दांक कलां बिस्फोटक डांकनसे बच जावे ॥
तो यौवनमें भामिनके संग निशि दिन भोगरचावे ।
अन्धा होधन्धा दिन खोवे बूढ़ा नाड़ि हलावे ५ ॥
यम पकड़े तब जोर न चाले सेनहीं सेन बतावे ।
मन्द कषाय होंय तो भाई भवनत्रक पद पावे ॥
परकीसम्पति लखिअति झूरे के रतिकाल गमावे ।
आयुअन्त मालामुरझावे तब लख लखपछतावे६॥

माता के पेट में सुकड़कर गेंदके समान ९ मास टंगारहै और बाहर निकलते ही रोवे है । डाबा (सूखी) दांत और बड़ी चेचक (माता) और चुड़ैलों से बचजावे तो तरुण होने पर रात्रि दिन स्त्री के भोगविलास मे मग्नरहै । और व्यपार धन्धे में अन्धा हो समय बितावेहै । और जब वृद्ध होवे तब शिर हिलने लगता है । मानो सर्व कामों को नाहीं करता है ॥ ५ ॥ और जब मरण समय निकट आवे तब निर्बलता से न बोल सकने के कारण इशारों से बतलावे हैं ॥ यदि मरणसमय क्रोधादि कषाय कुछ मंद होवें तो भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी देवों में उपजे है । तहां बड़ेदेवों की ऋद्धि देख २ मनमें झुरै है ॥अथवा विषय भोगोंमें समय खोवे है । और जब मरण समय निकट आवे तब माला मुरझाते देख पश्चाताप करता है ॥ ६ ॥

तहां से चलके थावर होवे रुलता काल अनन्ता ।
या विधि पंज परावर्तन दे दुःखका नाहीं अन्ता ॥
काल लब्धि जिन गुरू कृपासे आप आपको जाने ।

तबहीबुधजन भवोदधितरके पहुंचजाय निर्बाण ७॥

तहां से मरण कर स्थावर (पृथ्वीजल अग्नि पवन बनस्पति) योनिमें भ्रमण अनन्त काल तक करताहै । ऐसे पंच परावर्तन (द्रव्य परावर्तन १ क्षेत्र परावर्तन २ काल परावर्तन ३ भवपरावर्तन ४ भावपरावर्तन ५) करते अनन्त दुःख सहता है ॥ जबकभी काल लब्धि निकट आवे तब जिनेंद्रदेव वा सुगुरु की कृपासे आत्मस्वरूप स्वरूप को जाने है बुधजन कहते हैं कि तबही संसार समुद्र से पार होकर जीव मोक्षस्थान (सिद्धालय) में पहुंच जाता है ॥ ७ ॥

इतिश्री द्वितियढाल सम्पूर्णम् ॥

* अथ तृतिय ढाल *
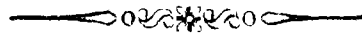
जिसमें सम्यक्त्व होनेका वर्णन है !!!

॥ पद्धड़ी छंद ॥
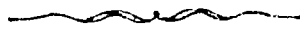
जिसमें प्रत्येक पद की १६ मात्रा हैं

इसविधिभवबनकेमाहिंजीव । वशमोहगहलसोतासदीव ॥
उपदेशतथासहजहीप्रबोध । तबजागोज्यौंरणउठतयोध १ ॥
तबचिन्ततअपनेमाहिंआप । मैं चिदानन्द नहींपुण्यपाप ॥
मेरे नाहीं है रागभाव । ये तोविधिवस उपजे विभाव २ ॥

इस प्रकार से सन्सार रूप बन में मोह के बशहो यह आत्मा अचेत हो सदा से गहरी नींद सोता है । सो सुगुरुके उपदेश से वा स्वतः मोह नींद के घटने से सचेत हो जागा । जैसे रणमें योद्धा मूर्छा से उठाहो ॥ १ ॥ तब आपही आप

मन में विचार करने लगा कि मैं चिदानन्द आत्मा हूं न पुण्यहूं न पापहूं ॥ ये अहंकार ममकार रूप रागभाव मेरे नहीं हैं ये तो कर्मोंसे उपजे विकार भाव हैं २ ॥

मैंनित्यनिरंजनशिवसमान । ज्ञानावरणी आच्छादाज्ञान॥
निश्चयशुद्धइकव्यवहारभेव। गुणगुणीअंगअंगीअतेव३॥
मानुष सुर नारकपशुपर्याय। शिशुज्वानवृद्धबहुरूपकाय॥
धनवानदरिद्रीदशाराय। यहतो विढम्बमुझेनासोहाय ४ ॥

मैं सदाकाल नित्य अविनाशी हूं । सिद्धके समानहूं ॥ ज्ञानावरण कर्मने मेरा ज्ञान रोक रक्खा है । सो निश्चयनयके भेद कर तो मैं एक शुद्ध आत्माहूं । और व्यवहार नयके भेदकर गुणगुणी अंग अंगी आदि पर्याय ॥ ३ ॥ वा मनुष्य, देव, नारकी, और पशु पर्याय वा बालक जवान बूढ़ा आदि अनेकरूप अवस्था तथा धनवान दरिद्री राजा आदि अवस्था सो ये कर्मोंके संयोग से हैं । सो विडम्बना पाखंड है मुझे प्रिय नहीं है ॥ ४ ॥

स्पर्श गन्ध रसवर्ण नाम । मेरे नाहीं मैं ज्ञान धाम ॥
मैंएकरूपनहींहोतऔरमुझमेंप्रतिबिम्बितसकलठौर५॥
तनपुलकितवरहर्षितसदीव। ज्योंभईरंकग्रहनिधिअतीव॥
जवप्रबलअप्रत्याख्यानथाय। तबचितपरणतिऐसीउपाय६

स्पर्श रस गन्धवर्ण ये नाम हैं सो पुद्गलके हैं मेरे नहीं हैं । मैं ज्ञान का घर हूं । एकरूप हूं अन्यप्रकार नहीं होता हूं । मेरेज्ञान में समस्त स्थान झलक रहे हैं॥ ५ ॥ ऐसा सम्यक् श्रद्धाण होनेसे शरीर प्रसन्नतासे प्रफुल्लित होरहा है । मानो दरिद्रीके घरमें अटूट खजाना प्रगट हुआ होवे ॥ जब तीव्र अप्रत्याख्यानावरण कर्मका उदय है । और अनन्तानुबन्धी का क्षय वा उपशम हुआ है । तब चित्त में ऐसी परणति उत्पन्न हुई है ॥ ६ ॥

सोसुनोभव्यचितधारकान । वर्णत मैंताकाविधिविधान॥
शिवकरैंकाजघरमाहिंबास।ज्योंभिन्नकमलजलमेंनिवास७

ज्योंसती अंगमाहीं शृंगार। अतिकरे प्यारज्योंनगरनारि॥
ज्योंधायचुखावति अन्यबाल।त्योंभोगकरतनाहींखुसाल ८

सो हे भव्यजीवो मन लगाकर कानदे सुनो। मैं तिसका वर्णन विधि पूर्वक करता हूं॥ जिन जीवों को स्वानुभव बोध लाभ हुआ है। वे घरमें बास करते भी मोक्ष होनेका उपाय करतेरहतेहैं। उनका घरमें बास करतेभी जैसे जलमें कमल रहते भी जलसे अलिप्त रहता है तैसेही घरसे प्रेम रहित बास है॥ ७॥ अथवा जैसे पतीव्रता का शृंगार पर पुरुषों से प्रेमको नहीं है। वा वेश्या का प्रेम मित्रों से बाहरी है अंतरंग नहीं। तथा धाय बालक को दूध पिलाती खिलाती कुदाती प्यार करती है। तिसपर भी जानती रहती है कि यह बालक परायाहै तैसेही सम्यग्दृष्टी जीव सन्सार भोग करतेभी भोगोंसे विरक्तही रहतेहैं८

जो उदय मोह चारित्रभाव। नहीं होतरंचहूत्यागताव॥
तहांकरै मन्दखोटेकषाय। घरमेंउदासहो अथिरथाय ९॥
सबकीरक्षायुतन्यायनीति। जिनशासनगुरुकीदृढ़प्रतीति॥
बहुरुले अर्द्धपुद्गलप्रमाण। शीघ्रही मरतले परमथान १०॥
वे धन्यजीवधन्यभाग्यसोइ। जिनकेऐसीसुप्रतीतिहोई॥
तिनकीमहिमाहैस्वर्गलोइ। बुधजनभाषेमोसेनहोइ ११॥

यद्यपि चारित्र मोह प्रकृति के तीव्र उदयसे किंचित् (थोड़ाभी) त्यागनहीं होसकता है। तथापि खोटे कषाय भावों को मन्दकर उदास रहे हैं ऐसी आकुलता रहती है कि कब यह घरबास छूटे और आत्म कल्याण करें॥ ९॥ इसी से सबकी रक्षा न्याय नीतिसे करते हैं॥ और सर्वज्ञ भगवान का आज्ञा और गुरुके बचनों की दृढ़ प्रतीत करते हैं चिरकाल अर्द्धपुद्गल प्रमाण काल सन्सार में भ्रमे हैं तौभी सम्यक्त्व प्राप्ति होनेसे मरके स्वर्ग में प्राप्त होते हैं॥ १०॥ वे जीव धन्यबाद के योग्य हैं उनका भाग्य है। जिनके ऐसा सम्यक् श्रद्धाण होवे। तिनकी प्रशंसा स्वर्ग के इन्द्र करते हैं। काव्य कर्त्ता बुधजन कहते हैं कि मैं नहीं कर सकता हूं॥ ११॥

इतिश्री तृतीयढाल सम्पूर्ण॥

* अथ चतुर्थ ढाल *
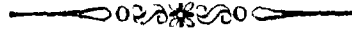
इस में व्यवहार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र एकोदेश श्रावक धर्म का कथन है !!!

॥ सोरठा छंद ॥

इसके प्रथम तृतीय पदों में ग्यारह २ मात्रा और द्वितिय चतुर्थ पदों में तेरह २ मात्रा होती हैं !!!

ऊगो आतम सूर दूर गयो मिथ्यात्त्व तम ।
अबप्रगटो गुणपूर ताको कुछइककहतहों ॥ १ ॥
शंका मनमें नाहिं तत्त्वार्थ श्रद्धाण में ।
निर्वांछक चित माहिं परमारथ में रत रहैं ॥ २ ॥
नेंकनकरतेग्लानिबाह्यमलिनमुनिजनलखें।
नाहीं होत अजान तत्त्व कुतत्त्व विचार में ॥ ३ ॥
उरमें दया विशेष गुणप्रगटें औगुण ढकें ।
शिथिल धर्म में देख जैसे तैसे थिरकरें ॥ ४ ॥

आत्मज्ञान रूप सूर्यका हृदय में प्रकाश होनेसे मिथ्यात्त्व अन्धकार चलागया । तिसके कारण से जो गुण प्रगट हुए तिनका कुछ वर्णन करताहूं ॥ १ ॥ तत्त्वार्थ

श्रद्धाण में कुछभी आशंका न रहीं। और सर्व विषय भोगों की चाह छोड़ परमार्थ जो मुक्ति का साधन तिसमें स्थिर रहते हैं॥ २॥ और संयमी लोगों को स्नान रहित मलिन शरीर देख घृणा नहीं करते हैं॥ और तत्त्व कुतत्त्व के विचार में अजान असावधान नहीं होते हैं॥ ३॥ हृदय दयाकी अधिकता होनेसे धर्मात्माओं के गुण प्रगट करते और अवगुणों को ढांकते हैं। जिसको धर्म में ढीला देखते हैं उसे जिस प्रकार बने उस प्रकार स्थिर करते हैं॥ ४॥

साधर्मी पहिचान करैं प्रीतिगोवच्छसम।
महिमा होय महान धर्म कार्य्य ऐसे करैं॥ ५॥
मदनहीं जोनृपतातमदनहीं भूपतिमामको।
मदनहींविभवलहातमदनहींसुन्दररूपको॥ ६॥
मदनहींहोयप्रधानमदनहीं तनमें जोरका।
मदनहींजोविद्वानमदनहींसम्पतिकोषका॥ ७॥
हूवो आत्मज्ञान तज रागादि विभावपर।
ताकोहोक्योंमानजात्यादिकवसुअथिरका॥ ८॥

साधर्मी को पहिचान कर एसी प्रीति करें जैसी गाय बछरा से करती है॥ और सदा ऐसे धर्म कार्य करें कि जिनसे धर्मका महत्त्व बढ़े॥ ५॥ यदि राजा का पुत्र होवे तोभी कुलका मद न करे। यदि राजाका भानेज होवे तोभी जाति का गर्व न करे। चाहो जैसा ऐश्वर्य होवे परन्तु ऐश्वर्य का अभिमान न करे॥ चाहो जैसा रूपवान होवे पर रूपका घमंड न करे॥ ६॥ चाहो जैसा चालेवाला होवे प्रधानता का अभिमान न करे। चाहो जैसा धन होवे परधनका गर्व न करे ७ आत्मज्ञान होनेसे पर पदार्थों में रागादि विभाव भाव त्याग करे काहे से कि जिस को सम्यग्ज्ञान हुआ वह जात्यादि नाशवान् वस्तुओं में प्रेम कैसे करेगा? अर्थात् न करेगा ऐसी सम्यग्दृष्टियों की स्वाभाविक रीति है॥ ८॥

वन्दतहैंअरिहंतजिनमुनिजिनसिद्धांतको।

नवेंन देख महन्त कुगुरु कुदेव कुधर्म को ॥ ६ ॥
कुत्सितआगम देवकुत्सित पुनसुरसेव की।
प्रशंसा षट भेव करें न सम्यक् वान हैं ॥ १० ॥
प्रगटोऐसाभावकिया अभावमिथ्यात्वका ।
बन्दत ताकेपांव बुधजन मन बचकायसे ॥ ११ ॥

अर्हंत भगवान् और जिन मुद्रा धारक मुनि और जैन सिद्धान्त को बन्दना करते हैं। और बड़े महन्त भी देखने में होवें परंतु कुलिंगी देव गुरुधर्म होवें तो तिनको नमस्कार नहीं करते हैं ॥ ९ ॥ और खोटा आगम (कुशास्त्र) खोटा देव गुरुकी सेवा प्रशंसा नहीं करते हैं ऐसे तीन मूढ़ता छः अनायतन से अलग रहते हैं ॥ १० ॥ जो सम्यग्ज्ञान श्रद्धाण के धारक हैं। जिनके ऐसा सम्यक्त भाव प्रगट हुआ है और मिथ्यात्व भाव जिनने अभाव किया है। तिनके चरण कमल को बुधजन काव्य कर्ता मन बचन शरीर से बन्दना करते हैं ॥ ११ ॥

इतिश्री चतुर्थढाल सम्पूर्ण ॥

* अथ पंचम ढाल *

जिसमें बारह व्रतका वर्णन है ॥

(मनहरण छंद)

जिसके प्रत्येक पद में १४ मात्रा हैं !!!

तिर्यंच मनुष दो गतिमें। व्रतधारक श्रद्धा चित में ॥

सो अगलितनीर न पीवें। निशि भोजनतजेंसदीवें॥ १॥
मुख बस्तु अभक्ष्यन खावें। जिन भक्ति त्रिकालरचावें॥
मन बचतन कपट निवारें। कृतकारित मोद सम्हारें॥२॥
जैसे उपशमत कषाय। तैसा तिन त्याग कराया॥
कोई सात बिसन कोत्यागें। कोई अनुव्रत तप लागें॥ ३॥
त्रिस जीव कभी नहीं मारें। न वृथा थावर संहारें॥
परहितबिनझूठन बोलें। मुख सत्य बिनानहीं खोलें ४॥

तिर्यंच और मनुष्य दो गति में अणुव्रत के धारक जीव होते हैं। सो विना छना पानी नहीं पीते। और कभी भी रात्रिको नहीं खाते पीते हैं॥ १॥ और अभक्ष्य बस्तु तो कभी खाते पीते ही नहीं हैं। त्रिकाल जिनेंद्र देवकी भक्ति में लवलीन रहते हैं। और मनसे वचनसे शरीर से छल कपट नहीं करते हैं। न आप पाप कार्य करते हैं न दूसरों से प्रेरणा वा उपदेश सम्मति देकर कराते हैं। और न पाप कार्य को व करनेवालों को भला समझते हैं न उनकी प्रशंसा करते हैं॥ २॥ जिस जीवके जैसा२ कषायों का क्षयोपशम होता जाता है। तैसा२ ही वह त्याग व प्रतिज्ञा करता जाता है॥ कोई तो जुआ मांस मदिरा चोरी हिंसा वेश्या परस्त्री इन सात दुर्विसन काही त्याग करते हैं कोई अहिंसा सत्य अचौर्य शील परिग्रह प्रमाण ये ५ अनुव्रत पालते हैं॥ ३॥ कभी भी त्रिस (जंगम) जीवों को नहीं मारते हैं। न विना प्रयोजन स्थावर जीवों का नाश करते हैं। पराये हित बिना स्वार्थ को झूठ नहीं बोलते हैं अर्थात् जो स्वाभाविक धर्मात्मा है उससे कोई भूल में अपराध हुआ हो और वह उसके कारण फंसता होवे तो उसके वचाने को झूठ बोलें अथवा जिसमें निरापराध फसता होवे और अन्य का नुकसान न होता होवे तो उसकी रक्षाको झूठ बोलें अन्यथा झूठ बोलने को मुख न खोलें जबबोलें तब सत्य बचनही बोलें॥ ४॥

जल मृतिकाबिन धनसबही। बिनादिये न लेवेंकबही॥

ब्याही वनिता बिन नारी । लघु बहिन बड़ी महतारी ५॥
तृष्णा का जोर सकोचें । जादे परिग्रह को मोचें ॥
दिशिकी मर्यादा लावें । बाहर नहीं पांव हलावें ॥ ६ ॥
तामें भी पुर सर सरिता । नित राखत अघ से डरता ॥
सब अनर्थ दंडन करते । त्तण २ जिन धर्म सुमरते ॥७॥
द्रव्य त्तेत्र काल शुभ भावे । समता सामायक ध्यावे ॥
प्रोषध एकाकी हो है । निश्किंचन मुनिज्यों सोहै ॥ ८ ॥

पानी और माटी जिसके लिये मनाही नहीं है । इनदो के सिवाय कोई वस्तु बिना दई न लेवें । अपनी बिवाही स्त्री के सिवाय अन्य छोटी नारी को बहिन बड़ी को माता के समान जानें ॥ ५ ॥ और तृष्णा अधिक धन आदि की बांछा तिसका बल घटावें हैं । और अधिक का त्यागकर आवश्यक थोड़ा राखते हैं ॥ दिशा बिदिशा में आने जाने की भेजने बुलाने की मर्यादा करें । मर्यादा बाहर पैर न रखें ॥ ६ ॥ फिर तिस में भी बस्ती तालाव बगीचा आदि की मर्यादा करें और पाप से सदा डरते रहे हैं कोई भी व्यर्थ पाप नहीं करते हैं ॥ हर घड़ी जिन धर्म का स्मर्ण करते हैं ॥ ७ ॥ द्रव्य त्तेत्र काल भाव चारों की शुद्धता पूर्वक समता भावों से सामायक काल साधते हैं । प्रोपधोपवास के दिन एकान्त में नग्नहो निःपरिग्रह मुनि की नाई ध्यान धरते हैं ॥ ८ ॥

परिग्रह परिमाण बिचारें । नित नेम भोग का धारें ।
मुनि आवन बेला जावे । तब योग्य असन मुखलावे९॥
यों उत्तम कार्य करता । नित रहत पाप से डरता ॥
जबनिकटमृत्यु निज जाने । तबहीसब ममताभाने ॥१०॥
ऐसे पुरुषोत्तम केरा । बुधजन चरणों का चेरा ॥
वे निश्चय सुरपदपावें । थोड़े दिन में शिवजावें ॥११॥

परिग्रह का परिमाण विचार पूर्वक करें जितना आवश्यक होवे उतनाही राखें ऐसेही प्रतिदिन भोग उपभोग का परिमाण करें ॥ और मुनिआवें तो उनको आहार देकर भोजन करें । और न आवें तो आहार का समय होजाने बाद शुद्ध उचित भोजन करें ॥ ९ ॥ ऐसेसदा उत्तम कार्य करते और सदा पाप से डरते हैं । जब मरण काल निकट देखें तब सर्व जड़ चेतन्य पदार्थों से ममत्व त्याग स्वात्मा का विचार करें हैं ॥ १० ॥ ऐसे जो धर्मात्मा उत्तम पुरुष हैं । तिनके चरण कमल के बुधजन कहते हैं कि हम दास हैं । वे धर्मात्मा पुरुष निश्चयकर सुरपदका सुख भोग कर अल्पकाल में मुक्त होवेंगे ॥ ११ ॥

इतिश्री पंचमढाल सम्पूर्ण ॥

* अथ षष्ठम ढाल *

जिसमें मुनि धर्म का कथन है ॥

॥ रोला छंद ॥

॥ इसका प्रत्येक पद २४ मात्राका होताहै ॥

अथिर ध्याय पर्याय भोग से होय उदासी ।
नित्य निरंजन ज्योति आत्मा घट में भासी ॥
सुत दारादि बुलाय सर्व से मोह निवारा ।
त्याग नग्र धन धाम बास बन बीच विचारा ॥ १ ॥
भूषण वशन उतार नग्न हो आत्म चीन्हा ।

गुरु तटदिक्षा धार शीश कच लुंच जु कीना ॥
त्रिस थावरकाघात त्याग मन बचतनलीना ।
झूठ बचनपरिहार गहें नहींजल बिनदीना ॥ २ ॥

पर्याय जो देह वा अवस्था का पटलना सो चंचल है स्थिर नहीं है ऐसा विचार कर संसार भोग से विरक्त होवें । और सदा अविनाशी कालिमा रहित ज्योति सरूप आत्मा का हृदय में प्रकाशरूप अनुभव हुआ । तब पुत्र स्त्री आदि कुटुम्बियों को बुलाय शुभ शिक्षा दे सबसे ममत्त्व दूर किया । और घर नगर धन धान्यादि त्याग बनके मध्य रहना विचारा ॥ १ ॥ समस्त भूषण वस्त्र उतार कर नग्न हो गुरु के निकट दिक्षाली शिरके केश लुंचकर आत्म ध्यान करने लगे । समस्त स्थावर जंगम जीवों की हिंसा का त्याग मन वचन शरीर से किया । और मिथ्या भाषण व अदत्त दान का त्याग किया विना दिये जल मात्र भी न लेते भये ॥ २ ॥

चेतन्यजड़त्रियभोगतजोभवभव दुःखकारा ।
अहि कंचुकी जों तजत चित्तसे परिग्रहडारा ॥
गुप्त पालने काज कपट मन बच तन नाहीं ।
पांचोसमिति सम्हाल परीषह सहिहैं आहीं ॥ ३ ॥
छोड़ सकल जगजाल आपकर आप आपमें ।
अपने हितको आप किया है शुद्ध जाप में ॥
ऐसी निश्चल काय ध्यान में मुनिजन केरी ।
मानो पत्थर रची किधों चित्राम उकेरी ॥ ४ ॥

चेतन्य स्त्री और त्रियों के जड़ मूर्त्ति चित्रामादि तिन सबका भोगना जन्म २ में कष्टकारी जान छोड़ा । जैसे सर्प कांचली कोनिर्मोह छोड़ देता है तैसे परिग्रह से निर्ममत्व होत्यागकिया । और मनो गुप्तिपालने के लिये मन से छल कपट का

त्याग किया। बचन गुप्ति पालने को सरल और सत्य बचन बोलते भये । काय गुप्ति पालनेको काय की खोटी चेष्टा का त्याग किया । और ईर्या समिति, भाषा समिति, ईषणा समिति, आदान निक्षेपणा समिति और प्रति स्थापना समिति को सम्हार ते भये । और बाईस प्रकार कष्ट शारीरक मानसिक नर पशु देव कृत सर्व प्रकार सहते भये ॥ ३ ॥ और संसार जालमें फँसाने वाली सर्वबिडम्बना-ओं को त्याग कर अपने स्वरूप में लीन हुये । तिन नें अपनी भलाईके लिये अपने स्वरूप का ध्यान करना निश्चय किया । ऐसे निश्चल शरीर को कर मुनिराज अडोल ध्यान लगाते भये। सो मानो पाषाणकी मूर्ति या चित्राम के रचेहुएहैं ४ ॥

चारि घातिया घाति ज्ञानमें लोक निहारा ॥
दे निज मतिउपदेश भव्यों कोदुःखसे टारा ।
बहुरिअघातिया तोड़समय में शिवपदपाया ॥
अलखअखंडितज्योति शुद्धचेतनि ठहराया ॥ ५ ॥
काल अनंतानन्त जैसे के तैसे रहि हैं ।
अविनाशीअविकारअचलअनुपमसुखलहिहैं॥
ऐसी भावना भाय ऐसे जो कार्य कर हैं ।
सो ऐसे ही होंय दुष्ट कर्मों को हर हैं ॥ ६ ॥

चार घातिया (ज्ञानावरण १ दर्शनावरण २ मोहनी ३ अन्तराय ४) जो आत्मा के गुण ज्ञान दर्शन श्रद्धाण सुख वीर्य को घातक थे तिन को नाश कर सर्वज्ञ पद पाय समस्त लोकालोक को देखते भये । और अपने ज्ञान से उपदेश कर भव्य जीवों को सन्सार समुद्र से तारा ॥ अघातिया ४ (वेदनी १ आयु २ नाम ३ गोत्र ४) कर्मों को नाश कर एक समय में सिद्ध हुए । तहां सामान्य ज्ञानियों को नेत्रों से नहीं दृष्टि आते हैं । नजिन के ज्ञान स्वरूप का खंड होसकता है। ऐसे निर्मल आत्म ज्योतिको प्राप्ति हुए ॥५॥ तहांसदा अनन्तानन्त काल जैसे हैं तैसेहीं रहेंगे । तिनका रूपान्तर न होगा ॥ तहां न जिनके आत्म स्वरूप का नाश होगा नविकार (अदल बदल) होगा निश्चल उपमा रहित सुख पावेंगे ॥

अन्य भव्य जीवभी जोइसी प्रकारकी भावना राख ऐसेही कार्य करैं गे । सोभी दुष्ट कर्मोंका नाश कर ऐसेही पदको पावेंगे ॥ ६ ॥

जिनके उरविश्वास बचनजिन शासन नाहीं ।
ते भोगातुर होय सहैं दुःख नर्कों माहीं ॥
सुख दुःख पूर्व विपाक अरे मत कम्पे जीया ।
कठिन २ से मित्र जन्म मानुष का लीया ॥ ७ ॥
ताहि वृथा मत खोय जोय आपा पर भाई ।
गयें न मिलती फेर समुद्र में डूबी राई ॥
भला नर्क का बास सहे जो सम्यक पाता ।
बुरे बने जो देव नृपति मिथ्या मद माता ॥ ८ ॥

जिन जीवों के हृदय में भगवान के बचनों का श्रद्धान नहीं है सो भोगों में मग्न हो खोटा कर्म बन्धकर नर्कों में दुःख भोगते हैं ॥ हे जीव संसार में दुःख वा सुख सर्व कर्म के उदय अनुसार होता है ॥ इससे डरेमत जो उदय में आया है उसे सहन कर । हे प्यारे बड़े २ प्रयत्नों से मनुष्य जन्म पाया है ॥ ७ ॥ इसे व्यर्थ मत खोवे निजपर आत्म जड़ की पहिचान कर । यह नर जन्म फिर मिलना दुर्लभ है जैसे समुद्र के भीतर डूबी राई मिलना दुर्लभ होती है ॥ सम्यक्त्व सहित नर्कवास तो भला है । परन्तु सम्यक्त्व रहित मिथ्या दृष्टी का स्वर्गवास वा नर जन्मका राज्य भला नहीं है ॥ ८ ॥

ना खर्चें धन खोय नहीं काहू से लरना ।
नहीं दीनता होय नहीं घर के परिहरना ॥
सम्यक्सहजस्वभाव आपकाअनुभवकरना ।
या विन जप तप व्यर्थ कष्टके माहीं परना ॥ ९ ॥
कोटि बात की बात अरे बुधजन उरधरना ।

मनवचतनशुचिहोय गहोजिनवृषकाशरणा ॥
ठारहै सौ पंचास अधिक नव सम्बत जानो।
तीज शुक्ल वैशाख ढाल षट शुभ उपजानो ॥ १० ॥

सम्यक्त्व न तो लक्ष्मी देने से मिलता है ॥ न किसी से लड़ भिड़के मिलता है। न दीनता दिखलाने से मिलता है। न घर छोड़के वनवास करने से मिलता है। सम्यक्त्व तो स्वतः। आत्म अनात्म का अनुभव कर दृढ़ श्रद्धाण से होताहै ॥ इसके विना समस्त जप तपकर कष्ट सहना व्यर्थ है ॥ ६ ॥ इससे करोड़ बातकी मुख्य एक बात है बुधजनो यह हृदय में धारण करो कि मन बचन काय की कुटिलता छोड़ शुद्धता से जिन धर्म का शरण पकड़ो यही बुधजन काव्य कर्त्ता का आदेश है ॥ वैशाख शुक्ल अक्षय तीज सम्वत् १८५६ में यह छहढाला समाप्त हुआ तिसको अश्वनि कृष्ण नवमी गुरुवार सम्वत् १९५३ में मुन्शी नाथूराम लमेचू करहल निवासी ने हाल स्थान कटनी मुड़वारा में वचन का टीका किया कि जिसको अल्प बुद्धिवाले भी समझ सकें ॥ और सम्वत १९५४में छपाया ॥
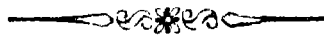
आपलोगों का कृपा पात्र

मुन्शी नाथूराम

बुकसेलर कटनी मुड़वारा

इश्तिहार (सूचना)

हमारी दूकान में नीचे लिखी जैनपुस्तकें तैयार हैं जिन भाइयों को चाहना होवे वे वैल्यू पेविल वा टिकट मनीआर्डर भेज कर मँगालेवें ॥

१) रत्न करंड श्रावकाचार गत्ता बैठन सहित

२) मोक्षमार्ग प्रकाश गत्ता बैठन सहित

३) आत्मानुशासन सटीक गत्ता बैठन सहित

१।) पार्श्वपुराण भाषा

१) क्रिया कोष बंबई छापा

१) तत्वार्थ सूत्र सटीक

।।।) सम्यग्ज्ञानदीपकाबंबई छापापुष्टाक्षर

।।।) सज्जनचित्त वल्लभ पांचप्रकार टीका सहित

।।=) भूधर जैन शतक सटीक

।।=) पूजन विधान संग्रह भाषा १३ पूजन ३ विधान और शांति विन्ती विसर्जन सब हैं

।।) जैन द्वितीय पुस्तक जिसमें कई शास्त्रों का कथन संग्रह है

।।) चौबीस ठाना सटीक

।≡) ज्ञानानन्द रत्नाकर छापा बंबई द्वितीय भाग

।=) जैन व्रत कथा नवरत्न

।-) छः ढाला सटीक दौलत राम

।-) सूक्त मुक्तावली भाषा

।) द्रव्य संग्रह भाषा टीका

।) शील कथा

।) दर्शन कथा

।) जैन प्रथम पुस्तक

=)।। ज्ञानानन्द रत्नाकर प्र० भाग

=)।। जैन बद्री की यात्रा

≡) तत्त्वार्थ सूत्र मूल मोटे

=) मिथ्या प्रचार

≡) छहढाला बुधजनकृत सटीक

=)।। छहढाला द्यानतदास कृत सटीक

=) हनुमान चरित्र

-)।। पंच कल्याण मंगल

-)।। बाईस परीषह योगीरासा

-)।। आलोचना पाठ सटीक

-)।। कल्याण मंदिर भाषा

-)।। भक्तामर भाषा देवबन्द

-)। जैन भजन संग्रह

-) जिन गुण मुक्तावली

-) आलोचना पाठ मूल

-) मुनिराज का बारह मासा

-) राजुल का बारह मासा

-) चार पाठ संग्रह

)।।। भक्तामर मूल

)।।। विषापहार भाषा

)।।। सामायक भाषा

)॥। दश आरती	)॥ सुगुरु शतक
)॥। प्रश्नोत्तर बारहमासा	)॥ नेम व्याह
)॥। सीता का बारहमासा	)॥ शाखोचार
)॥। परमार्थ जकड़ी	)॥ शिखिर माहात्म्य
)॥ एकी भाव भाषा	)। निर्वाणकांड भाषा
)॥ इष्ट छत्तीसी	)। जैन बालकों के गुटका
)॥ अठाई रासा	

—:०:—

इनके सिवाय अन्य २ पुस्तकें भी क्रशमः छपेंगीं और सब भाइयों को लाभ पहुंचावेंगी जो भाई एक रुपये तक वा उसके भीतर मगावें वे टिकट भेजकर मगावें टिकट सिर्फ न्यौछावर की भेजें महसूल हम देलेवेंगे उन्हें पुस्तकें पेड मिलेंगी और वेल्यूपेबिल मँगावेंगे तो फीस मनीआर्डर देना होगी टिकट हम लगा देवेंगे और २) से ५) तक कुल खर्च माफ रहेगा इसके आगे जैसी २ अधिक मगावेंगे वैसाही न्यूनाधिक कमशिन भी पावेंगे यहां तक कि १००) की लेनेवालों को दूनी मिलेंगी दानवालों को व जैन पाठशाला वालों को २५) तक की मगाने से दूनी मिलेंगी ॥

आपलोगों का शुभचिंतक

मुन्शी नाथूराम लमेचू

करहलनिवासी वर्तमानदूकान कटनीमुड़वारा